प्राचीन राजस्थान के संस्कृत अभिलेखों में सांस्कृतिक जीवन

(प्रारम्भ से लेकर 12वीं शताब्दी तक)

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

की

पीएच.डी.(संस्कृत)

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

कला संकाय

शोधकर्त्री

श्रीमती रेखा देवी शर्मा

पंजीयन क्रमाङ्क (RS/3219/19)

शोध पर्यवेक्षक

डॉ. हरकेश बैरवा

आचार्य

संस्कृत विभाग

राजकीय कला महाविद्यालय,कोटा (राज.)

कोटा विश्वविद्यालय,कोटा

(राजस्थान) 324005

भारत

जनवरी, 2025

शोध निदेशालय
कोटा विश्वविद्यालय
एम.बी.एस. मार्ग, कोटा (राजस्थान)–३२४००५
फोननम्बर : ०७४४–२४७१०३७

Directorate of Research
University of Kota
MBS Marg, KOTA (Rajasthan)-324005
Phone No.: 0744-2471037

CERTIFICATE

I feel great pleasure in certifying that the Ph.D. thesis entitled **" प्राचीन राजस्थान के संस्कृत अभिलेखों में सांस्कृतिक जीवन (प्रारम्भ से लेकर 12वीं शताब्दी तक)"**submitted by **Mrs. Rekha Devi Sharma, Registration No. (RS/3219/19)** to the University of Kota in the partial fulfillment of the requirements for the award of the degree of Doctor of Philosophy is based on the research work carried outunder my guidance.

She has completed the following requirements as per UGC Regulations and research ordinance of the University:

(a) Satisfactory Completion of the Ph.D. Course Work.
(b) Submission of Half Yearly Progress Reports.
(c) Fulfilment of residential requirement of the Research Centre (*Minimum 200 Days*).
(d) Presentation of research work before the Departmental Committee.
(e) Publication ofat leastone research paper in the referred research journal of national and international repute.
(f) Two paper presentations in the Conferences/ Seminars.

I recommend the submission of the Ph.D. thesis and certify that it is fit to be evaluated by the examiners.

Date:
Place:

Dr.Harkesh Bairwa
Research Supervisor

शोध निदेशालय
कोटा विश्वविद्यालय
एम.बी.एस. मार्ग, कोटा (राजस्थान)–३२४००५
फोन नम्बर : ०७४४–२४७१०३७

Directorate of Research
University of Kota
MBS Marg, KOTA (Rajasthan)-324005
Phone No.: 0744-2471037

DECLARATION

I **Mrs. Rekha Devi Sharma**, hereby certify that the research work presented in my Ph.D.thesisentitled**"प्राचीन राजस्थान के संस्कृत अभिलेखों में सांस्कृतिक जीवन (प्रारम्भ से लेकर 12वीं शताब्दी तक) "**which is carried out by me under the supervision of supervisor **Dr. Harkesh Bairwa, Professor, Dept. of Sanskrit, Govt. Arts College, Kota, Rajasthan** and submitted in the partial fulfillment of the requirement for the award of the degree of **Doctor of Philosophy** of the University of Kota, represents my ideas in my own words and where others' ideas or words have been included in this thesis, I have adequately cited and referenced the original sources.

The work presented in this thesis has not been submitted elsewhere for the award of any degree or diploma from any other institution or university in India or abroad. I declare that I have adhered to all the principles of academic honesty and integrity and have not misrepresented or fabricated or falsified any idea/data/fact/source in my submission.

I understand that any violation of the above will cause for disciplinary action by the University and can also evoke penal action from the sources which have thus not been properly cited or from whom proper permission has not been taken when needed.

Date: (**Mrs. Rekha Devi Sharma**)

Place: Research Supervisor

This is to certify that the above statement made by **Mrs. Rekha Devi Sharma (Registration Number RS/3219/19)** is correct to the best of my knowledge.

Date: **Dr.Harkesh Bairwa**

Place: Research Supervisor

शोध निदेशालय
कोटा विश्वविद्यालय
एम.बी.एस. मार्ग, कोटा (राजस्थान)–३२४००५
फोननम्बर : ०७४४–२४७१०३७

Directorate of Research
University of Kota
MBS Marg, KOTA (Rajasthan)-324005
Phone No.: 0744-2471037

Anti-Plagiarism Certificate

It is certified that the Ph.D. thesis entitled "**प्राचीन राजस्थान के संस्कृत अभिलेखों में सांस्कृतिक जीवन (प्रारम्भ से लेकर 12वीं शताब्दी तक)**"submitted by **Mrs.Rekha Devi Sharma** Registration No. **(RS/3219/19)** has been examined with the anti-plagiarism tool.

We undertake that:

a. The thesis has significant new work/knowledge as compared already published or are under consideration to be published elsewhere. No sentence, equation, diagram, table, paragraph or section has been copied verbatim from previous work unless it is placed under quotation mark and duly referenced.
b. The work presented is original and own work of the author *i.e.* there is no plagiarism. No ideas, processes, results or words of others have beenpresented as the author's own work
c. There is no fabrication of data or results which have been compiled and analyzed.
d. There is no falsification by manipulating research materials, equipment or processes, or changing or omitting data or results such that the research is not accurately represented in the research record.
e. The thesis has been checked by using **DrillBit** tool/software and found within the limits as per UGC plagiarism policy and instructions issued from time to time.

Report is also enclosed along with this Ph.D. thesis.

Date: **Mrs. Rekha Devi Sharma**

Place: Research Scholar

Date: **Dr.Harkesh Bairwa**

Place: Research Supervisor

DrillBit

The Report is Generated by DrillBit Plagiarism Detection Software

Selected Language Hindi

Submission Information

Author Name	श्रीमती रेखा देवी शर्मा
Title	प्राचीन राजस्थान के संस्कृत अभिलेखों में सांस्कृतिक जीवन (प्रारम्भ से लेकर 12वीं शताब्दी तक)
Paper/Submission ID	2240619
Submitted by	drannakaushik@uok.ac.in
Submission Date	2024-08-18 16:01:09
Document type	Thesis

Result Information

Similarity **7%**

A Unique QR Code use to View/Download/Share Pdf File

आभार

कोई भी शोध - कार्य हितचिन्तकों के मार्गदर्शन एवं सहयोग के अभाव में असंभव है। अतएव उनके प्रति आभार प्रदर्शन मैं अपना परम कर्तव्य समझती हूँ।

सर्वप्रथम मैं मेरे शोध पर्यवेक्षक डॉ. हरकेश बैरवा (आचार्य - संस्कृत, राजकीय कला महाविद्यालय ,कोटा) का आभार व्यक्त करती हूँ जिनके सरल एवं अबाध सहयोग से कार्य समय पर सम्पूर्ण हो सका । मैं हृदय से उनकी आभारी हूँ।

मैं परमादरणीय डॉ. सुरेन्द्रनाथ दुबे (पूर्व टैगोर आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग, राजस्थान जयपुर) को नमन करती हूँ जिनकी प्रेरणा एवं परामर्श से यह अध्ययन पूर्ण हो सका है । परम श्रद्धेय श्री जगदीश प्रसाद जी सिंहल (पूर्व कुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) के प्रति श्रद्धावनत हूँ जिन्होंने समय - समय पर मार्गदर्शन कर उत्साहवर्धन किया । मेरी परम मित्र डॉ. मंजू गुप्ता, (आचार्य - समाजशास्त्र, राजकीय कला महाविद्यालय कोटा, राजस्थान) के शब्दातीत सहयोग के प्रति हृदयतल से आभारी हूँ जिन्होंने शोध केन्द्र पर विविध कार्यों को सहजता के साथ सम्पन्न करने में अविस्मरणीय सहयोग दिया । साथ ही डॉ. एम . एल . साहू (पूर्व परीक्षा नियंत्रक, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा) के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने विश्वविद्यालीय शोध अनुभाग सम्बन्धी कार्यों में सहयोग किया ।

मैं अपने पिता श्री माधोराम शर्मा के प्रति श्रद्धा भाव से नतमस्तक हूँ, जो बाल्यकाल से ही मेरे प्रेरणपुंज रहे तथा जिनका शुभाशीष मेरे जीवन का सम्बल है। मैं अपने पति डॉ. सतीश त्रिगुणायत, आचार्य - इतिहास के प्रति सहज श्रद्धा एवं प्रेम से स्फुरित हूँ। विषय चयन से लेकर पूर्णाहुति तक प्रतिपद उनका सहयोग, मार्गदर्शन एवं मानसिक सम्बल प्रस्तुत अध्ययन का आधार रहे हैं। मैं अपनी पुत्री द्वय डॉ. श्रुति एवं सृष्टि की भी ऋणी हूँ जिन्होंने स्वकार्य स्वयमेव संपादित कर अध्ययन हेतु मुझे अवकाश प्रदान किया । प्रिय सुमन एवं भूपेश जी का आभार जिनका समय समय पर सहयोग मिलता रहा । मेरे अन्य साथियों का भी तहे दिल से शुक्रिया जिनके समय -2 पर यथोचित परामर्श प्राप्त हुए एवं कार्य पूर्णाहूति को प्राप्त हुआ ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में मैंने राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर के केन्द्रीय पुस्तकालय, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् नई दिल्ली, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर, राधा कृष्णन पुस्तकालय जयपुर, हिन्दी साहित्य समिति भरतपुर, केन्द्रीय

पुस्तकालय, महारानी श्री जया महाविद्यालय भरतपुर, केन्द्रीय पुस्तकालय राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा आदि पुस्तकालयों में उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया है, एतदर्थ मैं संस्थानों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति आभार ज्ञापित करती हूँ। मैं उन विद्वानों के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ जिनके ग्रंथों का उपयोग मैंने प्रस्तुत अध्ययन को पूर्ण करने में किया है। ऐसे सभी विद्वानों के नाम मैंने संदर्भ ग्रंथ सूची में उल्लिखित किए हैं।

शोध-सार

किसी भी राष्ट्र अथवा संस्कृति के दिग्दर्शन का महत्वपूर्ण स्रोत उसका साहित्य होता है। भारतीय समाज एवं संस्कृति की परिकल्पना संस्कृत साहित्य के अभाव में असंभव है । फलतः संस्कृत भाषा को आदर तो दिया जाता है किन्तु व्यवहृत भाषा में उसे जीवन्त नहीं माना जाता है। प्राचीन भारतीय अभिलेखों में संस्कृत भाषा का प्रचुर प्रयोग न केवल इस मिथक को खण्डित करता है, अपितु यह दैनिक व्यवहार तथा राजकाज की भाषा थी उसका जीवन्त साक्ष्य भी है । प्राचीन भारतीय समाज एवं सांस्कृतिक जीवन के बोध हेतु संस्कृत अभिलेखों से महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है । शिलालेखों की वर्ण्य- विषय की स्पष्टता, समसामयिकता, भूतकाल की घटनाओं के विवरण की विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता तथा कालविषयक निश्चित अभिव्यक्ति के कारण प्राचीन साहित्य की अपेक्षा अभिलेख सांस्कृतिक जीवन के महत्वपूर्ण आधार हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से देखें तो आदर्श राष्ट्र और समाज की परिकल्पना प्रारम्भ से ही रही है, तदनुरूप उच्चकोटि के व्यक्तित्व निर्माण की कल्पना से भारतीय समाज में संस्कृति के आधायक तत्व यथा - धर्म, वर्णाश्रम, पुरुषार्थ चतुष्ट्य, दान - परोपकार, ऋण, यज्ञादि विधान, लोक कल्याणकारी शासन पद्धति, धर्मानुप्राणित व्यापार - वाणिज्य आदि की प्रमुखता प्रारम्भ से ही रही है। राजस्थान भी इसका अपवाद नहीं रहा है । राजस्थानियों की जीवन - शैली चिरन्तन संस्कृति की द्योतक है।

सांस्कृतिक जीवन के इस क्रमिक अध्ययन में जीवन मूल्य एवं आदर्श हमें अति प्राचीन अतीत से जुड़े हुए दर्शित होते हैं , किन्तु शोध की दृष्टि से यह क्षेत्र प्रायः अछूता ही रहा है। राजस्थान के संस्कृत अभिलेखों (प्रारंभ से 12 वीं शताब्दी) के संदर्भ में प्राचीन राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन को समझने का यह एक विनम्र प्रयास है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से वर्ण्य - विषय को नौ अध्यायों में वर्गीकृत किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सर्वप्रथम विषय - प्रवेश के अन्तर्गत प्रथम अध्याय में अभिलेखों का परिचय एवं महत्व प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में राजस्थान के विभिन्न अंचलों से प्राप्त लगभग पचपन मुख्य अभिलेखों का परिचय प्रस्तुत करते हुए उनका प्राप्ति स्थल, अन्वेषणकर्त्ता, प्रयुक्त भाषा एवं लिपि को दर्शाने का प्रयास रहा है । साथ ही प्राचीन राजस्थान में भाषा एवं लिपि के विकास को दर्शाते हुए लेखन सामग्री के रूप में प्रयुक्त की जाने वाली सामग्री यथा - ताड़पत्र , भोजपत्र, कागज,कपड़ा, ताम्रपत्र, काष्ठ एवं पाषाण का

वर्णन किया गया है । अभिलेखों में प्रयुक्त संवतों एवं शिलालेखों के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं प्रशासनिक महत्व को रेखांकित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में संस्कृति का अर्थ स्पष्ट करते हुए भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को अभिलेखीय आधार पर रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत सामाजिक संरचना एवं जाति व्यवस्था का विशद अध्ययन किया गया है। अभिलेखों से विदित होता है कि वर्णव्यवस्था कर्मज न होकर जन्मज थी । कायस्थ , आभीर , स्वर्णकार एवं अन्त्यजादि का उल्लेख भी अभिलेखों में प्राप्त होता है । यद्यपि वर्णव्यवस्था में इन जातियों का स्थान निश्चित नहीं था तथापि समाज में इनके कार्य का महत्व एवं स्थान की स्वीकारोक्ति अवश्य थी । शूद्र अस्पृश्य नहीं थे।

चतुर्थ अध्याय में सामाजिक संस्थाऐं - परिवार, आश्रम व्यवस्था, ऋण, महायज्ञ एवं संस्कार आदि का अध्ययन किया गया है। परिवार पितृसत्तात्मक थे । आश्रम व्यवस्था की पालना के कतिपय प्रमाण अभिलेखों में उपलब्ध हैं , किन्तु आयु के अनुसार इनका प्रचलन नहीं था। धर्मशास्त्रों में वर्णित तीन ऋणों, पंचमहायज्ञों एवं कतिपय संस्कारों का उल्लेख ही हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में मिलता है ।

पंचम् अध्याय के अन्तर्गत स्त्रियों की स्थिति का अध्ययन किया गया है । अध्याय में अभिलेखों के आधार पर पुत्री के रूप में, पत्नी के रूप में एवं माता के रूप में स्त्री की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। साथ ही विवाह, स्त्री - शिक्षा, तथा स्त्रियों द्वारा किए गए लोकोपकारी कार्यों का भी वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त विधवा दाह (सती) तथा मर्यादेतर नारी के रूप में गणिकाओं के उल्लेख भी अभिलेखों में प्राप्त होते हैं ।

षष्ठम् अध्याय के अंतर्गत शिक्षा, खान पान, व्रत , उपवास, दान एवं आमोद - प्रमोद के साधनों का वर्णन किया गया है ।

सप्तम् अध्याय में कृषि, पशुपालन, व्यापार - वाणिज्य एवं श्रेणी बलों के आधार पर आर्थिक संरचना को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अभिलेखों के अवलोकन से स्पष्टतः विदित होता है कि भूमिदान और आर्थिक जीवन के अन्य पक्ष इनके मुख्य विषय रहे हैं । यही कारण है कि किसी भी प्रदेश की आर्थिक स्थिति का परिज्ञान अभिलेखों से हो जाता है। आभिलेखिक सामग्री का अध्ययन विविध अनुभागों यथा - भू - स्वामित्व , नगर और ग्राम ,

मुख्य धंधे , सिंचाई व्यवस्था , व्यापार - श्रेणियाँ , नाप - तौल , सिक्के आदि के आधार पर किया गया है।

अष्टम् अध्याय में तत्कालीन धार्मिक संरचना को स्पष्ट करने का प्रयास रहा है। हिन्दू धर्म के वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर, जैन एवं बौद्ध धर्म भी समाज में पर्याप्त लोकप्रिय थे। अभिलेखों में धार्मिक सहिष्णुता के उच्चादर्शों का उल्लेख भी मिलता है।

नवम् अध्याय के अंतर्गत प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन किया गया है । अभिलेखीय सामग्री के आधार पर राजा, प्रशासन, न्याय - व्यवस्था एवं लोकोपकारी कार्यों के रूप में प्रशासनिक व्यवस्था को स्पष्ट करने का प्रयास रहा है।

अन्त में निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

अनुक्रमणिका

अध्याय	विवरण	पृ. सं.
	प्रमाण – पत्र	i
	घोषणा	ii
	साहित्यिक चोरी विरोधी प्रमाण-पत्र	iii-iv
	आभार	v-vi
	शोध-सार	vii-ix
	अनुक्रमणिका	x-xi
	प्लेट्स की सूची	xii
प्रथम अध्याय	संस्कृत अभिलेखों का परिचय एवं महत्व	1-47
द्वितीय अध्याय	संस्कृत अभिलेखों में उपलब्ध सांस्कृतिक जीवन की अवधारणा	48-74
तृतीय अध्याय	सामाजिक संरचना - वर्ण एवं जातीय व्यवस्था	75-110
चतुर्थ अध्याय	सामाजिक संस्थाऐं -परिवार, आश्रम व्यवस्था, ऋण, महायज्ञ एवं संस्कार	111-131
पंचम् अध्याय	स्त्रियों का स्थान	132-151
षष्टम् अध्याय	शिक्षा, खान पान, व्रत उपवास, दान एवं आमोद-प्रमोद	152-170
सप्तम् अध्याय	आर्थिक संरचना - कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं वाणिज्य	171-211
अष्टम् अध्याय	धार्मिक संरचना - वैष्णव धर्म, शैव धर्म, शाक्त धर्म, सौरधर्म, जैन एवं बौद्ध धर्म	212-235
नवम् अध्याय	राजा, प्रशासन, न्याय व्यवस्था, लोक-कल्याणकारी कार्य	236-268

उपसंहार	**269-284**
सारांश	**285-292**
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची	**293-308**
प्लेट्स	**309-325**
शोध-पत्र	**i-xii**
सेमिनार में प्रकाशित संक्षिप्तसार एवं प्रमाण-पत्र	**xii-xxvi**
सेमिनार प्रमाण-पत्र	**xxvii-xxviii**

प्लेट्स की सूची

नगरी का हाथीबाड़ा अभिलेख (ई०पू० द्वितीय-प्रथम शताब्दी)

बर्नाला यूप लेख, कृत संवत् 284

चित्तौड़गढ़ का खण्ड लेख 6वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध

छोटी सादड़ी शिलालेख-सं. 547

सकराइ शिलालेख- वि.सं. 699

दधिमाता शिलालेख- गुप्त सं. 289

सामोली अभिलेख- वि. सं. 703

कुण्डेश्वर मन्दिर शिलालेख - वि.सं. 718

खण्डेला अभिलेख-हर्ष सं. 201

आहाड़ शिलालेख हर्ष सं. 259

बुचकला अभिलेख - वि. सं. 892

खण्डित प्रतिहार अभिलेख लगभग 9वीं शताब्दी

चाटसू अभिलेख

प्रतापगढ अभिलेख- वि.सं. 1003

ऊषा मन्दिर अभिलेख - वि.सं. 1012

हर्ष शिलालेख- वि.सं. 1030

मांदकिला ताल अभिलेख- वि.सं. 1043

अध्याय - प्रथम

संस्कृत अभिलेखों का परिचय एवं महत्व

अध्याय - प्रथम

संस्कृत अभिलेखों का परिचय एवं महत्व

राजस्थान में अभिलेख उत्कीर्ण कराने की परंपरा पर्याप्त प्राचीन रही है । राजस्थान में ये अभिलेख सहस्रों की संख्या में उपलब्ध हुए हैं तथापि अभी भी अनेक अभिलेख भूगर्भ अथवा खण्डहरों में दबे हो सकते हैं। ये अभिलेख बहुधा शिलाओं , प्रस्तर पट्टों , भवनों या गुहाओं की दीवारों , मन्दिरों स्तूपों , स्तम्भों , मठों , तालाबों ,सरोवरों , बावडियों , कूपों तथा खेतों के मध्य स्थापित शिलाओं पर उत्कीर्ण मिलते हैं। कई अभिलेख बीच रास्ते में स्थित होने के कारण अथवा खुले वातावरण में होने से नष्ट भी हो गए हैं। राजस्थान में प्राचीनतम आभिलेखिक प्रमाण कालीबंगा से प्राप्त हुए हैं ।यहां से प्राप्त कतिपय मुद्राओं पर जो लेख उत्कीर्ण हैं, उनके अक्षर हड़प्पा सभ्यता की लिपि के समान हैं । पुरालिपि शास्त्र की दृष्टि से इन लिपिबद्ध मुद्राओं का महत्व इस रूप में स्पष्ट है कि इनके आधार पर सेंधव लिपि की दिशा दाएं से बाएं निर्धारित की गई है [1] अजमेर के निकट बड़ली से प्राप्त अभिलेख को भी पर्याप्त प्राचीन (लगभग पूर्व मौर्य युगीन) माना जाता है । [2] अशोक के ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी के दो लेख बैराट से प्राप्त हुए हैं । [3] इनसे उसकी बौद्ध धर्म में रुचि रखने तथा इसे राजकीय सहयोग देने की पुष्टि होती है । बड़ली तथा बैराट से प्राप्त उपरोक्त लेख प्राकृत भाषा में हैं । इनके बाद संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण ईसा पूर्व द्वितीय - प्रथम शताब्दी का घोसुण्डी - नगरी (प्राचीन मध्यमिका) से प्राप्त लेख महत्वपूर्ण है । [4] इसके बाद राजस्थान के विभिन्न अंचलों से संस्कृत अभिलेखों की एक लंबी श्रृंखला प्राप्त होती है । कतिपय मुख्य संस्कृत अभिलेखों का परिचय प्रस्तुत है-

1. घोसुण्डी (नगरी) अभिलेख

राजस्थान से प्राप्त शिलालेखों में सर्वप्रथम चित्तौड़ से लगभग 12 किलोमीटर उत्तर में स्थित नगरी (प्राचीन मध्यमिका) से प्राप्त शिलालेख विशेष महत्व का है। लेख में सर्वतात नामक एक राजा द्वारा भगवान संकर्षण और वासुदेव की पूजा के निमित्त पूजा शिला एवं प्राकार निर्माण करवाने का उल्लेख है।

इस अभिलेख में उल्लिखित गाजायन एवं सर्वतात शब्द के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। श्री जोगेन्द्र घोष का विचार है कि 'सर्वतात' कण्व वंश का ब्राह्मण था । जोहान्सन उसे ग्रीक या

आंध्रवंशीय स्वीकार करते हैं । कुछ विद्वान् उसे यूनानी मानते हैं । इस मान्यता का आधार मध्यमिका पर यूनानी आक्रमण का होना (पाणिनी द्वारा उल्लिखित) माना जाता है ।[5]

अभिलेख संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि (द्वितीय -प्रथम शती ई. पू.) में उत्कीर्ण है । लेख में किसी तिथि का उल्लेख नहीं है किन्तु इसे ई. पूर्व द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा ई.पू. प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ का माना जा सकता है।

चित्तौड़ से लगभग12 किलोमीटर की दूरी पर स्थित नगरी की खुदाई से कृत संवत् 481 का एक लेख[6] डॉ. डी.आर.भण्डारकर को मिला था जिसकी लिपि गुप्तकालीन ब्राह्मी तथा भाषा संस्कृत है। लेख घिस जाने से अस्पष्ट है । वर्तमान में यह अजमेर संग्रहालय में सुरक्षित है।

2. नान्दसा यूप-लेख [7]

कृत सं. 282 (225 ई.) का यह यूप लेख पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा को भीलवाड़ा से लगभग 54 किलोमीटर की दूरी पर नान्दसा ग्राम में मिला था। यह यूप-लेख एक तालाब में स्थित यूप-स्तम्भ पर दोनों ओर उत्कीर्ण हैं। प्रथम लेख में 6 पंक्तियां ऊपर से नीचे और 12 पंक्तियां उसके चारों ओर उत्कीर्ण हैं। जबकि द्वितीय अभिलेख में 18 पंक्तियां हैं। अन्तिम पंक्ति घिस जाने से अपठनीय है लेकिन दोनों अभिलेखों की सहायता से इस यूप-स्तम्भ लेख का विषय जाना जा सकता है। यूप-लेख की भाषा संस्कृत और लिपि ब्राह्मी है। यह गद्यात्मक शैली में अंकित है।

धार्मिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से यह लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसमें 61 दिन तक चलने वाले 'एक षष्टिरात्रसत्र' का उल्लेख है। इस लेख में मालव जाति (निवास स्थल अजमेर, टोंक व मेवाड़) का नाम मिलता है। मालव नेता श्री सोम 'गणपति' था और वह इस पद को वंशानुगत रूप से सुशोभित कर रहा था । इस लेख में श्री (?) सोम की किसी भी राजकीय उपाधि का उल्लेख नहीं हुआ है।

3. बर्नाला यूप-लेख [8]

दौसा जिले में लालसोट के समीप बर्नाला नामक स्थान से दो यूप लेख प्राप्त हुए । बर्नाला से प्राप्त यूप-लेखों पर क्रमशः कृत सम्वत् 284 और 335 अंकित है । दोनों यूप-लेख ब्राह्मी लिपि और संस्कृत भाषा में हैं। इन्हें खड़ी पंक्तियों में उत्कीर्ण किया गया है। इसलिये उन्हें ऊपर से

नीचे की ओर पढ़ना पड़ता है ।कृत सम्वत् 335 (278 ई.) के लेख में भगवान विष्णु की वन्दना और यज्ञ कर्ता द्वारा 90 गायें दान देने का विवरण हैं । विवेच्य लेख में विष्णु को प्रसन्न करने वाले गर्गत्रिरात्र सत्र का उल्लेख है, जो वैदिक और वैष्णव धर्म के समन्वय का प्रतीक है ।

अब ये दोनों यूप लेख आमेर (जयपुर) संग्रहालय में सुरक्षित रखे हुए हैं।

4. बड़वा पाषाण यूप-लेख [9]

कृत सम्वत् 295 (238 ई.) बड़वा कोटा जिला की मांगरोल तहसील में स्थित है। यहाँ से पूर्व की ओर लगभग डेढ़ किलोमीटर की दूरी पर काम तोरण (थम्ब तोरण) नामक स्थल से चार यूप-स्तम्भ पाये गये हैं। उनमें से तीन सही और चतुर्थ घिसा हुआ था। यूप-लेखों पर खड़ी अथवा आड़ी पंक्तियों में लेख उत्कीर्ण हैं । इनकी भाषा प्राकृत प्रभावित संस्कृत और लिपि ब्राह्मी है । ये यूपलेख तत्कालीन समाज में वैदिक कालीन यज्ञ परम्परा के प्रचलन का बोध कराते हैं। बड़वा के यूप-लेखों में मौखरी सेनापति बल के पुत्रों द्वारा त्रिरात्र यज्ञ करने और उनके द्वारा 1000 गायें दान देने का विषय अंकित किया गया है।

सेनापति बल सम्भवतः मालवा के शक क्षत्रप विजयदामा का सामन्त और मण्डलिक रहा होगा । भारतीय इतिहास में इनका विशिष्ट महत्त्व है, क्योंकि इनसे मोखरियों के राजस्थान में निवास और उनके धार्मिक विश्वासों का परिचय मिलता है।

5. बिचपुरिया का यूप-लेख [10]

कृत सम्वत् 321 (264 ई.) का यह यूप लेख उनियारा (टोंक जिला) के बिचपुरिया के मन्दिर से प्राप्त हुआ । प्रस्तुत लेख प्राकृत प्रभावित संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में है ।

6. भट्टि सोम सोगी का नान्दसा यूप-लेख[11]

(तिथि विहीन,लगभग तीसरी शती ई.) नान्दसा उदयपुर जिला के सराड़ा तहसील में स्थित है । यहाँ से श्री (?) सोम का यूप-स्तम्भ लेख मिला था। वहाँ से कुछ कदमों की दूरी पर भट्टि सोम सोगी का यूप-लेख प्राप्त हुआ। यह लेख तिथि विहीन, संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में है। इसकी संस्कृत भाषा प्राकृत से पूर्णतया प्रभावित है ।

7. विजयगढ़ का यौधेय अभिलेख[12]

लगभग 300 ई. का यह अभिलेख भरतपुर जिला के बयाना कस्बे से लगभग तीन किलोमीटर दक्षिण- पश्चिम में स्थित विजयगढ दुर्ग की दीवार पर उत्कीर्ण किया हुआ था । इस अभिलेख की केवल दो पंक्तियां ही उपलब्ध हैं जिससे यौधेय गण के प्रमुख की उपाधि का ज्ञान प्राप्त होता है । अभिलेख संस्कृत भाषा श्रौर ब्राह्मी लिपि में है । इसे तृतीय शती ई. में रखा जा सकता है ।

8. विजयगढ़ यूप लेख

(मालव-विक्रम सम्वत् 428 = ई. सन् 371)यह स्तम्भ लेख भरतपुर के निकट बयाना कस्बे से लगभग तीन किलोमीटर की दूरी पर स्थित विजयगढ़ दुर्ग की दक्षिणी दीवार के निकट प्रस्तर स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इस स्तम्भ लेख की भाषा संस्कृत (पूर्णतया गद्य) है और इसके अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला से सम्बंधित हैं।। लेख में वरिक कुल के विष्णुवर्धन द्वारा पुण्डरीक यज्ञ करवाए जाने का उल्लेख है। इसका नायक वरिक विष्णुवर्धन सम्भवतः प्रारम्भिक गुप्त शासक समुद्रगुप्त का सामन्त था।[13]

9. विश्ववर्मा का गंगधार शिलालेख [14]

झालावाड़ जिले के गंगधार स्थल से मालव सं. 480 का यह लेख मिला है। जिसकी भाषा संस्कृत तथा लिपि बाह्मी है । इस लेख से विदित होता है कि विश्ववर्मा के सचिव मयूराक्षक ने यहां एक विष्णु मंदिर का निर्माण करवाया था । उसने तांत्रिक शैली का एक मातृगृह और एक सोपानयुक्त कुआ भी बनवाया था।

10. चारचौमा शिव मन्दिर अभिलेख

कोटा से लगभग 25 किलोमीटर पर स्थित चारचौमा ग्राम के शिव मन्दिर के बाहर तथा अन्दर की ओर दो अभिलेख उत्कीर्ण हैं ।लगभग सं. 557 के इन अभिलेखों की लिपि गुप्तकालीन तथा भाषा संस्कृत है। प्रथम अभिलेख में विविध औषधियों एवं मौलसिरी का तथा द्वितीय में शिव मन्दिर का उल्लेख है । साहित्यिक दृष्टि से दोनों शिलाभिलेख महत्त्वपूर्ण हैं।[15]

11. सामोली अभिलेख

सं. 703 का यह अभिलेख सामोली ग्राम (मेवाड़) से किसी गरासिया के मकान की नींव खोदते समय मिला था जिसे श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने खरीदकर अजमेर संग्रहालय को भेंट किया। इस लेख को सर्वप्रथम डी. आर. भण्डारकर ने प्रकाशित किया। तत्पश्चात् पं. रामकरण आसोपा एवं श्री आर. आर. हलदर ने इस पर टिप्पणियां प्रकाशित की ।[16] इसमें कुल 12 पंक्तियां हैं। दस से बारह तक की पंक्तियों के कुछ अक्षर टूट गये हैं। अभिलेख कुटिल लिपि और संस्कृत भाषा में हैं। गुहिलवंश का उल्लेख करने वाला यह प्राचीनतम अभिलेख है। मेवाड़ के जनजीवन की जानकारी का स्रोत होने के कारण इस अभिलेख का महत्त्व और अधिक बढ गया है।

12. कुण्डेश्वर मंदिर का शिलालेख[17]

उदयपुर जिला के गांव नागदा में स्थित कुण्डेश्वर मंदिर से सं. 718 यह शिलालेख मिला , जो अब उदयपुर के राजकीय संग्रहालय में संरक्षित है। इस लेख में श्लोक- बद्ध 12 पंक्तियां हैं । इसकी भाषा संस्कृत है तथा यह सुस्पष्ट कुटिल लिपि में अंकित है । इस लेख से ज्ञात होता है कि गुहिल नरेश अपराजित ने वराहसिंह को परास्त कर उसे अपने अधीन किया तत्पश्चात उसे अपना सेनापति बनाया। उसकी धर्मपत्नी ने यह विष्णु मंदिर बनवाकर सं. 718 की मार्गशीर्ष सुदि 5 (मंगलवार, 2 नवम्बर सन् 661) को प्रतिष्ठा करवाई ।

13. मण्डोर बावड़ी का लेख[18]

जोधपुर नगर से लगभग 9 किलोमीटर दूर स्थित मण्डोर रेलवे स्टेशन के ठीक सामने पहाड़ी के नीचे चट्टान काटकर निर्मित बावड़ी (वापी) के अन्दर पानी से 3-4 फुट की ऊँचाई पर उत्तर की ओर दीवार पर 9 पंक्तियों का कुटिल लिपि में एक लेख उत्कीर्ण है । इस बावड़ी का आकार अंग्रेजी के 'L' अक्षर जैसा है।सं. 742 के इस लेख से राजस्थान के धार्मिक जीवन पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है ।

14. झालरापाटन का शिव मन्दिर अभिलेख[19]

सम्वत् 746 का यह अभिलेख कोटा के निकट चन्द्रभागा नदी के किनारे पर स्थित झालरापाटन के शीतलेश्वर महादेव मन्दिर से मिला था। वर्तमान में यह झालावाड़ संग्रहालय में सुरक्षित है। शीतलेश्वर शिव मन्दिर के जीर्ण- शीर्ण अवस्था में आज भी दर्शन किये जा सकते हैं ।

15. चित्तौड़ के मानमौरी का शिलालेख

सं. 770 का यह लेख चित्तौड़ के पास मानसरोवर तालाब के किनारे एक स्तम्भ पर ख़ुदा हुआ था । कर्नल टॉड इसे अपने साथ इंग्लैण्ड ले जा रहा था। समुद्री रास्ते से इंग्लैण्ड जाते समय भयंकर तूफान आने के कारण टॉड को, जहाज का भार हल्का करने के लिए, वह शिलालेख समुद्र में फेंक देना पड़ा। अतः अब मूल शिलालेख उपलब्ध नहीं है। कर्नल टॉड ने उसका अर्थ अपनी पुस्तक 'एनाल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान ' में दिया था ।[20] इसी का हिन्दी अनुवाद कविराज श्यामलदास ने वीर विनोद में दिया था।

इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि मानमौरी का चित्तौड़ पर राज्य था। मानमौरी के पिता भोज, पितामह भीम व प्रपितामह महेश्वर थे। महेश्वर शत्रु हंता तथा सम्पन्न शासक था। मान सद्गुण सम्पन्न, ईमानदार, सच्चरित्र और समृद्ध नरेश था। उसने वसन्तपुर आदि प्रान्तों को जीता था। उसके सामन्त भी बड़े योग्य तथा चतुर थे। मान ने ही अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करते हुए मान सरोवर बनवाया था । इस शिलालेख से राजाओं द्वारा प्रचलित करों की भी जानकारी उपलब्ध होती है ।

16. शेरगढ का कोशवर्द्धन अभिलेख[21]

सं. 847 का कोटा से लगभग 120 किलोमीटर दूर अट्रू तहसील में स्थित शेरगढ से यह अभिलेख प्राप्त हुआ है । इस अभिलेख से संकेतित है कि कोशवर्द्धन पर्वत पर नागवंश के देवदत्त (सामन्त) ने अपने राज्यकाल के सातवें वर्ष (सं. 847) में एक मन्दिर एवं बौद्ध विहार का निर्माण करवाया था। राजस्थान में बौद्धधर्म के विकास एवं प्रसार के अध्ययन की दृष्टि से यह अभिलेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

शिलालेख के अनुसार उस समय सामन्तों और राजाओं के सम्बन्ध मधुर थे। शत्रुओं की स्त्रियों की देखभाल करने की उचित व्यवस्था थी। इस प्रकार यह लेख ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा उपयोगी है।

17. खंडेला अभिलेख[22]

हर्ष सम्वत् 201 का यह लेख शेखावाटी के ऐतिहासिक खंडेला शहर से प्राप्त हुआ है। इसका प्राचीन नाम खंडिल्ला और रायसलवाड़ा भी है। प्राचीनकाल में खंडेला शैव धर्म का प्रमुख

केन्द्र था। यहाँ से एक अभिलेख मिला है। जिसकी तिथि के सम्बन्ध में विवाद है । श्री डी. सी. सरकार और डॉ. दशरथ शर्मा ने इस अभिलेख को हर्ष संवत् 201 (807 ई.) का माना है। पं. गौरी शंकर हीराचन्द ओझा ने इस अभिलेख की तिथि सं. 701 (644 ई.) निर्धारित की है। हमें श्री डी. सी. सरकार द्वारा प्रदत्त तिथि अधिक तर्क संगत प्रतीत होती है। डा. दशरथ शर्मा ने खंडेला अभिलेख के मूलपाठ को विश्वम्भरा में प्रकाशित किया था।

18. चाटसू अभिलेख

जयपुर से लगभग45 किलोमीटर दूर दक्षिण दिशा में स्थित चाटसू (वर्तमान चाकसू) नामक स्थान से गुहिल शासक बालादित्य का उक्त अभिलेख प्राप्त हुआ है।[23] श्री ए. सी. एल. कार्लाइल ने चाटसू अभिलेख की खोज कर भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग की वार्षिक रिपोर्ट में प्रकाशित किया था। यह अभिलेख चाटसू के गोलेराव तालाब की सीढियों पर लगा हुआ था। अभिलेख कुटिल लिपि और संस्कृत भाषा में है। इसमें 27 पंक्तियाँ हैं और इसके वर्णाक्षर उत्तर भारतीय शैली के हैं। इस अभिलेख से चाटसू के गुहिल वंश और इस वंश के शासक बालादित्य के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। लेख में किसी तिथि का उल्लेख नहीं है किन्तु डी.सी. सरकार ने उक्त लेख को ई. सन् 10 वीं शताब्दी का माना है।[24]

19. बुचकला अभिलेख [25]

सं. 872 का यह अभिलेख जोधपुर जिले के बिलाड़ा क्षेत्र में स्थित बुचकला से मिला है। यहां के पार्वती मन्दिर के सभा मण्डप में एक अभिलेख उत्कीर्ण था जिसकी खोज ब्रह्मभट्ट नानूराम ने की थी। यह अभिलेख कुटिल (उत्तर भारतीय लिपि) लिपि और संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण है। अभिलेख गद्यात्मक शैली में अंकित है। बुचकला अभिलेख वत्सराज के पुत्र नागभट्ट प्रतिहार के समकालीन है।अभिलेख से प्रतिहारों की सामन्त पद्धति एवं धार्मिक निष्ठा की जानकारी मिलती है। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि परमेश्वर (शिव) के मन्दिर का निर्माण कराया गया और उसमें उनकी प्रतिमा स्थापित की गई।

20. बाउक का जोधपुर अभिलेख

सं. 894 का यह अभिलेख जोधपुर की चारदीवारी (शहरपनाह या परकोटे) पर लगा हुआ था। इस अभिलेख को 1892 ई. में मुंशी देवीप्रसाद ने ढूंढा था। सम्भवतः यह अभिलेख प्रारम्भ में

मारवाड़ की प्राचीन राजधानी मण्डोर के किसी विष्णु मन्दिर या कीर्ति स्तम्भ पर उत्कीर्ण था। यह अभिलेख प्राचीन संस्कृत भाषा और कुटिल लिपि में है ।[26] राजबली पाण्डेय ने इस अभिलेख की लिपि को उत्तर भारतीय ब्राह्मी वर्ग के अन्तर्गत रखा है ।[27] इसमें कुल 31 श्लोक हैं । कहीं -कहीं से यह अभिलेख खण्डित है । प्रतिहार वंश के राजनीतिक इतिहास का यह एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है । अभिलेख से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण हरिश्चन्द्र प्रतिहारों का पूर्वज था। इस वंश के राजा बाउक की उपलब्धियों का अभिलेख में पूर्ण विवरण मिलता है ।

21. घटियाला-अभिलेख

घटियाला जोधपुर से लगभग 33 किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में शेरगढ़-जोधपुर मार्ग पर स्थित है। .घटियाला स्थित माताजी की साल (जो सम्भवतः प्राचीन जैन मन्दिर था) से 1892 में एक अभिलेख की खोज मुंशी देवीप्रसाद ने की थी जो एक देवी की मूर्ति के साथ उत्कीर्ण था । यह अभिलेख प्राकृत भाषा और उत्तर भारतीय लिपि (कुटिल) में श्लोकबद्ध (पद्य) है । अभिलेख को पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने पढा था। इस अभिलेख का संस्कृत आशय वाला लेख भी घटियाला से प्राप्त हुआ है ।[28] इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि हरिश्चन्द्र नामक ब्राह्मण जो वेद तथा शास्त्रों का ज्ञाता था । उसके दो पत्नियाँ थीं— एक ब्राह्मण और दूसरी क्षत्रिय । ब्राह्मणी के पुत्र ब्राह्मण प्रतिहार और क्षत्राणी के पुत्र मद्यपान करने वाले (क्षत्रिय) प्रतिहार कहलाये । अभिलेख से मंडोर के प्रतिहार वंश एवं इस राजवंश में हरिश्चन्द्र (ब्राह्मण) के पश्चात् उसके पुत्रों के राज्य करने की जानकारी मिलती है। कक्कुक के समय यह अभिलेख उत्कीर्ण किया गया। इस अभिलेख का 24 वां श्लोक अपठनीय है।[29] घटियाला से अन्य दो पाषाण स्तम्भ लेख एवं जीर्ण-शीर्ण अवस्था में कुछ स्मृति लेख भी प्राप्त हुए हैं । स्तम्भ के सिरे पर चारों ओर गणपति की मूर्ति बनी हुयी है। राजा कक्कुक के सम्बन्ध में चार लेख संस्कृत भाषा और उत्तर भारतीय लिपि में उत्कीर्ण हैं।

22. कामां (भरतपुर) अभिलेख

कामां या काम्यवन राजस्थान के भरतपुर जिले का एक उपखंड और तहसील मुख्यालय है। यहाँ से तीन शिलालेख प्राप्त हुए हैं। एक शिलालेख में शूरसेन शासक वत्सदामन की पितामही द्वारा विष्णु का देवालय निर्माण करवाए जाने का उल्लेख है। लेख में तिथि का उल्लेख नहीं है किन्तु पं. भगवान लाल इन्द्र जी ने उक्त लेख को ई.सन् 8वीं शताब्दी का माना है।[30]

कामां से प्राप्त एक अन्य शिलालेख वहाँ के कामेश्वर नामक शिव मंदिर से प्राप्त हुआ है । लेख में वर्ष180 से299 तक का उल्लेख है । ये तिथियाँ हर्ष संवत् की प्रतीत होती हैं ।[31] लेख में गोष्ठिकों द्वारा कुछ प्रमुख देवी देवताओं (शिव, विष्णु एवं चामुण्डा) के मदिरों को विभिन्न अवसरों पर स्थायी निधि दान स्वरूप देने का विवरण है।

कामां की 'चौरासी खंभा' के नाम से मशहूर मस्जिद की बाहरी दीवार से प्राप्त हर्ष संवत्263 के इस अभिलेख में शैव गोष्ठिकों की सूची है ।[32] इस लेख की 20 वीं पंक्ति में शिव, पार्वती, ब्रह्मा एवं हरि (विष्णु) की पूजा का विवरण है।

23. बयाना (भरतपुर) चित्रलेखा का शिलालेख[33]

इस शिलालेख की खोज दिवंगत सर अलेक्जेंडर कनिंघम के सहायकों में से एक कार्लाइल ने भरतपुर राज्य में स्थित बयाना नामक स्थान में की थी।' मध्यकाल में यह बहुत महत्व का स्थान था और कुछ समय के लिए शेरशाह प्रथम के पुत्र इस्लाम शाह ने इसे शाही राजधानी बनाया था। जब श्री कार्लाइल ने पहली बार इस शिलालेख को देखा, तो यह पत्थर के स्तंभों में से एक के नीचे पड़ा हुआ था। अब यह ऊखा (उषा) मंदिर की दीवार पर लगा हुआ है। शिलालेख पीले बलुआ पत्थर के एक मोटे स्लैब पर खुदा हुआ है, जो ऊखा मंदिर और बयाना के लगभग सभी प्राचीन स्मारकों के निर्माण में इस्तेमाल किए गए लाल बलुआ पत्थर से काफी अलग है। शिलालेख का ऊपरी बायां कोना टूट गया है और दाहिनी ओर पूरे स्लैब के आठवें हिस्से पर लिखे अक्षर उखड़ गये हैं। इन दो हिस्सों को छोड़कर बाकी रिकॉर्ड सुरक्षित रूप से अच्छी स्थिति में है। स्लैब के दाहिनी ओर के उखड़ने से सभी रेखाएँ अधूरी हो जाती हैं और इसलिए उन्हें समझना मुश्किल हो जाता है

चित्रलेखा (955 ई.) के बयाना शिलालेख में श्रीपथ (बयाना) के मंडपिका में एक देवता के लिए तीन द्रम्म और वसावत (भुसावर) के मंडपिका में इतनी ही राशि के संग्रह का उल्लेख है । ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों मंडपिकाएँ घोड़ों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध थीं, क्योंकि स्थानीय रानी ने एक विष्णु मंदिर के पक्ष में दान दिया था। गोग्रापुर और नागपली (नावली) ग्राम के साथ खेत दिए जाने का भी वर्णन है।

24. धौलपुर का अभिलेख (सं. 898 (841 ई.)[34]

चंडमहासेन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण शिलालेख धौलपुर नगर से मिला है ,जो धौलपुर के चौहानों के इतिहास के लिए उपलब्ध एकमात्र स्रोत है।

शिलालेख में कहा गया है कि चंडमहासेन ने सं .898 में धवलपुरी (धौलपुर) में शासन किया था। वह ब्राह्मणों के प्रति बहुत उदार था, जिन्हें उसने विभिन्न तरीकों से पुरस्कृत किया। वह सूर्य देव का भक्त था जिसके लिए उसने पास के जंगल में एक मंदिर बनवाया। चम्बल नदी के दोनों किनारों पर बसे मलेच्छों के राजाओं ने उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की और मुखिया अनिरजिता ने नीची निगाहों से शहर में भ्रमण किया।

चंडमहासेन कन्नुजा के प्रतिहार शासक भोज प्रथम का सामंत प्रतीत होता है। उन्होंने एक सीढी युक्त कूप (बावड़ी) का निर्माण करवाया था । जो वर्ष पर्यन्त जल से भरी रहती थी ।

25. बिजोलिया अभिलेख संवत् 1226 (1170 ई.)[35]

वर्तमान शिलालेख पार्श्वनाथ मंदिर के निकट एक शिला पर उत्कीर्ण है। यह संस्कृत भाषा और नागरी लिपि में है। इसमें 93 श्लोक हैं। अभिलेख की तिथि 1226, फाल्गुन कृष्ण 3 (5 फरवरी, 1170) है। इसे मंदिर के निर्माण के समय जैन श्रावक लोलक ने उत्कीर्ण कराया था। लेख में शाकंभरी चौहानों की वंशावली का विवरण अंकित है साथ ही उनकी उपलब्धियों का वर्णन भी मिलता है। शिलालेख में वासुदेव से पहले के चौहान शासकों के नाम निबद्ध हैं, जबकि हर्ष शिलालेख में गूवक से पूर्ववर्ती नाम अनुपलब्ध हैं। इसमें शासकों के विभिन्न उपहारों जैसे पर्वतदान, ग्रामदान और अन्य उपहारों का वर्णन किया गया है। हर्ष पर्वत के शिलालेख के समान इसमें जाबलीपुर, श्रीमाल, मंडलकर आदि जैसे कई स्थानों के नामों का उल्लेख है। शिलालेख में घाटेश्वर, कुमारेश्वर, संगमेश्वर, दक्षिणेश्वर, कपिलेश्वर, महाकाल, कोटिश्वर, सिद्धेश्वर आदि पवित्र स्थानों का उल्लेख है।

26. डबोक का शिलालेख[36]

डबोक गांव उदयपुर से पूर्व में लगभग 18 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। वहां जनता कॉलेज के बगीचे में गड्ढा खोदते समय.सं. 900 का यह लेख श्री भवानीशंकर गर्ग को मिला। यह शिलालेख नीले पत्थर के शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण है। शिलालेख की भाषा संस्कृत एवं लिपि कुटिल है। इसमें 25 पंक्तियाँ हैं। विवेच्य शिलाभिलेख को पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने विक्रम संवत् नवीं -दसवीं शताब्दी का माना था। श्री कृष्णचन्द्र ने इसे संशोधित कर प्रकाशित किया है। वर्तमान में यह शिलालेख राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित है । दुर्भाग्य से इस अभिलेख की कुछ पंक्तियां नष्ट हो गई है जिससे इसे पूरी तरह पढ़ने में कठिनाई होती है। यह

अभिलेख किस राजवंश से सम्बन्धित है यह कहना कठिन है। इस अभिलेख में अर्च्चभट, कृष्ण भट्ट, कक्क , भट्ट गणेश्वर और भवगुप्त का नाम मिलता है।

27. भर्तृपट्ट द्वितीय का आहड़ -अभिलेख

मेवाड़ के गुहिलवंशी नरेश खुम्माण (खोमाण) तृतीय का पुत्र भतृ पट्ट द्वितीय था । उसका एक अभिलेख उदयपुर के निकट स्थित आहड़ (आयड़ या आघाटपुर) से मिला था। इसे पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने प्रकाशित किया ।[37] ओझा जी ने इस अभिलेख की तिथि सं. 1000 (943 ई.) ज्येष्ठ सुदि 5 दर्शायी थी। उन्होंने सूचना दी कि इस अभिलेख में भट्ट के समय आदिवराह नामक व्यक्ति द्वारा गंगोद्भेद (गंगोभेव) तीर्थं में आदिवराह देव का मन्दिर बनाये जाने का उल्लेख है। श्री नाथूलाल व्यास के प्रयासों से यह अभिलेख उदयपुर के महाराणा भूपाल कॉलेज में सुरक्षित है । अभिलेख दोनों ओर से खण्डित है। इसमें 14 पंक्तियाँ (अपूर्ण) है तथा यह दसवीं शती ई. की ब्राह्मी लिपि में हैं । अभिलेख का प्रारम्भ विष्णु के स्वरूप आदिवराह की वन्दना से किया गया है। इसकी दसवीं पंक्ति में भर्तृनृप का नाम मिलता है। पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अभिलेख की तिथि 1000 स्वीकार की थी जिसे श्री रतनचन्द्र अग्रवाल स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि संवत् 1000 के ज्येष्ठ माह के शुक्ल पक्ष की पंचमी को मंगलवार और पुष्य नक्षत्र दोनों ही नहीं थे। यदि गणना की जाय तो इस अभिलेख की तिथि विक्रम संवत् 998 या 1001 होनी चाहिए। इन दोनों वर्षों में दिन एवं नक्षत्र का हिसाब ठीक तरह बैठ जाता है। इनमें से भी सं. 1001 अधिक संगत प्रतीत होता है।[38]

28. प्रतापगढ़-अभिलेख

सं.1003 का यह अभिलेख प्रतापगढ़ में चैनाराम अग्रवाल के कुए पर लगा हुआ था। पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इसका पाठ सम्पादित कर प्रकाशित किया। बाद में यह अभिलेख अजमेर संग्रहालय को भेंट करवा दिया। इस अभिलेख में 35 पंक्तियां (एक लघु पंक्ति) हैं और दसवीं सदी के वर्णाक्षरों का इसमें प्रयोग किया गया है। अभिलेख संस्कृत भाषा (कई देशी शब्दों के प्रयोग सहित) और नागरी लिपि में है। अभिलेख का पाठ पद्य व गद्य दोनों में है। इसमें मन्दिर हेतु इन्द्रादित्यदेव की तरफ से माधव द्वारा दान देने का उल्लेख किया गया है। प्रतापगढ़ अभिलेख में कुछ प्रचलित देशी शब्दों जैसे अरहट, कोशवाह (चमड़े के चरस से सींची जाने वाली भूमि), चौसर (फूलों की माला), पालिका (पूला), पली (तेल का माप), धारणा (घाणी) आदि का

उल्लेख महत्वपूर्ण हैं। दसवीं शती ई. की धार्मिक स्थिति का अध्ययन करने हेतु यह अभिलेख एक प्रामाणिक साक्ष्य है।[39]

29. सारणेश्वर (सांडनाथ) प्रशस्ति

सारणेश्वर (साँडनाथ) का मन्दिर उदयपुर के श्मशान में स्थित है। यह शिलालेख प्रारम्भ में उदयपुर के निकट आहड़ गाँव के वराहमन्दिर में लगा हुआ था किन्तु उस मन्दिर के नष्ट हो जाने पर बाद में इसे सारणेश्वर मन्दिर में लगा दिया गया। यह शिलालेख संस्कृत भाषा और नागरी लिपि में है। इस प्रशस्ति में मेवाड़ की शासन व्यवस्था का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया है। अभिलेख में मेवाड़ के प्रमुख राज्य कर्मचारियों यथा अमात्य, सन्धिविग्राहक, अक्षपटलिक, बन्दिपति (मुख्य भाट) और मुख्य वैद्य का उल्लेख करते हुए वराहमन्दिर के गोष्ठिकों के नाम भी दिये गए हैं। प्रशस्तिकार ने गुहिलवंशीय राजा अल्लट, उसकी माता महालक्ष्मी और पुत्र नरवाहन का भी उल्लेख किया है। इस मन्दिर में वराह-प्रतिमा की स्थापना सं. 1010 (953 ई.) वैशाख शुक्ल पक्ष की सप्तमी को दर्शायी गई है ।[40]

30. ओसियां का महावीर मन्दिर अभिलेख[41]

राजस्थान के ऐतिहासिक नगर जोधपुर से 52 किलोमीटर दूर उत्तर- पश्चिम दिशा में जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र ओसियां स्थित है। मन्दिरों की अधिकता के कारण ओसियां 'मन्दिरों का नगर' कहलाता है। अभिलेखों और साहित्यिक ग्रन्थों में ओसियां को उपकेशपट्टन, उपकेशपुर, उबशीशा आदि कहकर पुकारा गया है। डॉ. डी. आर. भण्डारकर के अनुसार किसी परमार राजा ने शत्रुओं का दबाव बढ़ जाने पर यहां आकर ओसला (शरण) लिया था, इसलिये इस नगर का नाम ओसियां पड़ा । जैन ग्रन्थ उपकेश गच्छ- प्रबन्ध[21] के अनुसार सुरसुन्दर के पुत्र श्री पुञ्ज ने ओसियां नगर की स्थापना की थी। महावीर मन्दिर अभिलेख (सं.1013) से ज्ञात होता है कि यहां पर वत्सराज प्रतिहार का शासन रहा था। कुछ विद्वानों का विचार है कि ओसियां ओसवाल जाति का भी मूल स्थान है। एक कथानक के अनुसार श्री रत्नप्रभसूरि ने ओसियां के निवासियों को ओसवाल (जैन धर्मावलम्बी) बनाया था। ओसियां में अनेक वैष्णव एवं जैन मन्दिर हैं। उनमें से सच्चियाय माता और महावीर मन्दिर अधिक प्राचीन हैं। महावीर मन्दिर से प्राप्त अभिलेख संस्कृत भाषा और देवनागरी लिपि में है । लेख से ज्ञात होता है कि प्रतिहार वंश की उत्पत्ति भगवान् राम के भ्राता लक्ष्मण (रघुवंश) से हुई थी ।

31. थांवला का अभिलेख

मेड़ता सिटी के पास थांबला ग्राम (पुष्कर के समीप) के शिवालय से यह अभिलेख प्राप्त हुधा था। अभिलेख से चौहानों के इतिहास की महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। चौहान नरेश सिंहराज प्रथम के राज्यकाल का ज्ञात अभिलेख केवल यही है। अभिलेख खण्डित अवस्था में है। पं. विश्वेश्वरनाथ रेऊ ने संस्कृत भाषा और नागरी लिपि के इस अभिलेख को प्रकाशित किया था।[42]

32. ऊनावास का अभिलेख

ऊनावास पूर्व मेवाड़ राज्य में स्थित है। यहां से प्राप्त एक अभिलेख को श्री रतनचन्द्र अग्रवाल ने वरदा में प्रकाशित किया था। बाद में डॉ. दशरथ शर्मा ने उसके मूलपाठ में कुछ परिवर्तन सुझाये थे ।[43] इस अभिलेख का कुछ अंश नष्ट हो गया है। लेकिन जो भाग शेष बचा है उससे मेवाड़ के शासकों की सामन्त प्रणाली तथा देवी के एक मन्दिर निर्माण की जानकारी मिलती है । अभिलेख में कुछ स्थानीय शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। ऊनावास का अभिलेख संस्कृत मिश्रित देशज भाषा तथा नागरी लिपि में हैं।

33. दियाना के शान्तिनाथ मन्दिर का अभिलेख [44]

सिरोही जिला में स्थित दियाना के शान्तिनाथ मन्दिर से सं 1024 का यह अभिलेख प्राप्त हुआ है।अभिलेख में मन्दिर की व्यवस्था चलाने हेतु गोष्ठी गठित करने का उल्लेख है। गोष्ठी एक प्राचीन संस्था थी जिसमें नगर या ग्राम के प्रमुख व्यक्ति सदस्य होते थे। यह अभिलेख संस्कृत भाषा (शुद्ध) तथा नागरी लिपि में है।

34. नाथ प्रशस्ति-एकलिंगजी

एकलिंगजी का मन्दिर उदयपुर से लगभग 21 किलोमीटर उदयपुर-नाथद्वारा मार्ग पर स्थित है। प्राचीनकाल में यह मन्दिर धर्म धीर लकुलीश सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र था। एकलिंगजी के मन्दिर के निकट स्थित लकुलीश मन्दिर (नाथों का मठ) में सं. 1028 (971 ई.) का एक लेख उत्कीर्ण है, जिसे नाथ प्रशस्ति भी कहते हैं। नरवाहन के समय का यह एक महत्वपूर्ण शिलालेख है। इसमें 18 पंक्तियां हैं। यह संस्कृत भाषा (पद्य) और देवनागरी लिपि में उत्कीर्ण है ।

नाथ प्रशस्ति से मेवाड़ के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी मिलती है। इसमें बापा गुहिल और नरवाहन आदि राजाओं का वर्णन मिलता है । प्रशस्तिकार ने इसमें नागदा नगर और पाशुपत साधुओं का वर्णन भी किया है। इस प्रशस्ति में जैन और बौद्धों को वाद-विवाद में पराजित करने वाले वेदाङ्ग मुनि का भी उल्लेख मिलता है। अन्त में मन्दिर के निर्माण में सहायक व्यक्तियों यथा श्री मार्तण्ड, लैलुक, श्री सद्योराशि और विनिश्चित राशि का नाम भी दिया गया है। इस प्रकार यह प्रशस्ति मेवाड़ के इतिहास का एक महत्वपूर्ण स्रोत है ।[45]

35. हर्षनाथ- अभिलेख[46]

सीकर से लगभग 12 किलोमीटर पर दक्षिण पूर्व में हर्षगिरि नामक पर्वत स्थित है। जहाँ एक प्राचीन शिव मन्दिर के अवशेष विद्यमान हैं। यहाँ से काले पत्थर पर उत्कीर्ण लगभग 3 फुट लम्बा तथा 3 फुट चौड़ा शिलालेख (सं. 1030) प्राप्त हुआ है जिसे कीलहार्न, डी. आर. भण्डारकर और राजबली पाण्डेय ने प्रकाशित किया। इस शिलालेख की भाषा संस्कृत और लिपि विकसित नागरी है। इसमें 49 श्लोक रामायण (वाल्मीकि) और महाभारत (वेदव्यास) के श्लोकों के समान संस्कृत में हैं । अभिलेख के छन्दों में एक आर्या और कुछ गेय हैं। लेख का प्रारम्भ शिव की आराधना से हुआ है तत्पश्चात् हर्षगिरि, हर्षनगरी और हर्षनाथ का विवरण एवं चौहान राजाओं की वंशावली तथा उनके द्वारा ग्रामदान का उल्लेख किया गया है । चौहान वंश के राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से यह अभिलेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस अभिलेख में चौहान शासक गूवक से लेकर दुर्लभराज द्वितीय तक की वंशावली अंकित है।

36. हस्तिकुण्डी के धवल का बीजापुर अभिलेख[47]

सं. 1053 के इस अभिलेख पर सर्वप्रथम प्रो. कीलहर्न ने बंगाल के एक जर्नल में एक लेख लिखा था, लेकिन उनके द्वारा इस लेख को पूरा सम्पादित नहीं किया गया । यह लेख मूलतः केप्टिन बर्ट के द्वारा बीजापुर (बाली तहसील) से लगभग 3 किलोमीटर की दूरी पर स्थित जैन मन्दिर से खोजा गया था और बाद में उसे वहाँ से हटाकर अजमेर संग्रहालय में सुरक्षित कर दिया गया।

यह लेख दो भागों में विभक्त है तथा इसमें कुल 32 पंक्तियाँ हैं जिन्हें पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण कर दिया गया है। इसमें प्रयुक्त भाषा संस्कृत है तथा नागरी लिपि का प्रयोग किया गया है।

37. चच्चदेव का किणसरिया अभिलेख[48]

चौहान शासक चच्चदेव का प्रस्तुत लेख परबतसर के उत्तर में लगभग 6 किलोमीटर की दूरी पर स्थित किणसरिया नामक ग्राम में एक पहाड़ी पर बने कैवायमाता के मन्दिर से प्राप्त हुआ है। इस लेख में कुल 23 पंक्तियाँ और 26 श्लोक हैं जो एक पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण हैं। इस लेख में लिपि उत्तरी वर्णमाला तथा संस्कृत भाषा का प्रयोग किया गया है । पंक्ति 22 को छोड़कर सम्पूर्ण लेख पद्यमय हैं । इसमें कुछ पंक्तियां नष्ट हो गई हैं और यत्र -त्तत्र अक्षर घिस गये हैं या प्रायः लुप्त हो गये हैं।

इस लेख के प्रारम्भ में कात्यायनी, काली आदि देवियों की स्तुति की गई है तदोपरान्त चाहमान वंश की प्रशस्ति देकर वाक्पतिराज, सिंहराज और दुर्लभराज की उपलब्धियों का वर्णन है। प्रशस्ति के दूसरे भाग में दधीचि वंश के मेघनाद, उसकी पत्नी मासटा, वेरीसिंह, दुन्दा (पत्नी) तथा चच्च का उल्लेख है। इसी चच्च के सम्बन्ध में भवानी के मन्दिर बनाने का वर्णन है। इस अभिलेख का समय रविवार, वैशाख शुक्ल की अक्षय तृतीया, संवत् 1056 दिया गया है।

38. उदयपुर के हस्तिमाता मंदिर का शिलालेख[49]

यह शिलालेख अभी उदयपुर संग्रहालय में है। उदयपुर के हस्तिमाता मंदिर से प्राप्त इस शिलालेख में संवत् 1057 का उल्लेख है ।

इस लेख में शुचिवर्मा को राजा शक्तिकुमार का पुत्र बतलाया गया है । यह शुचिवर्मा अम्बाप्रसाद का छोटा भाई था। अम्बाप्रसाद की हत्या हो जाने के बाद शुचिवर्मा ही राजगद्दी पर बैठा तथा काफी शक्तिशाली राजा बन गया। उसने मर्यादा पालन तथा अपनी उदार नीति के कारण काफी लोकप्रियता प्राप्त की ।

39. धनोप अभिलेख

शाहपुरा के उत्तर में लगभग 24 किलोमीटरकी दूरी पर स्थित धनोप के अभिलेख को सर्वप्रथम डॉ.डी.आर.भण्डारकर ने पढ़ा था। बाद में डॉ.डी.आर.भण्डारकर ने इसे मुन्शी देवी प्रसाद की 'राजपूताना में प्राचीन शोध' नामक पत्रिका में हिन्दी में प्रकाशित किया। यह अभिलेख अब मूल रूप से उपलब्ध नहीं है। यह अभिलेख राष्ट्रकूट वंश से सम्बन्धित है। अभिलेख की लिपि उत्तर भारतीय (10-11वीं शती) और भाषा संस्कृत गद्य में (प्रारम्भ और अन्त के अलावा) है। यह

अभिलेख ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इससे राजस्थान में राष्ट्रकूटों की द्वितीय शाखा की जानकारी मिलती है। राष्ट्रकूटों की प्रथम शाखा की जानकारी हथूंडी अभिलेख से मिलती है।[50]

40. पोकरण-अभिलेख

पोकरण, जिला जैसलमेर में स्थित है। यहां के बालकनाथ मन्दिर में स्तम्भों पर दो अभिलेख (सं. 1070) उत्कीर्ण हैं। प्रथम अभिलेख परमार वंशीय घिंघक की मृत्यु से सम्बन्धित है जो कि स्थानीय शासक था।[51]

यह अभिलेख गुहिल वंशी शासकों का है। मारवाड़ में गुहिल वंश के शासकों के अब तक कई अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं। पोकरण अभिलेख में उल्लिखित गुहिल शासक का मण्डोर के आसपास कहीं शासन रहा होगा । अभिलेख में गुहिल शासक के किसी शत्रु से लड़कर मरने का उल्लेख है। संभवतः यह शत्रु मोहम्मद गजनी या उसके सैनिक रहे होंगे । गजनी सेनाएँ जब सोमनाथ पर आक्रमण करने जा रही थीं तब उसने लोद्रवा मार्ग से यात्रा की थी जो पोकरण से अधिक दूर नहीं था।[52]

41. बसन्तगढ़ लाणबावडी - प्रशस्ति[53]

बसन्तगढ़ अजारी (पिण्डवाड़ा तहसील जिला - सिरोही)' से 5 किलोमीटर दूर दक्षिण पश्चिम में स्थित है। यहां की लाहिनी बावड़ी से एक प्रशस्ति प्राप्त हुई है। यह प्रशस्ति परमार राजा पूर्णपाल के समय की है। संवत् 1099 की इस प्रशस्ति में परमार राजा उत्पलराज से पूर्णपाल तक आबू के परमारों की वंशावली दी गई है। इस प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि पूर्णपाल की छोटी बहिन लाहिनी का विवाह विग्रहराज से हुआ था। विधवा होने पर वह अपने भाई के पास वटपुर (वशिष्ठपुर) आ गई। उसने वहां जर्जर सूर्य मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया और एक बावड़ी बनवाई। इस अभिलेख में वटपुर नामक नगर के निर्माण का वर्णन दिया गया है । तत्कालीन नगर स्थापत्य के विवरण से संकेतित है कि वटपुर में तालाब, भवन, राजप्रासाद, प्राकार एवं दुर्ग थे। नगर में गणिकाओं और सैनिकों की भी बस्ती थी।

42. परमार राजा पूर्णपाल का भडूंद अभिलेख[54]

परमार राजा पूर्णपाल का प्रस्तुत लेख पाली जिले के भडूंद ग्राम में स्थित एक प्राचीन बावड़ी में उत्कीर्ण है। इस लेख से ज्ञात होता है कि सं. 1102 में महाराजाधिराज पूर्णपाल के

शासनकाल में भड़ूंद (भुंद्रिपद्द) ग्राम में एक सोपान युक्त कूप बनवाया गया था और इस ग्राम के अनेक ब्राह्मणों ने उसकी नींव बनवाने का खर्च उठाया था। लेख में दानदाताओं तथा बावड़ी को समाज के लिए समर्पित करने का उल्लेख मिलता है।

43. झालरापाटन अभिलेख

झालरापाटन' झालावाड़ (राजस्थान) के निकट चन्द्रभागा नदी के तट पर स्थित है। झालरापाटन का अभिलेख (सं.1143) सर्वसुखिया कोठी में सुरक्षित है। अभिलेख देवनागरी लिपि और संस्कृत भाषा में है। यह अभिलेख परमार वंशीय भोज के परिवार के उदयादित्य से सम्बन्धित होने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ।[55]

44. जूनाबेड़ा मूर्तिलेख[56]

पाली जिला में स्थित बेड़ा नामक स्थान (बाली से करीब 20 किलो मीटर) ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन काल से ही यहां सूर्य, विष्णु और महावीर की उपासना होती रही है। बेड़ा से करीब तीन किलोमीटर की दूरी पर जूनाबेड़ा से प्राप्त महावीर की मूर्ति पर सं. 1144 का लेख उत्कीर्ण है। यह लेख देवनागरी लिपि और संस्कृत भाषा में है। मूल लेख में कुल तीन पंक्तियां हैं। जिनसे हमें महावीर प्रतिमा की स्थापना और प्रद्योतन सूरि के गच्छ के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। राजस्थान में जैनधर्म के अध्ययन हेतु इस मूर्तिलेख का विशेष महत्व है ।

45. जोजलदेव का सादड़ी अभिलेख[57]

जोजलदेव का यह सं.1147 का अभिलेख पाली जिला के सबसे बड़े कस्बा सादड़ी स्थित जागेश्वर मन्दिर के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इस लेख में कुल 11 पंक्तियां हैं । सम्पूर्ण लेख ठीक अवस्था में है, लेकिन 9 वीं तथा 10 वीं पंक्ति के प्रारम्भिक अक्षर खण्डित होने के कारण अपठनीय है। लेख संस्कृत भाषा में है तथा सर्वत्र नागरी लिपि का प्रयोग किया गया है।

जोजलदेव का सं.1147 का एक अन्य लेख मिला है जो नाडोल स्थित सोमेश्वर मन्दिर के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इस लेख में अक्षरों की खुदाई यद्यपि कम हुई है, लेकिन सभी अक्षर सरलता से पढे जा सकते हैं। इस लेख में कुल 13 पंक्तियां हैं । यह लेख किसी भी स्थान पर से खण्डित नहीं है। इसमें संस्कृत भाषा तथा नागरी लिपि का प्रयोग किया गया है। दोनों ही लेख सर्वधर्म समभाव की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

46. अश्वराज का सेवाडी अभिलेख[58]

सं. 1167 का यह लेख बाली से लगभग 8 किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में स्थित गोड़वाड़ प्रदेश के सेवाड़ी कस्बे में स्थित महावीर स्वामी के जैन मन्दिर में मिला है इस में कुल तीन पंक्तियाँ हैं । लेख के सभी अक्षर ठीक अवस्था में है तथा सरलता से पढे जा सकते हैं । लेख की भाषा संस्कृत है तथा नागरी लिपि का प्रयोग किया गया है।

47. कटुकराज का सेवाड़ी अभिलेख[59]

सं. 1172 का कटुकराज का प्रस्तुत लेख सेवाड़ी स्थित महावीर स्वामी के जैन मन्दिर से प्राप्त हुआ है। डॉ. भण्डारकर ने सर्वप्रथम इसका चित्र लेकर इसको पढ़ लिया। मंगलसूचक तथा समयसूचक पंक्तियों को छोड़कर सम्पूर्ण लेख संस्कृत पद्य में है जिनकी संख्या 15 है। इसमें नागरी लिपि का प्रयोग किया गया है।

48. जालोर तोपखाना का लेख[60]

यह शिलालेख जालोर के तोपखाना की उत्तरी दीवार में लगा था। अब यह जोधपुर संग्रहालय में स्थित है। लेख संस्कृत भाषा एवं नागरी लिपि में अंकित है। इस लेख में जालोर शाखा के परमारों का विवरण है। इस शाखा का प्रवर्तक वाक्पतिराज था। यह लेख सं. 1174 की आषाढ़ शुक्ला पंचमी का है।

49. गिरवर का पाटनारायण मन्दिर अभिलेख[61]

यह अभिलेख गिरवर ग्राम (पूर्व सिरोही राज्य) के पाटनारायण (विष्णु) मन्दिर से मिला था। पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा एवं डी. आर . भण्डारकर इस अभिलेख से भिज्ञ थे। डॉ. दशरथ शर्मा ने इसको प्रकाशित किया। अभिलेख के प्रारम्भ में 7 श्लोक संस्कृत पद्य एवं शेष गद्य में हैं।

50. रायपाल का नाडलाई लेख[62]

सं. 1189 का रायपाल का उपर्युक्त लेख देसूरी से लगभग 6 किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में स्थित नाडलाई कस्बे के आदिनाथ जैन मन्दिर के सभा- मण्डप के दो स्तम्भों पर उत्कीर्ण है। इस लेख में कुल छह पंक्तियाँ हैं। लेख की रचना संस्कृत गद्य में की गई है तथा सर्वत्र नागरी लिपि का प्रयोग किया गया है। लेख के अन्त में एक छन्द लिखा हुआ है।

51. रायपाल का नाडलाई पाषाण अभिलेख[63]

सं. 1195 का रायपाल का यह लेख नाडलाई ग्राम के दक्षिण-पूर्व में एक पहाड़ी पर स्थित नेमिनाथजी के मन्दिर, जिसे स्थानीय लोग जादवजी कहते हैं, से प्राप्त हुआ है। यह लेख मन्दिर के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण । इस लेख में कुल 26 पंक्तियाँ तथा संस्कृत गद्य एवं नागरी लिपि का प्रयोग किया गया है। लेख का समय आश्विन कृष्णा 15, मंगलवार, संवत् 1195 है। यह लेख चौहान शासक रायपाल के शासनकाल का है। इसी समय का रायपालदेव का नाडोल से एक अन्य प्रस्तर अभिलेख भी प्राप्त हुआ है।

महाराज रायपालदेव का प्रस्तुत लेख नाडोल ग्राम में विद्यमान सोमेश्वर के मन्दिर से प्राप्त हुआ है। यह लेख मन्दिर के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इसमें कुल 39 पंक्तियाँ हैं। यद्यपि यह लेख काफी घिस गया है लेकिन ध्यान पूर्वक पढ़ने से सरलता से पढ़ा जा सकता है। लेख की रचना संस्कृत गद्य में है तथा नागरी लिपि का प्रयोग किया गया है। लेख में स्थानीय शब्दों जैसे कि वाड, वाडी, पाडि, पेटी आदि एवं स्थानीय कहावतों का प्रयोग भी किया गया है। रायपाल देव का सं 1200 का एक प्रस्तर लेख आदिनाथ मंदिर से मिला है जिसकी भाषा संस्कृत गद्य है तथा नागरी लिपि का प्रयोग किया गया है।

52. अश्वक का बाली पाषाण अभिलेख[64]

अश्वक का बाली पाषाण अभिलेख बोलामाता (बहुगुणा माता) के मन्दिर के अन्दर सभामण्डप में एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इस लेख में कुल छह पंक्तियाँ हैं लेख नागरी लिपि और संस्कृत भाषा में निबद्ध है । प्रथम पंक्ति के अधिकांश अक्षर नष्ट हो जाने के कारण अपठनीय हैं। पांचवीं पंक्ति में भी कुछ अक्षर मिट गये हैं । शेष लेख को सरलता से पढ़ा जा सकता है। यह लेख महाराजाधिराज जयसिंह देव के काल का है और इसमें लेख का समय सं. 1200 दिया गया है। इसका लेखक कुलचन्द्र था। इस लेख से उस समय लिये जाने वाले करों पर प्रकाश पड़ता है।

53. चालुक्य जयसिंह कालीन सांभर अभिलेख[65]

सांभर, जयपुर जिले के फुलेरा जंक्शन से 11 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। सांभर देवयानी तीर्थ और नमक की झील हेतु प्रसिद्ध रहा है। सांभर नगर की स्थापना सातवीं शती ई. में शाकम्भरी (देवी) के मन्दिर के निकट चौहान वासुदेव ने की थी। तभी से यह नगर चौहानों की

शक्ति का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। विवेच्य अभिलेख सांभर के उमर शाह के कुए की दीवार पर लगा हुआ था. जिसे बाद में वहां से हटवा कर श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ ने 1926 ई. में सरदार संग्रहालय जोधपुर में रखवा दिया। अभिलेख में कुल 28 श्लोकबद्ध पंक्तियां है जिनमें से 14 पंक्तियां प्रथम पत्थर पर तथा दूसरे पत्थर पर 14 पंक्तियां उत्कीर्ण हैं। इस अभिलेख की भाषा संस्कृत और 12 वीं सदी की उत्तर भारतीय लिपि है। सम्भवतः यह अभिलेख चालुक्य जयसिंह के राज्यकाल में (सं. 1200) में कभी उत्कीर्ण किया गया था। सोलंकी मूलराज के अन्हिलवाड़ पर राज्य स्थापना की तिथि के अंकन के कारण अभिलेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

54. गोठ मांगलोद में दधिमाता मंदिर का शिलालेख[66]

नागौर जिले की जायल तहसील के गोठ - मांगलोद नामक गांवों की सीमा पर नागौर नगर के उत्तर पूर्व में 40 किलोमीटर की दूरी पर दधिमाता का मंदिर स्थित है। यह मंदिर प्रतिहार स्थापत्य के अनुसार बना है।

इस मंदिर में संस्कृत भाषा का एक शिलालेख मिला है , जिसे वहां से हटाकर जोधपुर के राजकीय इतिहास विभाग में प्रदर्शित किया गया। डी.आर.भण्डारकर ने इस शिलालेख को सन् 1906 में प्रदर्शित हुआ देखा था। सन् 1894 में मुंशी देवीप्रसाद ने इस लेख का पाठ अपनी पुस्तक में दिया था। सन् 1912 में रामकरण आसोपा ने इसको सम्पादित कर प्रकाशित किया। अब यह शिलालेख अनुपलब्ध है। इस लेख से ज्ञात होता है कि इस मन्दिर के निर्माण हेतु कई दहया (दाहिमा) ब्राह्मण परिवारों ने चांदी की द्रम्म मुद्राएं दीं। पंक्ति 3 से 10 में दानदाता ब्राह्मणों के गोत्र दिये गये है। पंक्ति 11 व 12 का पद मार्कण्डेय पुराण के देवी माहात्म्य से लिया गया है। यह लेख गुप्त संवत् 289 की श्रावण वद 13 का है।

राजस्थान में संस्कृत अभिलेखों की एक लम्बी श्रृंखला प्राप्त है । इनके अतिरिक्त अन्यान्य संस्कृत अभिलेख मिले हैं विस्तार भय से जिनका वर्णन अन्य प्रसंगों में यथास्थान किया जाएगा ।

अभिलेखों की लिपि एवं भाषा [67]

ऊपर उल्लिखित बड़ली अभिलेख, बैराट से प्राप्त अशोक के दोनों अभिलेख तथा नगरी का लेख , ये सभी अभिलेख ब्राह्मी लिपि में हैं । ई. सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में वैदिक यज्ञ एवं

अनुष्ठान अति लोकप्रिय थे । इस समय अनेक यज्ञ संपन्न हुए तथा यूप (स्तंभ) रोपित हुए ।इस आशय के लेख भी कुषाण - गुप्तकालीन लिपि में उत्कीर्ण हैं । इन यूप लेखों में कृत संवत् 282 का नान्दसा (भीलवाड़ा) यूप लेख[68] कृत संवत् 284 एवं 335 के बर्नाला (लालसोट - दौसा) यूप लेख 295 का बड़वा यूप लेख[69].एवं मालव संवत् 428का (विजयगढ़) बयाना लेख[70]एवं संवत् 547 का छोटी सादड़ी का भ्रमरमाता[71] लेख महत्वपूर्ण हैं । इन सभी लेखों की भाषा संस्कृत है।

ब्राह्मी लिपि के एक अलंकृत रूप का कुटिल लिपि के रूप में विकास हुआ । पूर्व मध्यकालीन राजस्थान (ईसवी सन् सातवीं शताब्दी से ई. सन् 12 वीं शताब्दी) के बहुसंख्यक अभिलेख कुटिल लिपि में ही हैं ।इसके अक्षरों तथा विशेषकर स्वरों की मात्राओं की कुटिल आकृतियों के कारण इसे कुटिल लिपि के नाम से जाना जाता है । इसे विकटाक्षर की संज्ञा भी दी गई है । इसका विकास गुप्त लिपि से हुआ और इसका प्रचार ईसवी सन् छठी शताब्दी से रहा[72] राजस्थान के कुटिल लिपि के लेखों में संवत् 718 कुंडेश्वर मंदिर (उदयपुर) शिलालेख[73] संवत् 742 का मंडोर (जोधपुर) का बावड़ी लेख[74] संवत् 872 का बधाल (फुलेरा - जयपुर) ताम्रपत्र[75] संवत् 900 का दौलतपुर (डीडवाना)[76] ताम्रपत्र आदि प्रमुख हैं उपरोक्त सभी अभिलेख संस्कृत भाषा में हैं ।

संस्कृत के साथ-साथ राजस्थान में प्राकृत अथवा पाली भाषा का भी पर्याप्त विकास हुआ । यद्यपि आठवीं - नवमी शताब्दी के समकालीन राजस्थान से प्राप्त प्राकृत अभिलेख सांख्यिक दृष्टि से अत्यल्प हैं । इस समय के प्राकृत अभिलेख के रूप में संवत् 918 के घटियाला (जोधपुर) अभिलेख[77] का उल्लेख किया जा सकता है । कुटिल लिपि से ही नागरी लिपि का उद्भव हुआ है।नागरी लिपि का उत्तर भारत में प्रचार ईसवी सन् 9 वीं शताब्दी के अंत तथा 10 वीं शताब्दी के प्रारंभ में दर्शित होता है । नागरी से ही राजस्थानी एवं गुजराती का विकास हुआ । इस समय तथा उसके बाद के अभिलेख नागरी लिपि में हैं। जिनमें संस्कृत के अतिरिक्त राजस्थानी एवं हिंदी का प्रयोग मिलता है ।

लेखन सामग्री

प्राचीन भारत में लेखन हेतु मुख्यतः दो प्रकार की सामग्री का प्रयोग देखा जाता है। प्रथम - अस्थाई सामग्री थी - जो समयानुसार नष्ट हो जाती थी । इसके अंतर्गत ताड़पत्र ,भोजपत्र , कपड़ा , कागज एवं काष्ठ आदि सम्मिलित हैं। अस्थाई सामग्री पर लेखनी के माध्यम से मसि (स्याही)

द्वारा लिखा जाता था । द्वितीय प्रकार में - स्थाई सामग्री थी जिस पर पाषाण , ईंट, मृदभाण्ड, ताँबा, कांसा एवं लोहा आदि को प्रयोग में लिया गया था । इस सामग्री पर अक्षर अंकन हेतु छैनी हथौड़े आदि का प्रयोग किया जाता था। हमारे अध्ययन कालीन राजस्थान में विशेष रुप से द्वितीय प्रकार की सामग्री को उपयोग में लिया गया है । लेखन सामग्री का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है –

ताड़पत्र [78]

ताड़ (ताल - ताली) वृक्ष दक्षिण भारत में समुद्रतटीय प्रदेशों में बहुतायत से और राजपूताना तथा मद्र प्रदेश (पंजाब) में विरल रूप से पाए जाते हैं । टिकाऊ तथा सस्ते होने के कारण ये प्राचीन काल से ही लिखने में प्रयुक्त होते रहे हैं । कश्मीर एवं मद्र प्रदेश को छोड़कर संपूर्ण देश में इसका पर्याप्त प्रचार था । पत्ते को पहले सुखाया जाता था फिर उसे गर्म पानी में कुछ समय तक रखकर पुनः सुखाया जाता था । पत्ते के दोनों भागों पर प्रस्तर अथवा कौड़ी की मदद से हल्के से घिसते थे ।तत्पश्चात लेखनी द्वारा स्याही से लिखा जाता था । प्रतिहार नरेश (890 ई. से 910 ईसवी)महेंद्र पाल और उसके पुत्र महीपाल (910 ईस्वी से 948 ईस्वी) के राजकवि राजशेखर ने अपनी कृति 'काव्यमीमांसा ' में भी ताड़ पत्र पर लेखनी और स्याही के द्वारा लिखे जाने का उल्लेख किया है ।

भोजपत्र

प्राचीन भारत में ग्रंथों एवं लंबे दस्तावेजों के लेखन के लिए सामान्यतः भोजपत्र का उपयोग व्यापक रूप से किया जाता था । भोजपत्र भुर्ज नामक वृक्ष की भीतरी छाल को कहा जाता है । जो हिमालय में बहुत संख्या से प्राप्त होती है । सिकंदर के साथ आए इतिहासकार कर्टियस ने लिखा है कि भारतीय लिखने के लिए भोजपत्र का प्रयोग करते हैं । इसके विपरीत नियार्कस सूती कपड़ों पर पत्र लिखने का उल्लेख करता है ।[79] अलबरूनी[80] ने लिखा है कि 'मध्य और उत्तर भारत के लोग ' तूज ' वृक्ष की छाल पर लिखते हैं । उनके प्राय 1 गज लंबे एवं एक बालिश्त चौड़े पत्ते बना लेते हैं और उन्हें भिन्न भिन्न प्रकार से तैयार करते हैं । उनको मजबूत और चिकना बनाने के लिए उन पर तेल लगाते हैं और उसे घोंटते हैं । तत्पश्चात उन पर लेखन कार्य करते हैं । मुगलकाल में लिखने के लिए जब कागज का उपयोग होने लगा तब से कश्मीर में भुर्ज पत्र तैयार करने की कला

लुप्त हो गई ।सबसे पहले भोजपत्र का प्रयोग उत्तर पश्चिम भारत में प्रारंभ हुआ किंतु शीघ्र ही संपूर्ण भारतवर्ष में भी इसका उपयोग होने लगा ।

कागज

ऐसी मान्यता है कि कागज का आविष्कार सर्वप्रथम 105 ईस्वी में चीन में हुआ[81] और भारत में इसका चलन मुसलमान शासकों द्वारा किया गया । नियार्कस जो सिकंदर के द्वारा भारत पर आक्रमण करने के समय उसके साथ था , लिखता है कि भारत के लोग रुई को कूटकर लिखने के लिए कागज बनाते हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में भारतीय लोग कागज से परिचित थे । सस्ता एवं सुलभ नहीं होने के कारण कागज के स्थान पर यहां भोजपत्र या ताड़पत्र का व्यापक प्रयोग होता था । राजेंद्र लाल मिश्र के अनुसार परमार शासक के उल्लेख से प्रमाणित होता है कि मालवा में 11 वीं शताब्दी ईस्वी में लेखन के लिए कागज का उपयोग होता था । [82] भारत में कागज पर लिखी हुई प्राचीनतम पांडुलिपि 1223 - 1224 ईस्वी की गुजरात से प्राप्त हुई है । इससे अधिक प्राचीन कोई अन्य हस्तलिखित पुस्तक प्राप्त नहीं हुई है।[83] इसका कारण संभवतः यह था कि यहां की जलवायु में कागज लंबे समय तक सुरक्षित नहीं रह सकता था ।

कपड़ा

रुइ या कपास का कपड़ा जिसको पट कहा जाता है प्राचीन काल से ही लिखने के काम आता रहा है ।[84] कपड़े को निश्चित आकार में काट कर उस पर चावल अथवा आटे का माड़ लगाकर तथा कौड़ी से घिसने के बाद लिखने के लिए प्रयोग में लिया जाता था ।ऊपर नियार्कस का उल्लेख किया जा चुका है , जिसने कपड़े पर लिखने का उल्लेख किया है । हुई-ली द्वारा रचित ' लाइफ ऑफ़ ह्वेनसांग ' में उल्लिखित किया है कि हर्ष ने श्वेत वस्त्र पर कुछ लिखवा कर उसे लाल चपड़े से मुहर बंद किया और वह कपड़ा चीनी यात्री के आधिकारिक महत्तर (मार्गदर्शक) को प्रदान किया ताकि वे जिन देशों में होकर जाएंगे वहां के अधिकारियों को उक्त राजाज्ञा दिखला सकें ।[85] जैसलमेर के बृहद ज्ञानकोष में ब्यूलर को रेशम की पट्टी पर लिखी जैन सूत्रों की एक सूची प्राप्त हुई थी जिस पर स्याही से लिखा गया था ।[86]

काष्ठ

भारत में लकड़ी की पट्टी पर लिखने की परंपरा पर्याप्त प्राचीन है । वर्तमान में भी कुछ वर्ष पूर्व तक प्राथमिक शिक्षा के विद्यार्थी लकड़ी की पट्टी पर लेखनकला का अभ्यास करते थे । विद्यालय में आज भी लकड़ी के बोर्ड पर लिखा जाता है ।लकड़ी की बनी हुई पतली पाटी (फलक) पर भी प्राचीन काल में विद्यार्थी लिखते थे । जातक कथाओं में विद्यार्थियों के फलक का उल्लेख मिलता है । राजस्थान के ज्योतिषी एवं व्यापारी कच्चे काष्ठ की ऐसी ही स्लेटों पर लिखते थे।[87] इन स्लेटों का व्यवहार भारत के अन्य भागों में भी हाल तक होता रहा है।

पाषाण

लेखों को स्थाई रखने के लिए पाषाण पर उन्हें उत्कीर्ण किया गया ।अशोक ने वृहद स्तर पर लेखों को शिलाओं पर उत्कीर्ण करवाया । अपने द्वितीय स्तम्भ लेख में वह कहता है कि ' मेरे द्वारा इस प्रयोजन के लिए यह धर्मलिपि लिखवायी गई कि लोग अनुसरण करें (और) यह चिरस्थायी हो ।[88] स्थाई विवरणों के लेखन के लिए प्रस्तर का प्रयोग वर्तमान में भी प्रचलित है । प्रस्तर पर शब्दों को खोदने या अंकित करने से पूर्व एक विशेष शिला , प्रस्तरपट्ट या खंड चुना जाता था । उसे टांकी से छीलकर एवं पत्थर से घिसकर चिकना कर लिया जाता था । जिस आशय का लेख लिखना होता उसकी रचना कोई कवि, विद्वान या राजकीय अधिकारी या अन्य पुरुष करता। पहले पत्थर पर सीधी रेखाएं खींची जाती फिर सुलेखक लिपिकार उन पर स्याही या रंग से लिखता और अंत में शिल्पी (सूत्रधार - उत्कीर्णक) अक्षरों को खोदकर अंकित कर देता । लेखक बहुधा ब्राह्मण, कायस्थ, जैन साधु या सूत्रधार (सिलावट) लोग होते थे। लेख के अंत में अथवा एक विषय की समाप्ति पर कमल पुष्प , वृत्त या कोई अन्य चिह्न भी उत्कीर्ण किया जाता था । इस तरह के चिन्ह हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में भी प्राप्त हुए हैं । उदाहरणार्थ संवत् 894 की बाउक के अभिलेख में संवत् के पूर्व कमल उत्कीर्ण है[89] ,सं. 1030 के हर्षनाथ शिलालेख की 33वीं पंक्ति में विषय की समाप्ति पर पुष्प उत्कीर्ण है।[90] सं . 1003 के महेन्द्रपाल (द्वितीय) के प्रतापगढ़ शिलालेख की 30 वीं पंक्तियों में वृत (0) बने हुए हैं ।[91] इसी प्रकार सं. 1099 की लाणबावड़ी प्रशस्ति[92] के अंत में तथा ऊपर दो स्थानों पर भिन्न- भिन्न प्रकार के चिन्ह बने हुए हैं। बहुधा शिलालेखों के प्रारंभ में और कभी अंत में कोई मंगल सूचक सांकेतिक चिन्ह यथा - स्वास्तिक , चक्र , त्रिशूल एवं ओम् का सांकेतिक चिन्ह ,कोई शब्द यथा - सिद्धम् , स्वस्ति , ओम्,

स्वस्ति श्री आदि) या किसी देवता के प्रणाम सूचक शब्द यथा - ओम् नमः शिवाय , ओम नमः विष्णवे , ओम् नमो वीतरागाय आदि मिलते हैं ।

ताम्रपट्टिका

अभिलेख लेखन हेतु धातुओं में सोना , चांदी , तांबा , कांसा , लोहा , जस्ते आदि का प्रयोग भी किया जाता था ।भारत में ताम्रपत्र अधिकता से पाए जाते हैं ।ताम्रपत्र तांबा धातु का पत्तर है । ताँबे को पीटकर उसे बहुत पतला बनाकर उसे लिखने के लिए प्रयुक्त किया जाता था l ताम्रपत्र पर लेख स्याही से लिखकर कीलनुमा यंत्र से खोदे जाते थे कभी उस पट्ट पर खुरचकर अक्षर अंकित किए जाते थे। प्रायः राजा या ठिकाने के सामंतों द्वारा ताम्रपत्र दिए जाते थे ।पुरस्कार ,दान-पुण्य, जागीर आदि अन्य दानों , अनुदानों को ताम्रपत्र पर खुदवाकर अनुदान प्राप्तकर्ता को दे दिया जाता था । जिसे वह संभाल कर पीढ़ी दर पीढ़ी रख सकता था । ताम्रपत्र में पूर्व में संस्कृत भाषा का प्रयोग किया गया किंतु बाद में स्थानीय भाषा का प्रयोग किया जाने लगा । दानपत्र में राजा या दाता का नाम , अनुदान पानेवाले का नाम , देने का कारण , दी गई भूमि का विवरण , अवसर एवं समय , मंगलमय तथा शापयुक्त पद जिससे दानकर्ता के उत्तराधिकारी शाप / पाप के भय से उस दान भूमि को वापिस नहीं लें, इसलिए अनेक धर्म श्लोक अन्त में उद्धृत किए जाते थे। यद्यपि प्रस्तर के बाद धातु की वस्तुओं का प्रयोग लेखांकन के लिए हुआ था । किंतु यह परिपाटी अत्यंत प्राचीन नहीं है । ई. सन् के बाद ही ताम्रपट्ट का प्रयोग होने लगा । सहगौरा का ताम्रपत्र (मौर्यकालीन) इसका अपवाद है । शक - कुषाण युग से पट्टिका का प्रयोग तक्षशिला के लेख (21 ईसवी) कलवान (77 ईसवी) तथा स्यूत विहार लेख (89 ईस्वी) के निमित्त पाए जाते हैं । धनैदह ताम्रपत्र (राजशाही - बंगाल) पूर्वी भारत का सर्वप्रथम ताम्रपत्र कहा जा सकता है । राजस्थान में संवत् 872 का बधाल (जयपुर - फुलेरा) एवं संवत् 900 का दौलतपुर डीडवाना ताम्रपत्र प्राप्त होते हैं ।

अभिलेखीय सामग्री को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है । प्रथम वर्ग में वे अभिलेख आते हैं जो किसी शासनाधिकारी द्वारा अथवा उसके निमित्त उत्कीर्ण करवाए गए। द्वितीय वर्ग में वे अभिलेख सम्मिलित हैं जो व्यक्तियों अथवा संगठनों की ओर से उत्कीर्ण करवाए गए । द्वितीय वर्ग के अभिलेखों में सर्वाधिक संख्या उनकी है जिनमें धार्मिक प्रतिष्ठानों के लिए दिए गए दानों अथवा पूजनार्थ प्रतिमाओं को प्रतिस्ष्ठापित करने का उल्लेख है ।

हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान के विभिन्न अंचलों से प्राप्त होने वाले अभिलेखों को निम्नांकित भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

प्रतिष्ठा लेख

अभिलेखों में प्रतिष्ठा लेख किसी देवालय , प्रतिमा , कूप,बावड़ी, छतरी आदि के निर्माण प्रतिष्ठा (स्थापना) एवं जीर्णोद्धार से संबंधित होते हैं । इनमें निर्माता व्यक्ति का नामोल्लेख , निर्माण कार्य का विवरण , काल का अंकन एवं उद्देश्य के साथ - साथ उनके स्थायित्व की कामना होती है । इनमें निर्माताओं के नामों के अतिरिक्त गोष्ठिकों तथा आज्ञा विशेष का उल्लेख भी मिलता है। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में घोसुण्डी - नगरी का शिलालेख[93] सं. 703 का सामोली अभिलेख[94] सं. 718 का कुण्डेश्वर मंदिर अभिलेख[95] सं. 742 का मण्डोर बावड़ी का लेख [96] हर्ष संवत् 201 का खण्डेला अभिलेख [97] एवं व सं. 1013 के महावीर मंदिर अभिलेख[98] को प्रतिष्ठा लेख के अंतर्गत रख सकते हैं।

प्रशस्ति लेख

इस प्रकार के अभिलेख किसी मंदिर तालाब ,कुआ , बावड़ी आदि के निर्माता द्वारा अपने और अपने वंश की कीर्ति के चिर स्थायित्व हेतु उत्कीर्ण करवाए जाते थे । अथवा किसी राजा या राजपुरुष की स्मृति में स्वतंत्र रूप से किसी कवि या लेखक द्वारा लिखित होते थे । इस प्रकार के अभिलेखों में निर्माता के वंश के यशोगान एवं उसके वंश के अन्य पुरुषों की उपलब्धियों का बखान तथा उनकी वंशावली भी पाई जाती है) हमारे विवेच्यकालीन अभिलेखों में निम्नलिखित अभिलेखों को प्रशस्ति लेख के अंतर्गत रखा जा सकता है । कृत संवत् 282 के नांदसा यूप लेख[99] में मालव नेता श्री सोम की उपलब्धियों का वर्णन मिलता है मालव संवत् 480 के गंगधार लेख में मयूराक्षक की वंशावली एवं उपलब्धियों का वर्णन मिलता है[100] संवत् 770 के चित्तौड़ शिलालेख में राजा मान की वंशावली एवं उपलब्धियों का विवरण मिलता है ।[101] इसी प्रकार प्रतिहार नरेश बाऊक के संवत् 824 के जोधपुर शिलालेख में जहां मंडोर के प्रतिहारों की उपलब्धियों का विवरण है वहीं उससे उनकी वंशावली पर भी प्रकाश पड़ता है ।[102] इसी प्रकार चाटसू अभिलेख[103] संवत् 1028 एकलिंग जी नाथ प्रशस्ति [104] संवत् 1030 का हर्षनाथ मंदिर अभिलेख[105] संवत् 1136 की अथुर्णा के शिव मंदिर की प्रशस्ति[106] तथा संवत् 1218 के किराटकूप (किराडू) अभिलेख[107] जिसमें

परमार सिंधुराज से सोमेश्वरदेव तक के परमारों की प्रशस्ति उनकी शासकीय परंपरा एवं उपलब्धियों का उल्लेख है, आदि शिलालेखों को भी प्रशस्ति की श्रेणी में रखा जा सकता है ।

स्मारक लेख

स्मारक लेखों में मुख्य रूप से वे लेख हैं जिन्हें घटना विशेष को चिरस्थाई बनाने के लिए लगाया जाता है ।राजस्थान में 'मरणे मंगलम होय' की भावना बड़ी बलवती रही है । युद्ध में मृत वीरों को मुक्ति मिलने का उल्लेख मिलता है । इन लेखों के अंतर्गत किसी विशिष्ट पुरुष की स्मृति में छतरी, चबूतरा या स्मारक बनाकर उसमें चरण - चिह्न अंकित करके उस व्यक्ति के जन्म , राज्यकाल और निधन की तिथि का उल्लेख किया जाता है । ऐसे स्मारक किसी राजा , सामंत, सेनापति , वीर पुरुष या कोई अन्य उदार एवं धनाढ्य पुरुष की स्मृति हेतु बनाए जाते हैं ।

राजस्थान के स्मारक लेखों को मुख्य रूप से इस प्रकार विभाजित करके देखा जा सकता है -

1 सती लेख
2 झुंझार लेख
3 गोवर्द्धन लेख एवं अन्य

राजस्थान के गांव से लेकर नगरों तक एवं द्विज वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) से लेकर जनसामान्य तक सती प्रथा का विस्तार था । हमारे विवेच्यकालीन अभिलेखों में इस प्रथा के प्रचलन के प्रमाण प्राप्त हैं किंतु मुख्य रूप से मध्यकाल में यह प्रथा राजस्थान में बड़ी व्याप्त थी । आज भी राजस्थान के दुर्गों एवं नगरों के मुख्य द्वारों एवं मुहल्लों की पोलों पर सतियों एवं जौहर करने को उद्यत राजपूत महिलाओं के केसर कुंकुमित हस्त चिह्न उत्कीर्ण पाए जाते हैं। हमारे अध्ययन कालीन अभिलेखों में सं. 106 का पुष्कर सती लेख[108] न केवल राजस्थान का प्रथम सती लेख है अपितु यह लेख सती का उल्लेख करने वाला भारत का प्रथम सती लेख भी है। घटियाला से प्राप्त स्मृति लेख में संवत् 942 चैत्र वदि 12 को किसी स्त्री के लोकान्तरित होने का कथन मिलता है।[109] उक्त शिलालेख में संवत् 947 भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी में श्री राणुक पत्नी संपल्लदेवी के सती होने का उल्लेख भी मिलता है।[110] सं. 1070 के पोकरण के बालकनाथ मंदिर से प्राप्त स्तम्भ लेख[111] में परमार घिंघक की पत्नी महिमा के अपने पति के साथ सहगमन (सती) होने का उल्लेख है। सं.1084 के नैनवा स्मारक लेख में धर्कट जाति के वणिक कुकेश्वर के साथ वसुधरि के स्वर्ग

जाने का उल्लेख मिलता है।[112] सं. 1189 का बस्सी (नागौर) स्तम्भ लेख[113] में भी चौहान नरेश अजयपाल की मृत्यु पर उसकी तीन रानियों के सती होने का उल्लेख है।

युद्ध में मरने पर वीरों की स्मृति में भी लेख खुदवाने की परिपाटी रही है इन्हें झुंझार लेख कहते हैं। इनमें सबसे प्राचीन तीसरी शताब्दी ई.पू. का खंडेला का खंडित शिलालेख है। लेख में मूला नामक व्यक्ति की मृत्यु का उल्लेख है जिसकी स्मृति में महीश द्वारा उसको खुदवाने का अंकन किया गया है। इससे तीसरी शताब्दी ई.पू. से इस परम्परा के विद्यमान होने का पता चलता है । घटियाला से प्राप्त खंडित स्मृति लेख सं. 947 में श्री राणुक के शत्रुओं के साथ (युद्ध में परमगति प्राप्त होने पर) श्री राणुक की पादुकाएं स्थापित करने का उल्लेख मिलता है ।[114] चरलु से प्राप्त सं. 1200 के शिलालेख से अवगत होता है कि संवत् 1200 पौष माह के कृष्ण पक्ष में चौहान वंशज विष्णुदत्त देवसरा स्वर्गवासी हुए और संवत् 1234 में उनके पुत्र आहाड़ के द्वारा देवली स्थापित की गई ।[115] नाडौल से सं 1124 के स्मृतिलेख में महाराजाधिराज जेन्द्रराज के स्वर्ग गमन करने का उल्लेख है[116] उपर्युक्त लेख इसी घटना की स्मृति में उत्कीर्ण करवाया गया था।

गायों की रक्षा करते हुए मरना भी गौरव और धार्मिक कर्तव्य माना जाता था । ऐसे कई लेख भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त हुए हैं । पश्चिमी राजस्थान में गायों की रक्षा करते हुए मरना एक विशिष्ट घटना थी । इन वीरों की स्मृति में लगे लेख गोवर्धन स्मारक लेख कहे जाते हैं । इन स्तंभों पर गोवर्धन धारी श्री कृष्ण का अंकन होने से इन्हें गोवर्धन कहते हैं । प्रारंभ में गायों की रक्षार्थ मरने वालों के लिए ही ये बनाए जाते थे किंतु कालांतर में बाहरी मुस्लिम आक्रांताओं के साथ मरने वालों के लिए भी इन्हें मान लिया गया । इस प्रकार इनका अर्थ व्यापक हो गया था । ये लेख राजस्थान के उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रांत से लेकर नागौर , डीडवाना ,सांभर के पास स्थित भादवा गांव तक से मिले हैं, जो प्राय 10 वीं शताब्दी से 13 वीं शताब्दी तक के हैं । इनमें जैसलमेर की प्राचीन राजधानी लोद्रवा से संवत् 970 ज्येष्ठ शुक्ला 15 का लेख अब तक ज्ञात लेखों में प्राचीनतम है । इसमें क्षत्रिय वंश में उत्पन्न रामधन के पुत्र भद्रक द्वारा गोवर्धन की प्रतिष्ठा करवाने का उल्लेख है । नागौर के पास भी बीठन से संवत् 1002 के लेख में भी गोवर्धन के निर्माण का उल्लेख है । सं. 1070 के पोकरण अभिलेख के अनुसार परमार वंशीय शिय के पुत्र घिंघक के स्वर्ग गमन पश्चात उसके पुत्र धनपाल ने सूर्य प्रतिमा से युक्त गोवर्द्धन स्तम्भ का निर्माण करवाया [117] हर्ष संवत् 84 के भरतपुर के पास कोट गाँव के लेख में ब्राह्मण लोहादित्य द्वारा गायों की रक्षा करते हुए मृत्यु को प्राप्त करना वर्णित है। अजमेर के राजकीय संग्रहालय में संग्रहीत और

बयाना से प्राप्त एक पूर्वमध्यकालीन शिलालेख में भी ऐसा ही उल्लेख है। इसमें गायों की कई आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं और एक पुरुष पीछे अंकित बतलाया गया है।

स्तम्भ लेख

स्तंभ लेख भी महत्वपूर्ण है स्तंभों को कई नामों से जाना जाता है यथा यष्टि, यट्टि , लष्टि , लग केतन , यूप आदि । राजस्थान से प्राप्त स्तंभ लेखों को निम्नांकित भागों में विभाजित किया जा सकता है -

1 यज्ञ स्तूप संबंधी लेख
2 कीर्ति स्तंभ के लेख और अन्य स्तंभ लेख

राजस्थान से यज्ञ स्तूप बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं । ये स्तंभ यज्ञों की स्मृति को चिरस्थाई रखने के लिए बनाए जाते थे । धर्मग्रंथों में काष्ठ के स्तंभ बनाने का उल्लेख है । दक्षिण पूर्वी राजस्थान से ही ये लेख अधिक संख्या में प्राप्त हुए हैं । यज्ञों की पुनरावृत्ति मौर्यों के पश्चात हुई थी । वैदिक यज्ञों की प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्ध और जैन धर्मों का उदय हुआ था । किंतु कालांतर में इन धर्मों की क्रियाओं का जनमानस पर प्रभाव होते हुए भी वे वैदिक परंपरा छोड़ नहीं सके थे । इसीलिए समय पाकर फिर वैदिक यज्ञों का पुनरुद्धार हुआ । यह भावना इतनी अधिक बलवती हुई कि जैन शासक भी इससे अछूते नहीं रह सके ।राजस्थान में यज्ञ से संबंधित प्राचीनतम लेख नगरी[118] का है यह लगभग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व का है । इसमें अश्वमेध यज्ञ संपन्न करने का उल्लेख है । इस प्रकार के एक अन्य लघु लेख में वही वाजपेय यज्ञ के निमित्त यूपस्तंभ[119] की प्रतिष्ठा का उल्लेख हुआ है। कृत संवत् 282 के नांदसा के यूप राजस्थान के यूपस्तंभों में प्राचीनतम हैं।[120] लेख से षष्टिरात्र यज्ञ के अनुष्ठान का बोध होता है। बड़वा (कोटा) से प्राप्त मौखरि राजाओं के कृत् वर्ष 295 के यूप स्तंभों में त्रिरात्र यज्ञ के अनुष्ठान हेतु एक सहस्र गौऐं दान में देने तथा यूपस्तंभ स्थापित करने का वर्णन है[121] कृत संवत् 284 के बर्नाला (लालसोट - गंगापुर) के यूप स्तंभ में सोहर्तृ गोत्रोत्पन्न वर्धन नामक व्यक्ति ने सात यूप स्तंभों की प्रतिष्ठा कर पुण्यार्जन किया [122] विजयगढ़ (बयाना, भरतपुर) से प्राप्त यूप स्तंभ की प्रतिष्ठा कृत वर्ष 428 में पुण्डरीक यज्ञ के उपलक्ष्य में की गई । [123] बिचपुरिया यूप लेख [124] में बताया है कि सं. 321 फाल्गुन (माह) के शुक्ल पक्ष की 15 तिथि (पूर्णिमा) को धरक के पुत्र अहिशर्म द्वारा अग्निहोत्र (यज्ञ) कर पुण्यवृद्धि हेतु यह यूप स्थापित किया।

कीर्ति स्तम्भ

कीर्ति स्तम्भ किसी राजा या वीर पुरुष द्वारा किए गए पुण्य कार्य या विजय के उपलक्ष्य में स्थापित स्तंभ थे । जिन पर उल्लिखित लेख में उनकी यशोगाथा आंशिक रूप से अंकित होती थी । हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में विक्रम संवत् 918 के कक्कुक के घटियाला शिलालेख[125] को इस श्रेणी में रखा जा सकता है । इस लेख में कक्कुक के द्वारा यश के पुंज की तरह दो कीर्ति स्तंभ रोहिंसकूप एवं मंडोर में स्थापित करने का उल्लेख मिलता है ।

दानपत्र

हमारे अध्ययन कालीन अभिलेखों में दानपत्र भी पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुए हैं । ये दानपत्र ताम्रपत्र भी कहे जाते हैं क्योंकि इनके लिए ताँबे की चद्दरों को काम में लिया जाता था । स्थाई अनुदान का अंकन तांबे की चद्दरों पर उत्कीर्ण किया जाता था । जिससे उसके नष्ट होने का भय कम रहता था । इनमें किसी ब्राह्मण , गुरु या आचार्य , मठ के संत या महंत के लिए प्रदत्त भूमिदान , ग्रामदान , गृहदान एवं खेत आदि के दान का विवरण पाया जाता है । इसमें दाता एवं प्रतिग्रहीता के वंश ,वर्ण ,शाखा आदि के साथ में दान के अवसर सूर्यग्रहण , चंद्रग्रहण ,संक्रांति , राज्यारोहण , दान की वस्तु , मात्रा और दान के प्रयोजन या उद्देश्य का स्पष्टीकरण मिलता है । इनमें सबसे अंत में दान की स्थिति को बनाए रखने के लिए अपने वंशजों से प्रदत्त दान को स्थाई रखने या संरक्षित रखने का सानुरोध निवेदन भी किया गया है | हमारे अध्ययनकालीन अनेक ताम्रपत्र उल्लेखनीय हैं । ई. सन् 679 के धूलेव दानपत्र[126] में किष्किंधा (कल्याणपुर) के महाराज मेटी द्वारा अपने महामात्य अधिकारियों को आज्ञा देकर यह अवगत कराया कि उसने महाराज बप्पदति के श्रेयार्थ तथा धर्मार्थ उब्बरक नामक गांव को भट्टिनाग नामक ब्राह्मण को अनुदान के रूप में देने का उल्लेख है । संवत् 872 की बधाल (फुलेरा - जयपुर) ताम्रपत्र[127] में प्रतिहार नरेश नागभट्ट द्वारा सूर्य ग्रहण के अवसर पर ब्राह्मण दुर्गल भट्ट को गयट्टपुर विषय (परगना) का लंबकूप गांव चंद्र ,सूर्य एवं पृथ्वी के बने रहने तक दान में देने का उल्लेख है ।इसी प्रकार बधाल से ही प्राप्त संवत् 898 के ताम्रपत्र[128] में एक अन्य गांव दान में देने का उल्लेख मिलता है । संवत् 900 के दौलतपुरा (शिवा ग्राम डीडवाना) ताम्रपत्र[129] में प्रतिहारों की वंशावली के अतिरिक्त भट्ट हर्षुक के निवेदन पर शिवा ग्राम का पूर्व प्रदत लुप्त और विस्मृत अग्रहार काश्यप गोत्रीय आश्वलायनी वैदिक शाखाध्यायी बृहस् ब्रह्मचारी वासुदेव के वंशज- ब्राह्मणों और कात्यायन

गोत्रीय आश्वलायनी वैदिक शाखा के अध्येता भट्ट विष्णु के वंशजों को पुनः प्रदान करने का निवेदन एवं राजकीय अनुमोदन पाया जाता है । संवत् 1016 के मथनदेव के ताम्रपत्र [130] में देवालय के निमित्त भूमि दान का उल्लेख मिलता है ।

अभिलेखों में प्रयुक्त संवत्

राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में विविध संवत् प्रयुक्त हुए हैं ।जी .एच .ओझा [131] एवं राजबली पांडेय [132] ने अजमेर के निकट बड़ली से प्राप्त अभिलेख को ईसा पूर्व 527 में प्रारंभ होने वाले जैनों के वीर निर्वाण संवत् का माना है । डी .सी. सरकार [133] एवं श्री राम गोयल [134] इस लेख में वीर संवत् के प्रयोग की संभावना को स्वीकार नहीं करते हैं । राजस्थान में वीर संवत् का प्रयोग सर्वप्रथम राजपूत कालीन जैन अभिलेखों में प्रयुक्त मिलता है । राजस्थान से प्राप्त ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों के बहुसंख्यक शिलालेखों में कृत् एवं मालव संवत् का प्रयोग हुआ है | उदाहरणार्थ कृत् का प्रयोग 282 के नांदसा यूप लेख [135] 284 एवं 335 के बर्नाला यूप लेख [136] 295 के बड़वा यूप लेख [137] 321 के बिचपुरिया यूप [138] लेख 480 के गंगधार अभिलेख [139]481 की नगरी अभिलेख[140] तथा मालव संवत् का प्रयोग 795 की कंसुआ शिलालेख[141] में हुआ है । अन्य बहुसंख्यक अभिलेखों में संवत् (विक्रम संवत्) का प्रयोग हुआ है | हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में धौलपुर से प्राप्त चाहमान नरेश चंद्रमहासेन का विक्रम संवत् 898 [142] का प्रथम अभिलेख जिसमें इस संवत् के साथ विक्रम नाम जुड़ा हुआ मिलता है । इसके बाद राष्ट्रकूट नरेश विदग्धराज का बीजापुर अभिलेख[143] (विक्रम संवत् 1053) आहाड़ से प्राप्त विक्रम संवत् 1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति[144] नरवाहन के विक्रम संवत् 1028 के एकलिंग जी अभिलेख[145] तथा सिरोही से प्राप्त पूर्णपाल के विक्रम संवत् 1099 के बसंतगढ़ अभिलेख[146] में विक्रम शब्द का प्रयोग मिलता है। विद्वानों की मान्यता है कि कृत संवत् तथा मालव संवत् ही आगे चलकर विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ । हमारे अध्ययनकालीन अभिलेख गुप्त संवत् एवं हर्ष संवत् (ईसवी सन् 606) के भी माने जाते हैं I गोठ मांगलोद के दधिमाता मंदिर शिलालेख को गुप्त संवत् का माना जाता है । इसी प्रकार कामां से प्राप्त प्रथम लेख में वर्ष 180 से 299 का उल्लेख एवं द्वितीय अभिलेख में वर्ष 263 के उल्लेख को हर्ष संवत् का माना जाता है।[147] इसके अतिरिक्त तसई (अलवर) अभिलेख[148] एवं डूंगरपुर से प्राप्त संवत् 84 के ताम्रपत्र[149] को भी हर्ष का ही माना जाता है | हमारे अध्ययनकालीन किसी भी अभिलेख में शक संवत् का प्रयोग नहीं मिलता है ।

अभिलेखों का महत्व

भारतीय इतिहास लेखन में अभिलेखों का महत्व सर्वोपरि है अभिलेखों से इतिहास की अनेक घटनाओं की जानकारी मिलती है । प्राचीन इतिहास के लिखित साक्ष्य होने के कारण इनसे ज्ञात जानकारी को प्रामाणिक माना जाता है । अभिलेख उत्कीर्ण कराने के उद्देश्य विविध थे कुछ अभिलेख ऐसे हैं जिनमें वंशावली , ऐतिहासिक घटनाओं तथा महान शासकों की उपलब्धियों के मनोरंजक वर्णन प्राप्त होते हैं। राजस्थान के प्राचीन इतिहास के विविध पक्षों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भी अभिलेख प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इनसे निम्नांकित रूपों में जानकारी प्राप्त होती है

राजनीतिक इतिहास

अभिलेखों के परिशीलन से प्राचीन राजवंशों की परम्परा का ज्ञान होता है। अभिलेख उत्कीर्ण कराते समय प्रायः शासक के सम्पूर्ण वंशवृक्ष का उल्लेख कर दिया जाता था। ई०पू० के किसी भी भारतीय अभिलेख में स्पष्ट रूप से वंशवृक्ष का उल्लेख नहीं मिलता। रुद्रदामा का जूनागढ़ अभिलेख[150] इस श्रेणी का प्राचीनतम अभिलेख है। जिसमें रुद्रदामन की तीन पीढियों का उल्लेख मिलता है। राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में कृत संवत् 282 का नान्दसा यूप लेख[151] प्रथम अभिलेख है जिसमें श्री सोम के पिता जयसोम एवं पितामह प्रभाग्र का उल्लेख मिलता है। मालव संवत् 428 के विजयगढ़ स्तम्भ लेख[152] में विष्णुवर्धन के पिता, पितामह एवं प्रपितामह का उल्लेख मिलता है। चित्तौड़ से प्राप्त सं. 770 के शिलालेख[153] में राजा मानमोरी की वंशावली का उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में सं• 847 का शेरगढ़ का कोषवर्धन अभिलेख[154] भी उल्लेखनीय है। लेख में देवदत्त नामक सामन्त के माता-पिता पितामह पद्मनाग एवं प्रपितामह बिन्दुनाग का उल्लेख मिलता हैं चाटसू अभिलेख[155] में चाटसू के गुहिलों की वंशावली का उल्लेख मिलता है। सं• 894 के बाऊक के जोधपुर अभिलेख[156] एवं सं. 918 के घटियाला अभिलेख[157] तथा सं. 1003 के प्रतापगढ़ अभिलेख[158] में प्रतिहारों की वंशावली का उल्लेख मिलता है।

चौहानों की वंशावली का उल्लेख सं. 1030 के हर्षनाथ अभिलेख[159] एवं सं. 1127 के बिजोलिया अभिलेख[160] में मिलता है।प्राचीन भारत के अनेक अभिलेखों में विजयों एवं युद्ध गाथाओं का भी वर्णन मिलता है। अशोक के चतुर्थ एवं 13 वें शिलालेख[161] से विदित होता है कि कलिंग युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद भेरी घोष को धम्म घोष में परिवर्तित कर दिया गया।

धनदेव के अयोध्या अभिलेख[162] में पुष्यमित्र शुंग को दो अश्वमेध यज्ञों का कर्त्ता बताया गया है।हाथीगुम्फा अभिलेख[163] से खारवेल के प्रतिवर्ष की मुख्य घटनाओं का पता चलता है। नासिक लेख[164] से गौतमी पुत्र शातकर्णि, जूनागढ़ अभिलेख से रुद्रदामन, प्रयागप्रशस्ति से समुद्रगुप्त[165] भीतरी स्तम्भ लेख[166] से स्कन्द्गुप्त एवं मन्दसौर अभिलेख[167] से यशोधर्मा आदि शासकों की महत्वपूर्ण विजयों पर प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन राजस्थान के विभिन्न अभिलेखों से भी विजयों, एवं युद्ध गाथाओं की जानकारी मिलती है। नगरी-घोसुण्डी अभिलेख[168] में राजा सर्वतात को अश्वमेधयाजी कहा गया है। कृत संवत् 282 के नान्दसा[169] यूप लेख से विजय प्राप्त कर नर्तन (प्रसन्न) करने का उल्लेख मिलता है। चित्तौड़ के सं• 770 के मानमोरी शिलालेख[170] में राजा मान को महान योद्धा बताया गया है। इसी प्रकार सं• 894 की जोधपुर की बाऊक प्रशस्ति[171] में नरपत को महान पराक्रमी होने के कारण पेल्ला पेल्ली कहा गया है। इसी लेख में कक्क द्वारा बंगाल के गौड़ों पर विजय प्राप्त कर यश पाने का उल्लेख मिलता है । इसी भांति सं. 918 के घटियाला स्तम्भ लेख [172] में कक्कुक द्वारा वल्ल, माड, गुर्जरत्रा एवं लाट क्षेत्र तक अपनी ख्याति प्रसारित करने का वर्णन मिलता है। घटियाला के द्वितीय स्तम्भ लेख में आभीरों के आक्रमण के भय से रोहिन्सकूप की दुरावस्था एवं कक्कुक द्वारा उसके पुननिर्माण का उल्लेख मिलता है।

प्रशासनिक व्यवस्था

अभिलेखों के अध्ययन से प्रशासनिक व्यवस्था पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अभिलेख लिखवाते या राजाज्ञा प्रसारित करते समय कतिपय अधिकारियों के उल्लेख अभिलेखों में मिलते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में अशोक के अभिलेख सर्वोत्तम उदाहरण हैं । जिनमें राजुक, प्रादेशिक , युक्त एवं ब्रजभूमिक आदि अधिकारियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[173] हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान के अभिलेखों में भी कतिपय अधिकारियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । उदाहरणार्थ कृत् संवत् 295 के बडवा यूप लेख[174] भट्टि सोम सोगी के तिथि विहीन नान्दसा यूप लेख[175], विजयगढ के यौधेय अभिलेख[176] में 'महासेनापति' का उल्लेख मिलता है। मालव संवत् 480 के गंगधार शिलालेख[177] में राजा के सचिव मयूराक्षक का उल्लेख मिलता है। सं. 847 के शेरगढ़ के कोशवर्द्धन अभिलेख[178] में देवदत्त नामक सामन्त का उल्लेख मिलता है। इन अधिकारियों के अतिरिक्त राजा की स्थिति,

अधिकार उसके विरुद्ध तथा राजाओं द्वारा किये गये लोकोपकारी कार्यों की भी जानकारी मिलती है।

स्थानीय स्वशासन पर भी अभिलेखों से प्रकाश पड़ता है। सं•1198 के नाडौल लेख[179] से स्थानीय शासन की पद्धति पर प्रकाश पड़ता है। लेख में एक ग्रामीण समिति का उल्लेख मिलता है जो चोरी आदि रोक कर सभी प्रकार के व्यापारियों को व्यापार में मदद करती है। इस प्रकार की समिति का एक प्रमुख भी होता था। समिति के निर्णय की स्वीकृति स्थानीय निवासियों द्वारा की जाती थी। अभिलेखों के अध्ययन से शासकों के व्यक्तिगत चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है।चाटसू अभिलेख[180] में शंकरगण को भरतमुनि के समान नाट्यशास्त्र में प्रवीण बताया गया है। सं• 894 की जोधपुर से प्राप्त बाऊक प्रशस्ति[181] में कक्क को छन्द, व्याकरण, तर्क, ज्योतिष एवं कलाओं का विद्वान एवं सभी भाषाओं में कविता करने वाला बताया गया है। घटियाला अभिलेख[182] में कक्कुक की मुस्कान की तुलना खिलती हुई कली से की गई है । उसकी वाणी को मृदु एवं मधुर बताया गया है ।साथ ही उसके समस्त कार्यों को मानव जाति के हित के लिये समर्पित बताया गया है। उसके आचरण की प्रशंसा करते हुये कहा गया है कि उसका आचरण बच्चों के लिये गुरु के समान, तरुणों के लिये मित्रवत एवं वृद्धों के लिये पुत्रवत था।

सामाजिक स्थिति

सामाजिक स्थिति का अध्ययन करने के लिये भी अभिलेखों का पर्याप्त महत्व है।भारतीय समाज में वर्णाश्रम धर्म की प्रमुखता थी। धर्मशास्त्रों में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। हमारे अध्ययनकालीन किसी भी अभिलेख का उद्देश्य वर्ण धर्म का वर्णन करना नहीं था। इनमें केवल शासन एवं दान के प्रसंग में वर्णों की चर्चा मिलती है। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में चारों वर्णों का एक साथ उल्लेख सं. 1013 के ओसियां के जैन मंदिर अभिलेख[183] एवं सं. 1226 के बिजोलिया अभिलेख[184] में मिलता है। अभिलेखों में राजस्थान में निवास करने वाली विभिन्न जातियों, उनकी शाखाओं, गोत्रों एवं प्रवरों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनायें मिलती हैं | जिससे जाति व्यवस्था का समग्र मूल्यांकन किया जा सकता है। अभिलेखों से विदित होता है कि ब्रह्माण अपने वैदुष्य, शुद्ध आचरण एवं सरल व्यवहार के कारण अन्य वर्णों से श्रेष्ठ माने जाते थे।ब्राह्मण षट्कर्मों (यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन दान, प्रतिग्रह) के अतिरिक्त जीविकोपार्जन हेतु पौरोहित्य, मंत्रित्व एवं सेनापतित्व आदि के भी कार्य करने लगे। पूर्व मध्यकाल में जीविकोपार्जन हेतु ब्राह्माण अन्य राज्यों से आकर राजस्थान में आकर बस गये। राजपूतों के पूर्व मध्यकालीन

राजस्थान में राजपूतों के रूप में एक नई जाति का उदय हुआ। ये अपने आपको प्राचीन क्षत्रियों के समान देश के वर्णाश्रम धर्म तथा हिन्दू संस्कृति का रक्षक मानते थे। राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं ,[185] किन्तु कर्तव्य की दृष्टि से यह जाति क्षत्रिय के समान ही थी । इनके अनेक कुलों का उल्लेख अभिलेखों से प्राप्त होता है। वर्णों में तृतीय स्थान वैश्यों का था । कृषि, पशुपालन ,व्यापार एवं वाणिज्य इनका मुख्य व्यवसाय था। ये अनेक श्रेणियों में विभक्त थे। अभिलेखों से विदित होता है कि मंदिरों की व्यवस्था में इनका प्रमुख योगदान रहता था। जैन धर्म के उत्थान में वैश्य वर्ण का अहम योगदान रहा।

चतुर्थ वर्ण शूद्रों का था इनका कार्य द्विजों (प्रथम तीनों वर्ण) की सेवा करना था। इन्हें अस्पृश्य नहीं माना जाता था। इनकी भी अनेक उपजातियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । कामां से प्राप्त 9वीं शताब्दी के एक अभिलेख[186] में कुम्भकारों, शिल्पियों एवं मालियों का उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त कायस्थ एवं आभीर का उल्लेख भी राजस्थान के अभिलेखों में मिलता है। कायस्थ मुख्यतः लेखन का कार्य करते थे। प्रायः प्रशस्तियों के अन्त में 'कायस्थेन लिखित ' वाक्य का प्रयोग मिलता है। जी• एच• ओझा के अनुसार [187] ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियों के जो लोग लेखक या अहल्कारी का कार्य करते थे वे कायस्थ कहलाए । कालान्तर में उनका विकास एक स्वतंत्र जाति के रूप में हुआ। राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में कायस्थों का सर्वप्रथम उल्लेख सं. 795 के कंसुआ शिलालेख[188] में मिलता है। हमारे अध्ययनकालीन अनेक शिलालेखों के लेखक कायस्थ थे। सं• 918 के कक्कुक के घटियाला लेख[189] में आभीर जाति का उल्लेख मिलता है। लेख में रोहिन्सकूप (घटियाला) को आभीरों से त्रस्त बताया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि 9वीं शताब्दी के लगभग यह जाति मारवाड़ क्षेत्र में विद्यमान थी।

कतिपय अभिलेखों में सामाजिक रीति-रिवाजों का भी उल्लेख मिलता है। सती स्तम्भों, सती प्रथा विभिन्न मान्यताओं तथा बहुपत्नी प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में सती प्रथा का प्राचीनतम उल्लेख पुष्कर के खूंट मंदिर के समीप संवत् 106 (49ई.) के शिलालेख[190] में हुआ है । जिसमें गोविन्द ब्राह्मण की पत्नी जो व्यास विक्रम की पुत्री थी के सती होने का उल्लेख है। सती प्रथा का उल्लेख करने वाले इस अभिलेख को राजस्थान का ही नहीं अपितु भारत का भी प्राचीनतम अभिलेख माना जा सकता है । अभिलेखों में तत्कालीन समाज में प्रचलित वेशभूषा एवं आभूषण आदि के बारे में भी विशद जानकारी मिलती है।

धार्मिक स्थिति

अभिलेखों से जनविषयक सूचनाओं के साथ-साथ स्थानीय धर्म एवं धार्मिक विश्वासों, मान्यताओं एवं उत्सवों का भी ज्ञान होता है। राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों के अनुशीलन से विदित होता है कि अधिकांश अभिलेखों का प्रणयन धार्मिक भावना से प्रेरित होकर किया गया। ये अभिलेख अधिकांशतः मंदिरों में उत्कीर्ण मिले हैं अथवा वहाँ से प्राप्त हुये हैं। इन लेखों से मंदिरों के निर्माण, उनकी व्यवस्था तथा जीर्णोद्धार सम्बन्धी महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं। अभिलेखों के प्रारंभ में इष्ट देव का स्मरण या स्तुति मिलती है। इसके अतिरिक्त अभिलेखों से तत्कालीन शासकों की धार्मिक नीति , धर्म में उनकी अभिरूचि एवं आस्था आदि की सहज जानकारी भी अभिलेखों से प्राप्त होती है।

आर्थिक स्थिति

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों से तत्कालीन आर्थिक स्थिति पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अभिलेखों से व्यापार-वाणिज्य, ग्राम एवं नगर विषयक वर्णन, भूमिदान, सिंचाई व्यवस्था , कृषकों एवं व्यापारियों से लिये जाने वाले विभिन्न कर , विभिन्न श्रेणियाँ, विक्रय हेतु आने वाली वस्तुएं नाप-तौल की इकाइयों, प्रादेशिक एवं स्थानीय मुद्रा सम्बन्धी ज्ञान एवं व्यापरिक मार्गों आदि पर प्रकाश पड़ता है।

वैदिक यज्ञ विधि - विधान

हमारे अध्ययन कालीन अभिलेखों से तत्कालीन समाज में वैदिक संस्कृति के प्रति आदर एवं आस्था के भावों की भी पुष्टि होती है। राजस्थान के विविध क्षेत्रों से प्राप्त यूप इस बात के बोधक हैं। नगरी (उदयपुर) लेख , नांदसा यूप लेख , बड़वा यूप लेख , बर्नाला यूप लेख , विजयगढ़ , बिचपुरिया यूप स्तम्भ लेखों से विदित होता है कि उस समय अश्वमेध यज्ञ , वाजपेय यज्ञ , आप्तोर्याम यज्ञ , त्रिरात्र यज्ञ , एकषष्टिरात्र यज्ञ , सप्तसोमसंस्था (सात सोम यज्ञ) का प्रचलन था । यज्ञोपरान्त यूप का निर्माण एवं उन्हें स्थापित करने का विधान था। इन धार्मिक यज्ञों के अनुष्ठान से लोगों में नवीन विश्वास का संचार होता था जिससे वे विदेशी आक्रान्ताओं से एक नयी ऊर्जा के साथ सामना करने में सक्षम होते थे । सं. 1028 का नाथ प्रशस्ति एकलिंगजी में जैन और

बौद्धों को वाद-विवाद में पराजित करने वाले वेदांग मुनि का उल्लेख वैदिक धर्म के सार्वकालिक होने का ही बोधक है।[191]

अभिलेखों के अध्ययन का महत्व **जल प्रबन्धन एवं संरक्षण** की दृष्टि से भी प्रमुख है। राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों से राजा और सामान्यजन द्वारा जल स्रोतों (कुआ , बावड़ी , सरोवर, तालाब , प्याऊ, पुष्करिणी , नदी नहरें आदि) के निर्माण एवं उचित रखरखाव की व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है । वर्तमान में जलसंकट को देखते हुए जलसंचयन की पुरानी विधियों के अनुसरण एवं अनुशीलन की आवश्यकता है।

अभिलेख जहाँ प्राचीन इतिहास के पुनर्निर्माण में सहायता करते हैं ,वहीं अनेक सांस्कृतिक विषयों का भी बोध कराते हैं । अभिलेखों से तत्कालीन खान -पान ,वेशभूषा मूर्तिकलाओं , वास्तुकला , साहित्यिक उपलब्धियों और भाषाओं के विकास पर भी प्रकाश पड़ता है।इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन राजस्थान की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति की जानकारी के लिये अभिलेखों का महत्वपूर्ण स्थान है।

संदर्भ

1. लाल, बी.बी, इंडियन आर्कियोलॉजी सिंस इंडिपेंडेंस , पृ. 18

2. पांडेय, राजबली , भारतीय पुरालिपि , पृ. 167

3. भट्ट , जनार्दन , अशोक के धर्म लेख , पृ. 108 एवं 113

4 भण्डारकर,डी. आर,. 'हाथी बाड़ा इंश्क्रिप्शन एट नगरी', एपिग्रैफिया इंडिका वॉल्यूम 22, पृ. 198 - 205

5. पुरोहित, सोहनकृष्ण , उत्तरभारत का प्राचीन राजनीतिक इतिहास , पृ.111

6. अग्रवाल, आर . सी. नगरी का कृत् संवत् 481 का शिलालेख, वरदा 5 (3) 1962 पृ. 2- 3

7. अल्तेकर, ए. एस., ' नान्दसा यूप इश्क्रिप्शंस',एपिग्रैफिया इंडिका., वॉल्यूम 27, वॉल्यूम 4, पृ.252-265

8. अल्तेकर, ए. एस., ' टू यूप इंश्क्रिप्शंस फ्रॉम बर्नाला: कृत ईयर 284 एण्ड 335', एपिग्रैफिया इंडिका,वॉल्यूम26, पृ.121-123

9. अल्तेकर, ए. एस., थ्री मौखरी इंश्क्रिप्शंस ऑन यूपस', एपिग्रैफिया इंडिका, वॉल्यूम 23, पृ. 42-52

10..शर्मा, जी.एन., राजस्थान के इतिहास के स्रोत, पृ. 45

11.फ्लीट, जे. एफ, एपिग्रैफिया इंडिका, ,वॉल्यूम27, पृ.317

12.फ्लीट, जे. एफ., प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग-3, पृ.314-315

13. फ्लीट, जे. एफ, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग-3, पृ. 316-318

14. गहलोत, एस. एस. एवं अन्य, राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, ,पृ.23

15. गहलोत, बन्धु, कल्चरल हेरीटेज ऑफ हाड़ौती, पृ. 24

16. हलदर, आर .आर.,सामोली इंस्क्रिप्शन ऑफ दि टाइम ऑफ शिल्लादित्य (वि.सं.703) एपिग्रैफिया इंडिका., वाल्यूम 20 ,पृ. 97-99

17. कीलहर्न, एफ.,' उदयपुर इंश्क्रिप्शन ऑफ अपराजित सं718', एपिग्रैफिया इंडिका, वॉल्यूम 4, पृ.29-32

18. दृष्टव्य, अग्रवाल, आर. सी., 'मारवाड़ की प्राचीन राजधानी - मण्डोर' नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष61, [1], सं.2013 पृ.27

19. ब्यूलर, जी., इण्डियन एनटीक्वेरी, वॉल्यूम5, पृ.180-183

20. कर्नल टॉड ,'एनाल्स एण्ड एण्टीक्विरीज ऑफ राजस्थान, पृ.625-626

21. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ.414

22.त्रिगुणायत, सतीश, प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म - एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण ,पृ. 56

23. सरकार, डी.सी., सेलेक्ट इंश्क्रिप्शंस, वाल्यूम 2, पृ.363-371

24. वही,

25. भण्डारकर, डी. आर., एपिग्रैफिया इंडिका., वॉल्यूम9, पृ.198-200

26. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द 'भारतीय प्राचीन लिपि माला ,' पृ . 63

27.पाण्डेय, राजबली ,' हिस्टोरिकल एंड लिट्रेरी इंस्क्रिप्शंस ' ,पृ.158-161

28. मुन्शी, देवीप्रसाद,मारवाड़ के प्राचीन लेख, पृ. 4-5; शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान के इतिहास के स्रोत, पृ. 57

29. मुंशी, देवीप्रसाद,वही, भण्डारकर, डी. आर., एपिग्रैफिया इंडिका, वॉल्यूम 9, पृ. 280

30.. इण्डियन एंटीक्वेरी, वाल्यूम 10, पृ. 34

31.. इन्द्र जी, भगवान लाल, एपिग्रैफिया इंडिका वाल्यूम 24, पृ. 331

32. सरकार, डी.सी., 'कामां इश्क्रिप्शन ऑफ हर्ष ईयर 263', एपिग्रैफिया इंडिका, वाल्यूम 36, पृ.53-56

33. बनर्जी, आर.डी., एपिग्रैफिया इंडिका,,वॉल्यूम22, पृ.120-127

34. मिश्र, आर.एल., इंस्क्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, वॉल्यूम3, पृ.191-192

35. व्यास, अक्षयकीर्ति, ' बिझोली इश्क्रिप्शन ऑफ चाहमान सोमेश्वर वि. सं. 1226', एपिग्रैफिया इंडिका, वॉल्यूम 26, पृ. 84 -112

36. गहलोत, एस. एस. एवं अन्य, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.100-103

37. श्री रतनचन्द्र अग्रवाल का शोध निबन्ध : महाराजा भर्तृपट्ट द्वितीय का अप्रकाशित लेख : शोध पत्रिका, भाग 8, अंक 1-2 पृ.55-57

38. वही,

39 ओझा, जी एच.,' प्रतापगढ़ इंश्क्रिप्शन ऑफ दि टाइम ऑफ (दि प्रतिहार) किंग महेन्दपाल 2 ऑफ महोदया', एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम14, पृ.176-188

40. श्यामलदास, वीर विनोद, भाग -1, पृ.381 एवं आगे

41. श्रीमाली, जी.एल., राजस्थान के अभिलेख , भाग -1, पृ.6-7

42. शर्मा, दशरथ, महाराजाधिराज सिंहराज और उनका थाँवले का लेख, वरदा5 (2) 1962, पृ.2-7

43. गहलोत, एस. एस. एवं अन्य, पूर्वनिर्दिष्ट,पृ.130-131

44. वही, पृ.133

45. श्यामलदास, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.381-383

46 कीलहर्न, एफ.,एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 2, पृ.116-130

47 रामकरण,'बीजापुर इंश्क्रिप्शन ऑफ धवल ऑफ हस्तिकुण्डी वि.सं. 1053',एपिग्रैफिया इंडिका ,वॉल्यूम 10, पृ. 17-24

48. वही,,वॉल्यूम 12, पृ. 61

49. गहलोत, एस. एस. एवं अन्य, पूर्वनिर्दिष्ट,पृ171-173

50. इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, 1911, पृ.175

51. श्रीमाली, जी.एल.., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 59

52. वही ,पृ. 69

53. ओझा, जी.एच., सिरोही राज्य का इतिहास, पृ.28-32

54. रामकरण, जर्नल ऑफ दि बॉम्बे ब्रांच ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, वॉल्यूम 23, पृ.75-80

55. रेऊ विश्वेश्वर नाथ ; ग्लोरीज ऑव मारवाड़ एण्ड दि ग्लोरियस राठौड़्स , पृ. 223

56. श्रीमाली, जी.एल., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 182

57. वही,पृ. 75-77

58 भण्डारकार, डी. आर.,' हाथीबाड़ा ब्राह्मी इश्क्रिप्शन एट नगरी ',एपिग्रैफिया इंडिका, वाल्यूम 11, पृ. 28-30

59 शर्मा, के. जी ., अर्ली जैन इंश्क्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, पृ.73

60. इण्डियन एनटीक्वेरी, वाल्यूम42, पृ. 41

61. ओझा , जी.एच., सिरोही राज्य का इतिहास, पृ.44-45

62. श्रीमाली, जी.एल., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ98-99

63. वही, पृ.101-102

64. वही, पृ.105-106

65. वही, पृ111-112

66 वही, पृ.1-2

67. द्रष्टव्य त्रिगुणायत एस.के., राजस्थान में भाषा एवं लिपि का विकास ,शोधक, वॉल्यूम

39 (मई - अगस्त 2009) , पृ. 146 - 148

68. अल्तेकर, ए.एस., ' नान्दसा यूप इश्क्रिप्शंस ',एपिग्रैफिया इंडिका , वॉल्यूम 27, पृ. 252 - 265

69. उपाध्याय, विभा, राजस्थान में वैदिक परंपरा के कतिपय आयाम, वैचारिकी, भाग 25, अंक 3, पृ. 8

70. फ्लीट , जे .एफ.भारतीय अभिलेख संग्रह भाग 3, पृ.

71. सरकार,डी.सी.,'टू इंश्क्रिप्शंस ऑफ गौरी',एपिग्रैफिया इंडिका ,वॉल्यूम 30,पृ.120-132

72. ओझा , जी. एच., भारतीय प्राचीन लिपि माला , पृ. 62

73. कीलहर्न, एफ.,' उदयपुर इंश्क्रिप्शन ऑफ अपराजित',एपिग्रैफिया इंडिका , वॉल्यूम 4, पृ.29-32

74. दृष्टव्य ,अग्रवाल .आर.सी. मारवाड़ की प्राचीन राजधानी मंडोर ,नागरी प्रचारिणी पत्रिका , वर्ष 61 अंक 1, संवत् 2013, पृष्ठ 27

75. सारस्वत रावत, दो प्रतिहार ताम्र लेख ,वरदा, वर्ष 28, अंक 3 (1985), पृ. 2 एवं आगे

76. भण्डारकर, डी.आर., जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, वॉल्यूम21, पृ.411

77. कीलहर्न , एफ., ' दौलतपुर प्लेट ऑफ भोजदेव (प्रथम)',एपिग्रैफिया इंडिका , वॉल्यूम 5, पृ. 211- 213

78. सोमानी,आर.वी. जैन इन्स्क्रिप्शंस ऑफ राजस्थान , परिशिष्ट 1,अभिलेख संख्या 2

79. ओझा ,जी.एच. भारतीय प्राचीन लिपि माला , पृ. 142 - 143

80. वाजपेयी , के. डी ., अग्रवाल , के. एल ., वाजपेयी , संतोष ,ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख, पृ.19

81. संतराम (अनु .) अलबेरूनी वर्णित भारत, प्रथम खंड , पृ. 119

82. सरकार , डी . सी . ,भारतीय पुरालिपि विद्या , पृ. 69

83. वाजपेयी , के .डी. अग्रवाल , के .के . एवं वाजपेयी , संतोष , पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 20

84. वही

85. पांडेय ,राजबली ,भारतीय पुरालिपि , पृ. 65

86. उद्धृत सरकार , डी . सी . पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 68

87. ब्यूलर, भारतीय पुरालिपि शास्त्र , पृ. 191 - 192

88. ओझा ,जी. एच ., भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ. 146

89. भट्ट, जनार्दन ,अशोक के धर्म लेख , पृ. 80

90. ओझा , जी . एच ., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 149 ,टिप्पणी 7

91. वही , पृ. 149 टिप्पणी 8

92. वही , टिप्पणी 9

93. वही , टिप्पणी 10

94. भण्डारकर, डी.आर., ' हाथी बाड़ा ब्राह्मी इंश्क्रिप्शन एट नगरी',एपिग्रैफिया इण्डिका , वाल्यूम 22, पृ. 198 - 205

95. हलदर, आर.आर.,' सामोली इंश्क्रिप्शन ऑफ दि टाइम ऑफ शिलादित्य', एपिग्रैफिया इंडिका, वॉल्यूम 20 ,पृ. 97 -99

96. कीलहर्न, एफ.,' उदयपुर इंश्क्रिप्शन ऑफ अपराजित', एपिग्रैफिया इंडिका, वॉल्यूम 4, पृ.29-32

97. श्रीमाली,जी.एल., पूर्वनिर्दिष्ट,पृ. 06 -07

98. सरकार, डी.सी., ' खण्डेला इंश्क्रिप्शन ऑफ ईयर 201',एपिग्रैफिया इंडिका , वॉल्यूम 35 ,पृ. 159 - 163

99. श्रीमाली , जी .एल., पूर्व निर्दिष्ट , पृ. 36 - 38

100. अल्तेकर, ए. एस., ' नान्दसा यूप इंश्क्रिप्शंस', एपिग्रैफिया इंडिका, वॉल्यूम 27, पृ. 252 –265

101. फ्लीट, जे.एफ., प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह भाग 3, पृ. 90-97

102. शर्मा, जी .एन., पूर्वनिर्दिष्ट , पृ. 51 -52

103. मजूमदार, आर.सी., ' जोधपुर इंश्क्रिप्शन ऑफ प्रतिहार बाउक: वि. सं. 894', एपिग्रैफिया इंडिका , वॉल्यूम 18 , पृ. 87 - 99

104. भडारकर, डी.आर., 'चाटसू इंश्क्रिप्शन ऑफ बालादित्य', एपिग्रैफिया इंडिका, वॉल्यूम 12 , पृ.10 -17

105. भंडारकर, डी .आर ., जनरल ऑफ बॉम्बे ब्रांच ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी , वॉल्यूम 22, पृ. 151

106. कीलहर्न, एफ., ' हर्ष स्टोन इंश्क्रिप्शंन ऑफ दि चौहन विग्रहराज: वि.सं. 1030', एपिग्रैफिया इंडिका , वॉल्यूम 2, पृ. 116 - 130

107. शर्मा , जी .एन., पूर्व निर्दिष्ट , पृ. 73 - 74

108. वही , पृ. 90 - 91
109. शारदा, हरविलास, अजमेर : हिस्टोरिकल एण्ड डेस्क्रिप्टिव , पृ. 138 टिप्पणी - 1
110. गहलोत, एस.एस. एवं अन्य , पूर्व निर्दिष्ट, पृ . 97
111. वही , पृ. 98
112. श्रीमाली , जी. एल., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 59
113. गहलोत, एस.एस. एवं अन्य पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 183
114. श्रीमाली, जी . एल, पूर्वनिर्दिष्ट , पृ. 99
115. गहलोत, एस.एस. एवं अन्य , पूर्वनिर्दिष्ट , पृ. 98 - 99
116. गहलोत,एस.एस. एवं अन्य, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 222
117. वही , पृ. 193
118. शोध पत्रिका, वर्ष 22, अंक 2 ,पृ. 69
119. भण्डारकर, डी.आर., एक्सक्वेशन्स एट नगरी, 1920, पृ.121 तथा आगे
120. अल्तेकर, ए.एस., ' नान्दसा यूप इंश्क्रिप्शंस', एपिग्रैफिया इंडिका, वॉल्यूम 27, पृ. 252-265
121. अग्रवाल,आर . सी . ,राजस्थान के यूप स्तंभ तथा वैदिक यज्ञ , नागरी प्रचारिणी पत्रिका , वर्ष 59 सन् 2011 ,अंक 2 , पृष्ठ 118
122. अल्तेकर, ए.एस.,' टू यूप इंश्क्रिप्शंस फ्रॉम बर्नाला', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 26, पृ. 118-123
123. फ्लीट, जे. एफ, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग-3, पृ. 316-318
124. शर्मा , जी .एन., पूर्व निर्दिष्ट , पृ. 45
125. भण्डारकर, डी.आर., ' घटियाला इंस्क्रिप्शंस ऑफ कक्कुक: संवत् 918',एपिग्रैफिया इंडिका , वॉल्यूम 9 ,पृ. 277 -281
126. वही,
127. शर्मा , जी .एन., पूर्व निर्दिष्ट , पृ. 238
128. मिश्र , आर . एल., इंश्क्रिप्शंस ऑफ राजस्थान , वॉल्यूम 3 ,पृ. 17 - 19
129. वही , पृ. 19-20
130. भण्डारकर, डी. आर ., जर्नल ऑफ दि बॉम्बे ब्रांच ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, वाल्यूम 21, पृ. 411

131. शर्मा , जी. एन ., पूर्व निर्दिष्ट , पृ. 238

132. ओझा,जी . एच., प्राचीन लिपि माला , पृ. 2-3

133. पाण्डेय, राजबली , भारतीय पुरालिपि , पृ. 167 -168

134. सरकार ,डी.सी., सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस , वॉल्यूम -1, पृ . 89 -90

135. गोयल , एस.आर., प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह , खण्ड 1 , पृ. 180 - 181

136. अल्तेकर,ए.एस .'नान्दसा यूप इंश्क्रिप्शंस', एपिग्रैफिया इण्डिका ,वाल्यूम 27 , पृ. 252 –265

137. अल्तेकर, ए . एस . ' टू यूप इंश्क्रिप्शंस फ्रॉम बर्नाला',एपिग्रैफिया इण्डिका , वाल्यूम 26 , पृ. 118 - 123

138. अल्तेकर, ए . एस. ' थ्री मौखरी इंस्क्रिप्शंस ऑन यूपस्', .एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 23 , पृ. 42-52

139. शर्मा , जी.एन ., पूर्वनिर्दिष्ट , पृ. 45

140. फ्लीट , जे . एफ., प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग 3 ,पृ. 90-97

141. अग्रवाल, आर .सी. नगरी का कृत् संवत् 481 का शिलालेख,वरदा 5 (3) 1962 पृ.2-3

142. मिश्र., आर . एल ., इंश्क्रिप्शंस ऑफ राजस्थान , वॉल्यूम 4, पृ. 26

143. वही , वॉल्यूम 3 , पृ . 191

144. रामकरण, ' बीजापुर इंश्क्रिप्शन ऑफ धवल ऑफ हस्तिकुण्डी वि. सं . 1053', एपिग्रैफिया इण्डिका , वॉल्यूम 10 , पृ.17-24

145. श्यामलदास , पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.381 एवं आगे

146. शर्मा , जी. एन ., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 65

147. ओझा , जी . एच ., सिरोही राज्य का इतिहास ,पृ. 28-32

148. सरकार, डी.सी., ' कामां इंस्क्रिप्शन ऑफ हर्ष ईयर 263', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 36, पृ. 53-56

149. सरकार, डी.सी., ' तसई इंस्क्रिप्शन ऑफ हर्ष ईयर 182',एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम, पृ. 49-51

150. सरकार ,डी .सी ., गुहिल्स ऑफ किष्किन्धा , पृ . 60 एवं 71

151. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, प्रथम भाग, पृ. 300-302

152. अल्तेकर, ए.एस., 'नान्दसा यूप इश्क्रिप्शंस,'एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 27, पृ. 252-265

153. फ्लीट, जे. एफ., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 316–318

154. शर्मा, जी. एन. पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 51-52

155. जैन, के. सी., एन्शेंट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ. 238

156. भण्डारकर,डी. आर., 'चाटसू इंश्क्रिप्शन ऑफ बालादित्य', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 12, पृ. 10-17

157. मजूमदार, आर.सी.,' जोधपुर इश्क्रिप्शन ऑफ प्रतिहार बाउक: वि.सं.894', एपिग्रैफिया इंडिका, वाल्यूम 18, पृ. 87-99

158. भण्डारकर,डी. आर.,' घटियाला इंस्क्रिप्शंस ऑफ कक्कुक: संवत् 918', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ. 277-281

159. ओझा, जी.एच., ' प्रतापगढ़ इंश्क्रिप्शन ऑफ दि टाइम ऑफ (दि प्रतिहार) किंग महेन्दपाल 2 ऑफ महोदया',एपिग्रैफिया इंडिका, वाल्यूम 14, पृ. 176-188

160. कीलहर्न, एफ., हर्ष स्टोन इंश्क्रिप्शन ऑफ दि चौहान विग्रहराज: वि. सं.1030', एपिग्रैफिया इंडिका, वाल्यूम 2, पृ. 116-130

161. व्यास, अक्षयकीर्ति, 'बिझोली रॉक इंश्क्रिप्शन ऑफ चाहमान सोमेश्वर वि०सं० 1226', एपिग्रैफिया इंडिका,, वाल्यूम 26, पृ. 84-112

162. भण्डारकर, डी. आर., अशोक, पृ. 245-246, 264-266.

163. राय, एस. सी., शुंग राजवंश एवं उनका काल, पृ० 21-25

164. वाजपेयी, के. डी. अग्रवाल , के. एल., वाजपेयी, सन्तोष, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ .104-115

165. मिराशी, वी. वी., सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास और अभिलेख, पृ. 36-44

166. गुप्त, पी.एल., प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग 2, पृ. 7-10

167. वही , पृ. 153 - 155

168. वही, पृ. 102 - 106

169. भण्डारकर, डी.आर., हाथीवाड़ा इंश्क्रिप्शन एट नगरी',एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 22, पृ. 198-205

170. अल्तेकर, ए.एस, ' नान्दसा यूप इंश्क्रिप्शंस,'एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 27, पृ. 252-265

171. शर्मा, जी. एन., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 51-52

172. मजूमदार, आर . सी., जोधपुर इंश्क्रिप्शन ऑफ प्रतिहार बाउक वि.सं. 894',

एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 18, पृ. 87-99

173 भण्डारकर, डी.आर.,‘ घटियाला इंस्क्रिप्शंस ऑफ कक्कुक: संवत् 918’, एपिग्रैफिया इंडिका, वाल्यूम 9, पृ. 277-281

174. भण्डारकर, डी. आर., अशोक, पृ. 263

175. अल्तेकर, ए.एस, ‘थ्री मौखरी इंस्क्रिप्शंस ऑन यूपस्’, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 23, पृ. 42-52

176 अल्तेकर, ए.एस., ‘नान्दसा यूप इंश्क्रिप्शंस’,. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 27, पृ. 252-265

177. फ्लीट, जे. एफ, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 316-318

178. वही, पृ. 90-97

179. जैन, के. सी., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 238

180. शर्मा, जी. एन. पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 82-83

181. भण्डारकर, डी.आर.,‘चाटसू इंश्क्रिप्शन ऑफ बालादित्य’, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 12, पृ. 10-17

182. मजूमदार, आर.सी., ‘ जोधपुर इंश्क्रिप्शन ऑफ प्रतिहार बाउक वि० सं० 894’, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 18, पृ. 87-99

183 भण्डारकर, डी. आर.,‘ घटियाला इंस्क्रिप्शंस ऑफ कक्कुक: संवत् 918’, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ. 277-281

184. मिश्र, आर. एल., पूर्व निर्दिष्ट, वाल्यूम 2, पृ. 19-20

185.व्यास, अक्षयकीर्ति, ‘बिझोली रॉक इंश्क्रिप्शन ऑफ चाहमान सोमेश्वर वि०सं० 1226’, इंडिका, वॉल्यूम 26, पृ. 84-112

186. द्रष्टव्य आसोपा, जे. एन. ओरिजिन्स ऑफ राजपूत्स

187. मिराशी, वी. वी., कामां स्टोन इंश्क्रिप्शन एपिग्रैफिया इंडिका, वाल्यूम 24, पृ. 329-336

188. ओझा, जी. एच., मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 41

189. मिश्र, आर. एल., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 26

190. भण्डारकर, डी.आर.,‘ घटियाला इंस्क्रिप्शंस ऑफ कक्कुक: संवत् 918’, एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम 9, पृ. 277-281

191. शारदा, हरविलास, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 138 टिप्पणी-1

192. भण्डारकार, डी. आर . जर्नल ऑफ बॉम्बे ब्रांच आफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, वॉल्यूम 22, पृ. 151

अध्याय - द्वितीय

संस्कृत अभिलेखों में उपलब्ध सांस्कृतिक जीवन की अवधारणा

अध्याय-द्वितीय

संस्कृत अभिलेखों में उपलब्ध सांस्कृतिक जीवन की अवधारणा

संस्कृति किसी भी राष्ट्र की उत्कृष्टतम विभूति होती है । राष्ट्र विशेष का जीवन - मरण, उसकी उन्नति - अवनति, उसकी प्रतिष्ठा - अप्रतिष्ठा सब कुछ उसकी संस्कृति पर ही आधारित होता है। जिस राष्ट्र की संस्कृति जितनी उदात्त होगी ,वह राष्ट्र उतना ही गौरवशाली बनता है। राष्ट्र की यह विभूति किसी एक युग की सम्पत्ति न होकर इसे हम युग - युग की गौरव-गाथा कह सकते हैं । वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक साहित्य तक इस शब्द का प्रयोग संस्कार, पवित्रता आदि अर्थों में ही गृहीत है। प्राकृतिक स्वभाव में परिष्कार ही संस्कृति है।

अपने दीर्घ अनुभव, तपःपूत ज्ञान और चिन्तन द्वारा भारत के आत्मदर्शी ऋषि मुनिगण इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि आत्मानुभव, आत्मसाक्षात्कार और आत्मदर्शन ही मानव - जीवन का परम प्रयोजन है। दृश्यमान जगत की संचारिका जो दिव्य, महनीय और अव्यक्त शक्ति है उसका उद्घाटन, अनुभव एवं धारण करने से ही मानव जीवन कल्याणकारी मेधा एवं वैभव से परिपूर्ण हो सकता है। उस अप्रतिम शक्ति का अन्वेषण एवं एकाकार ही मानव - जीवन का आदर्श एवं मूल है। इस साध्य की सिद्धि का मुख्य साधन है- धर्म। प्राचीन समय में संस्कृति के लिए अधिक व्यापक, उदात्त और गौरवमय जिस शब्द का प्रयोग किया जाता था , वह धर्म ही था । प्राचीन युग में जो भी कुछ संस्कृत , उदात्त, महान एवं महिमामय था, उसी को धर्म कहते थे। उसी के चिंतन, मनन और अनुशीलन में जीवन का सौंदर्य निहित था । लोक कल्याणकारी भावों से संवलित यही हमारी संस्कृति थी ।

शाब्दिक दृष्टि से देखें तो संस्कृति शब्द की निष्पत्ति 'सम्' उपसर्ग पूर्वक ' कृ ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' का आगम करके 'क्तिन' प्रत्यय से हुयी है। जिसका अर्थ है - भूषण भूत सम्यक् कृति । अतः सम्यक् शोभनीय कृति या आचार - विचार ही संस्कृति कही जा सकती है । सुसंस्कृत आचरण ही संस्कृति का मूल है। वस्तुतः संस्कृति शब्द का उद्गम संस्कार से ही हुआ है । अंग्रेजी में संस्कृति शब्द का समानार्थक शब्द है 'कल्चर ' । संस्कृति अथवा कल्चर शब्द मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों तथा उसके परिष्कार के घोतक हैं ।[1] अतएव संस्कृति का अभिप्राय वह शिक्षा - दीक्षा है, जिससे मनुष्य - जीवन सुन्दर से सुन्दरतम बने । वास्तविकता में संस्कृत्ति वह है जो सूक्ष्म एवं स्थूल, मन एवं कर्म, अध्यात्म जीवन एवं प्रत्यक्ष जीवन का कल्याण करती

है।[2] किसी देश की संस्कृति का अभिप्राय उसकी पुरानी परम्पराओं, प्रथाओं, रहन-सहन आदि हैं जो उस देश के मनुष्यों का चरित्र निर्माण करती हैं या उसके निर्माण में प्रभावशाली होती हैं । अस्तु इन सात्विक मूल्यादर्शों से युक्त जीवन - शैली ही सांस्कृतिक जीवन है।

भारतीय संस्कृति का ध्येय मनुष्य का आत्मिक विकास कर लोक से परलोक की साधना है । किसी भी समाज के विचार, भावना और आचरण में उसकी संस्कृति की सिद्धि परिलक्षित होती है । अनादिकाल से अक्षुण्व रूप से प्रवाहित भारतीय संस्कृति के स्वरूप की मूल अवधारणा को अगर एक वाक्य में कहें तो 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' के सिद्धान्त में सम्पूर्णता के साथ उसका दिग्दर्शन किया जा सकता है। संस्कृति की अभिव्यक्ति देश एवं समाज के धर्म , दर्शन, कला, साहित्य , भाषा , विज्ञान, सामाजिक आचार - विचार आदि से होती है । इन्हीं तत्वों से मूलभूत सांस्कृतिक प्रेरणा मूर्तरूप में ग्राह्य है ।

संस्कृति के साथ सभ्यता शब्द को जान लेना समीचीन एवं प्रासंगिक रहेगा । सामान्यतः बोलचाल में सभ्यता एवं संस्कृति को पर्याय रूप में ग्रहण कर लिया जाता है तथापि शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो दोनों में अन्तर को समझना आवश्यक है। जहाँ सभ्यता मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की तुष्टि हेतु किए गए प्रयासों की सिद्धि से सम्बन्धित है ,वहीं संस्कृति मनुष्य के मन की तुष्ट्यर्थ प्रयासों की सिद्धि और अभिव्यक्ति का नाम है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य ने अपनी असाधारण मेधा एवं क्षमताओं से उक्त दोनों ही क्षेत्रों में क्रमिक विकास किया है। अस्तु सभ्यता मनुष्य के भौतिक क्षेत्र एवं संस्कृति उसके मानसिक क्षेत्र की प्रगति को सूचित करती है। सरल शब्दों में मनुष्य के शरीर को सभ्यता और आत्मा को संस्कृति कहें तो अनुचित नहीं होगा । अतः सभ्यता व संस्कृति दोनों ही एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुए हैं कि उन्हें अलग करना कठिन है। सांस्कृतिक क्रिया - कलापों से सभ्यता विकसित होती है और संस्कृति के अभाव में सभ्यता का कोई अस्तित्व नहीं रह पाता । मानव समाज की समस्त आत्मिक तथा भौतिक उपलब्धियाँ सभ्यता तथा संस्कृति के अंतर्गत आ जाती हैं।[3]

भारतीय संस्कृति की धारा प्रारम्भ से अद्यतन अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही है जबकि पाश्चात्य संस्कृति विकृत होकर नष्ट प्रायः सी हो गयी है । इस कारण दोनों के मूलभूत अन्तर को जान लेना आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः मानवीय समाज में दो प्रकार की प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं - केन्द्रोन्मुखी एवं वृत्तोन्मुखी I[4] भारतीय संस्कृति अपने मूल रूप में केन्द्रोन्मुखी रही है, वह जगत में रहकर भी अंतस्थ और आत्मस्थ है जबकि पाश्चात्य संस्कृति वृत्तोन्मुखी अथवा बाहर की ओर जाने वाली है। दोनों की भिन्न प्रवृत्तियों के फलस्वरूप दो

सभ्यताओं का उदय हुआ । भारतीय संस्कृति आचरण प्रधान होने से उसमें अन्तः प्रवृत्तियों के उत्कर्ष पर जोर दिया गया । व्यक्ति में त्याग की भावना को विकसित किया क्योंकि आत्मशुद्धि और आत्मनियंत्रण के अभाव में, सामाजिक कल्याण एवं तदनुरूप आचरण असम्भव था। इसके विपरीत पाश्चात्य संस्कृति ने मनुष्य के सामूहिक सुधार पर जोर दिया । समाज सेवा उसका मुख्य उद्देश्य था । फलतः व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण में व्यापक अन्तर उसके ह्रास का कारण बना। जब व्यक्ति अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं से उदासीन एवं स्वदोष निवारण से पराङ्मुख होकर समाज के उद्धार हेतु प्रयत्नशील होता है ऐसी स्थिति में सभ्यता का भ्रष्ट और विकृत होना स्वाभाविक ही है। जब समाज का प्रत्येक घटक आत्मशुद्धि पर ध्यान देता है, स्वार्थवृत्ति पर नियन्त्रण रखता है, तब सम्पूर्ण समाज स्वतः स्वच्छ हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति चिरकाल से अद्यतन अबाध गति से प्रवहमान है। संस्कृति के सामंजस्य भाव की दृढ़ता के कारण अनेकानेक बाह्य आक्रमणों के बाबजूद यहाँ के दार्शनिक विचारों तथा सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं में अस्थिरता पैदा नहीं हुई । जीवन के चार उद्देश्य - धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की गरिमा और उनकी व्यवस्था सतत रूप से यहाँ के निवासियों की प्रेरक रही है। राजस्थानीय संस्कृति मूलतः भारतीय संस्कृति से इतर नहीं है।

इस अध्याय में राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन की अवधारणा का अवलोकन ऐतिहासिक एवं आभिलेखिक पृष्ठभूमि में करना हमारा मन्तव्य है। ध्यातव्य है कि संस्कृति की संज्ञा में उन मानवीय और आध्यात्मिक पहलुओं का सम्मिश्रण आवश्यक है जिसमें कला, साहित्य, धर्म, दर्शन तथा भौतिक एवं लौकिक - जीवन के उज्ज्वल पक्ष विद्यमान हैं। इन सभी पक्षों का दिग्दर्शन शाश्वत रूप से प्रवाहित युग - युगान्तर से प्रतिपादित परम्पराओं में आज भी प्राप्य है। इस सांस्कृतिक पक्ष की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें निहित श्रेय, सौन्दर्य और प्रेय के तत्व इतने प्रबल हैं कि सुदीर्घ कालक्रम के आरोह - अवरोह के उपरान्त भी नैतिक गुणों तथा संस्कारों की नई प्रेरणा देने की क्षमता अद्यतन विद्यमान है।

राजस्थान का प्रागैतिहासिक मानव भारत के मूल निवासियों के समान ही नदियों के किनारे, पर्वतीय कन्दराओं, उपत्यकाओं एवं वनाच्छादित भू - भागों में जीवन व्यतीत करता था । प्राचीनतम प्राप्त जीवाश्मों से सिद्ध होता है कि कम से कम एक लाख वर्ष पूर्व से यहाँ जीवन स्पन्दित था।

कालान्तर में पूर्व प्रस्तर और प्रस्तर युग में मनुष्य क्रमशः भद्दे और चमकीले पत्थर एवं हड्डी के औजारों का प्रयोग जंगली जानवरों के शिकार एवं लकड़ी काटने हेतु करने लगा। शनैः -

शनै: आवश्यकताओं के वशीभूत होकर, वह प्राकृतिक आतापों से बचने हेतु घास - फूस, मिट्टी, पत्थर आदि के उपयोग से परिचित होकर झोंपड़ीनुमा घर बना कर रहने लगा। [5] पशुपालन और खेती के लिए सहयोग की आवश्यकता को देखते हुए वह समुदाय में रहकर व्यवस्थित जीवन जीने की कला की ओर उन्मुख हुआ। धीरे -धीरे इन धुंधली एवं अंधकार पूर्ण अवस्थाओं से निकलकर नगर - निर्माण की कला का पल्लवन एवं तदनन्तर विकास हुआ । व्यावसायिक एवं व्यवस्थित जीवन के साथ ही धार्मिक भावनाओं ने जन्म लिया । फलस्वरूप मृतकों के प्रति श्रद्धा भाव, परस्पर सौहार्द्र एवं स्नेह और उदारमना प्रकृति के प्रति सहज श्रद्धा एवं आदर के भावों का स्फुरण हुआ। पुरावशेषों में प्राप्त हुए हव्य पात्रों से धर्म की मान्यता, खिलौनों से आमोद - प्रमोद प्रियता और फलकों पर प्राप्त चित्रांकन इस बात के द्योतक हैं कि उस समय मानव को रूप, सौन्दर्य एवं सौहार्द्र आदि का सूक्ष्म बोध अवश्य था। आहाड़ की भोजन एवं पाकशालाएं, कालीबंगा की नगर व्यवस्था सह जीवन के ही बोधक हैं। कालीबंगा एवं आहाड़ से प्राप्त सींगवाली आकृतियों, मुहरों, बर्तनों, धूपदानों आदि से स्पष्ट है कि राजस्थान बाहरी सभ्यताओं से परिचित था । [6]

सांस्कृतिक जीवन की विशेषताएं

विवेच्याधीन राजस्थान के अभिलेखों में उपलब्ध सांस्कृतिक जीवन को वर्ण व्यवस्था , आश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थ चतुष्ट्य, संस्कार, कर्म एवं पुर्नजन्म सिद्धान्त, दान, परोपकारी प्रवृत्ति, विविध पूजा - पद्धतियों आदि महत्वपूर्ण तत्वों में रूपायित किया जा सकता है।

वर्ण व्यवस्था

सामान्यतः वर्ण शब्द का अर्थ रंग है तथापि वैदिककाल से ही समाज में प्राप्त वर्ग विशेष को वर्ण शब्द से अभिहित किया जाता रहा है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'चत्वारो वर्णाः' का उल्लेख अनेकत्र प्राप्त है वहीं चार वर्णों का उल्लेख वैदिक काल से ही समाज में प्रचलित है। वर्णोत्पत्ति के विषय में प्राचीनतम प्रमाण ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में प्राप्त हैं -

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य : कृतः ।
उरु : तदस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रोऽजायत् ॥[7]

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को विराट पुरुष के क्रमशः मुख, बाहु (भुजा) , जंघा और पैरों से उत्पन्न बताया है। विष्णु पुराण में चातुर्वर्ण्य के उद्भव का प्रयोजन यज्ञ कार्य का संपादन स्वीकार किया है-

यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै ।

चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञ साधनमुत्तमम् ॥[8]

ग्रंथों में सत्व, रज और तम गुणों के आधार पर वर्णों का विभाजन स्वीकार किया है । सत्वगुण प्रधान को ब्राह्मण, रजो प्रधानता वाले को क्षत्रिय, तमस भाव प्रधान व्यक्तियों को वैश्य एवं तमस् गुण के बाहुल्य से युक्त व्यक्ति को शूद्र वर्ण में गिना गया। वैदिक काल में यह विभाजन गुण और कर्माश्रित था तथापि उन्हें एक समाज के अविभाज्य विविध अंगों में माना जाता था। एक ही परिवार में अनेक वर्ग एवं वर्ण के लोग रह सकते थे। जैसा कि ऋग्वेद में उल्लिखित अंगिरस के कथन से स्पष्ट है, ' मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं , मेरी माँ अन्न पीसने वाली है साधन मिन्न हैं किंतु सभी धन की कामना करते हैं । ' [9] वस्तुतः वैदिककाल में वर्णव्यवस्था में कर्म का विभाजन विद्यमान था । समाज के प्रमुख चार कार्य - संस्कृति , प्रशासन और सुरक्षा , उद्योग एवं श्रम के कर्ता ही क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय , वैश्य और शूद्र कहलाए । सामाजिक व्यवस्था में सेवक वर्ग से लेकर ज्ञान दाता तक सभी वर्णों की उपयोगिता थी एवं उचित स्थान प्राप्त था । इसमें समाज को गति देने वाले विचारक ब्राह्मण, सर्वसमुदाय के रक्षक क्षत्रिय, कृषि से अन्नोत्पत्ति एवं व्यापार से समाज का भरण - पोषण करने वाले अंग वैश्य तथा घरेलू सहायक शूद्र कहलाए। वर्णव्यवस्था का अध्ययन अध्याय तीन में विस्तारपूर्वक किया जाएगा।

आश्रम व्यवस्था

समाज एवं व्यक्ति दोनों का आत्मिक उत्थान भारतीय संस्कृति का आदर्श रहा है,तदर्थ सम्यक् जीवन यापन एवं कार्य परायणता हेतु समाज का विभाजन वर्ण व्यवस्था के रूप में हुआ , वहीं व्यक्तिगत जीवन के सुयोजन एवं क्रमबद्धता हेतु आश्रम व्यवस्था की अवधारणा मिलती है। वस्तुतः आश्रम शब्द का अर्थ है- ऐसा जीवन स्तर जिसमें व्यक्ति अथक परिश्रम करता है - आश्रम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः । वायुपुराण की स्पष्ट मान्यता है कि आश्रम व्यवस्थ्या की परिकल्पना मनुष्य के सम्यक कर्तव्यपालन की दृष्टि से की गई -

कुतः कर्माक्षिति प्राहुराश्रम स्थानवासिनः ।

ब्रह्मा तान् स्थापयामास आश्रमान्माम नामतः ॥

वहीं ब्रह्माण्ड पुराणानुसार आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य 'धर्म' है - वर्णानामश्रमाणां संस्थिति धर्मस्तथा । आश्रम धर्म की पालना सभी के लिए सुनिश्चित करने के अनेक विधान देखने को मिलते हैं। वायुपुराण में लिखा है कि आश्रम धर्म का पालन नहीं करने वाले व्यक्ति

कुम्भीपाक नरक में जाते हैं। मत्स्यपुराण में कथन है कि उन्हें कठोर यातनाऐं सहनी पड़ती हैं। वहीं आश्रम धर्म का पालन पुण्यलोकों की प्राप्ति का कारक है।[10] मनुष्य के सांसारिक एवं पारलौकिक जीवन के सुयोजन संपादन एवं उद्देश्यों की प्राप्त्यर्थ ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम,वानप्रस्थ और संन्यास अवस्था का निरुपण किया गया -

ब्रह्मचर्य परिसमाप्य गृही भवेद्,

गृही भूत्वा वनी भवेद्,

वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।

प्रथम आश्रम में अध्ययन, द्वितीय में परिवार का भरण-पोषण एवं अंतिम दो में पारलौकिक चिन्तन एवं विरक्ति तथा समाज सेवा द्वारा जीवन यात्रा की सम्पूर्णता सुनिश्चित थी।

इस व्यवस्था में निष्ठापूर्वक कर्तव्यपालन, त्याग और संयमित जीवन का परिपालन आश्रम के स्तरों में मूर्धन्य रहा है। इसका मूलाधार व्यक्तिगत और सामाजिक सेवा में निहित है। इसका सम्बन्ध मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक उन्नति से घनिष्ठ रहा है ।

राजस्थान में त्याग और बलिदान की जो लम्बी श्रृंखला प्राप्त है उसका मुख्य कारण यहाँ के निवासियों की कर्मठता, समाज और राष्ट्र के प्रति निष्ठावान होना है जो आश्रम व्यवस्था का मूल है।

अभिलेखीय साक्ष्यों मेंं इस विषय का अध्ययन चतुर्थ अध्याय में किया जाएगा।

पुरुषार्थ चतुष्ट्य

हमारे मनीषी ऋषिगण त्रिकालदृष्टा थे । उन्हें जीवन की विविध समस्याओं का गहन अनुभव था । मानव जीवन को संस्कारों से संस्कृत और यज्ञादि कर्मों से पोषित एवं पवित्र बनाने का कार्य सर्वभूतहिताय जीवन शैली का विकास ही था। संसार और जीवन के प्रति आश्वस्त होते हुए भी पुरुषार्थ चतुष्ट्य का सन्निवेश निस्संदेह लोकजीवन की साधना एवं परलोक की उपासना के बीच संतुलन बनाने वाला सिद्धान्त है। चिंतक मनीषी जन इस बात से भलीभांति अवगत थे कि अर्थ (धन) के बिना जीवन भार तुल्य है । काम की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती । अर्थ और काम संसार - चक्र की धुरी हैं । तथापि दोनों का स्वतन्त्र उपभोग संसार में मत्स्यन्याय जैसी स्थिति का कारक होगा ।अतः उन्होंने धर्म का अंकुश लगाकर धर्म साधन को ही मानव जीवन का लक्ष्य निश्चित कर दिया । धर्मोपेत अर्थ और काम का उपभोग स्वतन्त्र रुप से सभी के द्वारा सेवनीय

था। इससे संसार में स्थिरता और शान्ति की स्थापना हुयी । मनुष्य देह की नश्वरता और मृत्यु की निश्चितता को देखते हुए मोक्ष को परम पुरुषार्थ और जीवन का अंतिम लक्ष्य घोषित किया । जहाँ प्रथम तीन - धर्म, अर्थ और काम का संसार से सीधा सम्बन्ध है वहीं मोक्ष सभी प्रकार के दुखों से आत्यन्तिक मुक्ति का मार्ग है।

धर्म अपने आप में अतिव्यापक शब्द है । कर्तव्य, सदाचार, नीति, विधि -विधान, परोपकार आदि सभी सद्गुणों का समावेश इसमें हो जाता है। धर्म युक्त अर्थ का अर्जन, वर्धन और संरक्षण ही पालनीय है । इसी प्रकार धर्म पूर्वक धन का उपार्जन करते हुए सांसारिक विषय - भोगों का उपभोग ही काम है। मोक्ष अलौकिक है।

राजस्थान में अभिलेखों के संदर्भ में पुरुषार्थ चतुष्ट्य का विस्तारपूर्वक अध्ययन सामाजिक संस्थाओं के अन्तर्गत किया जाएगा।

संस्कार

समाज का मूल मनुष्य का ' स्व ' है ,यह अहमत्व भाव ही जीवन तथा उसकी समस्त प्रेरणाओं का आधार है। जगत के सारे सम्बन्ध आत्मरूप हैं, स्व के प्रति सहज प्रेम भाव ही संसार का आधार है। सामाजिक कल्याण या पुरुषार्थ की प्राप्त्यर्थ इस स्व का संस्कार करके इसे उच्च मनोभूमिकाओं पर स्थापित करने हेतु भारतीय संस्कृति में संस्कारों का निरूपण किया गया है। वस्तुतः संस्कृति संस्करण, शोधन, परिष्करण द्वारा बेहतरीन बनाने की प्रक्रिया है। संस्कार उसके साधन हैं। तन्त्रवार्तिक के अनुसार संस्कार वे क्रियाऐं हैं जो मनुष्य को योग्यता प्रदान करती हैं-

योगयतां चादधानाः क्रिया संस्कारा इच्युच्यन्ते । (तन्त्रवार्तिक)

शरीर की शुद्धि हेतु समय समय पर विधेय संस्कार मुख्य रूप से सोलह स्वीकृत किए हैं - गर्भाधान , पुंसवन, सोमन्तोन्नयन , जातकर्म ,नामकरण ,निष्क्रमण , अन्नप्राशन ,चूडाकरण , कर्णवेध , विद्यारम्भ ,उपनयन , वेदारम्भ , केशान्त ,समावर्तन , विवाह और अन्त्येष्टि ।

गर्भाधान से चूड़ाकरण तक आठ संस्कार सभी वर्णों के लिए आवश्यक माने गए हैं, वहीं द्विजातियों के लिए सोलह संस्कार अनिवार्यतः पालनीय हैं। मनुष्य जीवन को धर्मनिष्ठ, सुसंस्कृत एवं परिष्कृत करने के उद्देश्य से प्रचलित सोलह संस्कारों का अनुपालन राजस्थान में न्यूनाधिक रूप में पाया जाता है। जीवन के प्रारम्भ से लेकर मृत्यु पर्यन्त इनका अविरल संयोजन मनुष्य को अपने दायित्वों के प्रति सजग बनाए रखता है। संस्कारों के अवसर पर यज्ञ, दान और

देवोपासना का विधान समाज में आस्था और धर्म परायणता का उद्‌बोधक रहा है। आजकल राजस्थान में संस्कारों का निर्वहन कम एवं स्थिर अवश्य हुआ है तथापि अन्य प्रान्तों की अपेक्षा इनका महत्व आज भी कुछ हद तक अधिक विद्‌यमान है।

हमारे अध्ययन अपेक्षी अभिलेखों के आधार पर संस्कारों का वर्णन अध्याय चतुर्थ में सामाजिक संस्थाओं के अन्तर्गत किया जाएगा।

ऋण एवं पंचमहायज्ञ

देव, पितृ और नृ ऋण एवं पंच महायज्ञों की उदात्त भावना भारतीय संस्कृति के प्रकृति एवं प्राणीमात्र के प्रति कृतज्ञता के भाव की बोधक है । इन दोनों विषयों का अध्ययन चतुर्थ अध्याय में विस्तार से किया जाएगा।

धर्म की प्रधानता

मानव जीवन के विकास क्रम और सांस्कृतिक उद्‌वोधनों में धार्मिक प्रवृत्तियों और परम्पराओं की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। धार्मिक जीवन एक सामूहिक तत्त्व है जिसके अन्तर्गत विश्वास,आचार, विधि, धार्मिक मत - मतान्तर आदि समाविष्ट हैं। भारतीय संस्कृति की धर्म से भिन्न कल्पना भी असम्भव है। धर्म उसकी आत्मा है। लोक में अभ्युदय और परलोक में प्रेय दोनों धर्म से ही सम्भव हैं। अतएव धर्म अभ्युदय एवं निश्रेयस जीवन प्राप्ति का साधन है। भारतीय जनजीवन के कण -2 में धर्म नियामक रूप से विद्‌यमान है । कहीं आध्यात्मिक शक्ति के रूप में , कहीं विधि (कानून) के रूप में , कहीं रीति - रिवाजों के रूप में तो कहीं कर्तव्याकर्तव्य विवेचन में धर्म अपना स्थान बनाए हुए है। धर्म ही मनुष्य और पशुओं का विभेदक तत्व है -

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेष: धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥[11]

वस्तुतः धर्म बहुत व्यापक है । एक वाक्य में कहें तो इस लोक में अभ्युदय और आगे परम कल्याण की प्राप्ति के कारक तत्व ही धर्म है ।जिस प्रकार विविध देवी - देवताओं की उपासना का सांस्कृतिक महत्व है, उसी प्रकार देव स्वरूप,पूजा पद्धति , विधि विधानों के कारण तत्सम्बन्धी पन्थ होना स्वाभाविक ही है। वस्तुतः परम तत्व की साधना का पूजा - प्रक्रिया बाह्य साधन है और उस साधन को बताने वाली शक्ति आन्तरिक है ;जो किसी विशिष्ट विधि - विधान की सीमा तय करती है और ज्ञान का आधार बनती है । अतएव मानसिक विकास के लिए विविध धर्म - बन्धनों

और मतों का होना भी आवश्यक है। हम देखते हैं कि राजस्थान में वैदिक धर्म से लेकर वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर, जैन एवं बौद्ध सम्प्रदायों के द्वारा धर्म की अजस्र धारा प्रवाहित रही है। अष्टम अध्याय में इस विषय पर विस्तार से विवेचन किया जाएगा।

सहिष्णुता एवं समन्वयवादिता

भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य इसकी विविधता में एकता, उदारता अथवा सहिष्णुता में निहित है। विविधता में विद्यमान सांस्कृतिक एकता ने समूचे देश को एकसूत्रता प्रदान की है इस सांस्कृतिक एकता का आधार आध्यात्मिक आदर्श और साधना की सुदीर्घ परम्परा है।जिसका प्रभाव धार्मिक परम्पराओं में स्पष्ट परिलक्षित है। यहाँ समय - समय पर विविध धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्त तथा सम्प्रदायों का उदय होता रहा तथापि अधिकांश का मूलाधार मोक्ष और उसकी सिद्धि हेतु योग में निहित है। ऋग्वेद में कहा है कि - "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।" अर्थात् सत्य एक है किन्तु विद्वत्जन उसकी व्याख्या भिन्न - भिन्न रूपों में करते हैं। यही भाव गीता में श्रीकृष्ण ने व्यक्त किया है कि विभिन्न धर्म उन तक पहुंचने के भिन्न - भिन्न मार्ग हैं । जैन धर्म का स्यादवाद एवं सप्तभंगी नय का सिद्धान्त सहिष्णुता का अप्रतिम उदाहरण है। बौद्ध धर्मानुयायी सम्राट अशोक द्वारा स्थापित अभिलेखों में आदेश उत्कीर्ण करवाया कि लोगों को दूसरे धर्मों का आदर करना चाहिए | राजस्थान में भी इस प्रकार की राजाज्ञा का प्रसारण प्राप्त होता है जिनका अध्ययन धार्मिक जीवन के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक किया जाएगा।

सहिष्णुता के अनुकूल इस संस्कृति में सामाजिक समरसता एवं समन्वय की साधना अनेकता में एकता के बीच समानता इसकी अन्यतम विशेषता रही है। अति प्राचीन समय से ही अनेक जातियों, धार्मिक आस्थाओं के तत्व जैसे शक, हूण, पल्हव, कुषाणादि यहाँ आते रहे तथापि शनैः शनैः इनका पूर्ण भारतीय करण हो गया और सभी भारतीय संस्कृति द्वारा आत्मसात कर लिए गए । जितनी विदेशी जातियाँ आई वे सभी समाज का अंग बन गई।राजस्थान में भी बहुसंख्या में हूण आए किन्तु थोड़े ही समय में उनका स्थानीय युद्धप्रिय जातियों में इस प्रकार विलय हो गया कि उनको पृथक रूप में पहचाना जाना सम्भव नहीं है । अल्लट का हूण कन्या हरिया देवी से विवाह इसके प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में देखा जा सकता है।[12] सामाजिक समन्वय की इस प्रक्रिया ने सांस्कृतिक आदान - प्रदान की धारा को सतत प्रवाहित रख उसे शुद्ध बनाए रखने में बड़ा योग दिया । जिस प्रकार भारतवर्ष नदियों , पहाड़ों , तीर्थ स्थानों आदि सम्पदा से पवित्र रहा है, राजस्थान भी इन .प्राकृतिक विभूतियों से अपने देश का प्रतिनिधित्व करता रहा है। आदि

शंकराचार्य द्वारा स्थापित चार धाम जहाँ सांस्कृतिक एकता के प्रतीक हैं वहीं यहाँ पुष्कर जैसा तीर्थस्थान स्थानीय न होकर सम्पूर्ण देश का है । ऋषभदेव, नाथद्वारा आदि पवित्र तीर्थ भी भारतीय तीर्थ स्थान हैं। आबू का पर्वत पौराणिक काल से तपस्वियों और ऋषियों का आवास रहा है। सांस्कृतिक ऐक्य स्थापित करने में संस्कृत भाषा का महत्व नकारा नहीं जा सकता। भारतवर्ष में सांस्कृतिक विचारों का आदान - प्रदान पर्याप्त मात्रा में संस्कृत भाषा के माध्यम से ही होता रहा है। यद्यपि प्रारंभिक जैन और बौद्ध मतावलंबियों ने प्राकृत एवं पालि को ही मुख्य माध्यम बनाया किन्तु संस्कार तथा प्रसार की दृष्टि से उन्हें भी बाद में संस्कृत को अपनाना पड़ा । राजनैतिक अध्ययन एवं शासनतंत्र में भी संस्कृत व्यवहृत एवं उपयोगी भाषा थी । संस्कृत के पर्याप्त प्रचार प्रसार के परिणामस्वरूप दर्शन , धर्म , विज्ञान , भाषा . इतिहास और साहित्य सभी के स्रोत संस्कृत भाषा में ही हैं । प्रांत , जाति , संप्रदाय और बोली आदि का अतिक्रमण कर संस्कृत ने भारतवासियों को एक सांस्कृतिक सूत्र में गूंथने में महान योगदान किया है। राजस्थान के सांस्कृतिक एकीकरण में भी संस्कृत भाषा का अपूर्व योगदान है। ईसा पूर्व की प्रारंभिक शताब्दियों से प्रभूत मात्रा में प्राप्त संस्कृत शिलालेख इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि यह संस्कृति की अविरल धारा को प्रवाहित कर मरुधरा को अभिसिक्त कर रही है।

कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त

भारतीय संस्कृति में कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त अति महत्वपूर्ण है।भारतीय जनमानस सदैव ही संसार के कल्याणार्थ और अभ्युदय के चिंतन में संलग्न रहा है। सम्पूर्ण सृष्टि के मंगल की भावना से ओत - प्रोत वह निरन्तर कर्मपथ पर अग्रसर होता है। निस्संदेह क्रियाशीलता ही कर्म का आधार है। कर्म से हीन मनुष्य शव तुल्य ही है।

दार्शनिक जगत् में कर्म की गति विचित्र मानी गयी है। कर्म के रूप हैं - पुण्य और पाप । पुण्य कर्मों से जहाँ सुख की प्राप्ति होती है वहीं पाप कर्मों से दुख की । संसार के सभी जीव पुण्य-पाप रूप कर्मों को करते रहते हैं। कर्मानुसार ही फलप्राप्ति का विधान है।वैदिक कालीन ऋृषि भी कर्म की गति से परिचित थे। यजुर्वेद में कहा गया है - ' कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ' अर्थात् इस संसार में कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखें । जीवन की समस्त चेष्टाएं और स्वयं जगत भी इसी कर्म - गति का परिणाम है। सुख और दुख मनुष्य के कर्मजन्य फल हैं। पवित्र कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और पाप कर्म करने से दुख की प्राप्ति होती है। दुख

असहनीय एवं कष्टप्रद होता है अतः जीव पाप कर्मों से मुक्त्यर्थ शुभ कर्म करता है। देवताओं की स्तुति और यज्ञ कर्मानुष्ठान आदि करता है।

वेदों में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म माना गया है। यज्ञानुष्ठान से पाप कर्मों के फल का नाश होता है सद्कर्मों के फल का उदय होता है। वेदों में चोरी, व्यभिचार, छल, कपट, झूंठ, बलात्कार, हिंसा आदि निषिद्ध कर्म एवं देव आराधना एवं यज्ञानुष्ठान आदि पुण्य कर्म माने गए हैं। मनुष्य द्वारा किए गए कार्य ही उसके पुनर्जन्म के कारक हैं । शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि - ' तत्वज्ञानिनः सन्तो यज्ञान् यजन्ति ते मृत्युं प्राप्यामृतत्वाय कल्पन्ते ; ये तु तत्वज्ञान शून्या अयज्ञाश्च भवन्ति, ते पुनः पुनः मृत्योर्वशमापद्यन्ते ।' अर्थात् जो तत्वज्ञानी यज्ञ करते हैं और जो तत्वज्ञान से शून्य व्यक्ति यज्ञ नहीं करते वे बार - बार मृत्यु के बन्धन को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार कर्मफल के रूप में कर्म सिद्धांत एक जन्म से दूसरे जन्म तक प्रवाहित होता रहता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार एक जन्म के अन्त और दूसरे जन्म के प्रारम्भ के मध्य कोई व्यवधान नहीं रहता, एक कड़ी जुड़ी रहती है भले ही उसका ज्ञान हमें न हो । उपनिषदों की मान्यतानुसार मनुष्यों के लिए दो मार्ग हैं- एक देवयान दूसरा पितृयान । छान्दोग्योपनिषद के अनुसार जो श्रद्धा एवं तप में लीन रहते हैं, वे देहत्याग के पश्चात देवयान मार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक को जाते हैं ।उनका संसार में पुनरागमन नहीं होता । जो मनुष्य इष्टापूर्त यज्ञ आदि कर्मों में निरत रहते हैं एवं सदाचार का सेवन करते हैं वे देहत्याग के उपरान्त पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक को गमन करते हैं । चन्द्रलोक में उपार्जित पुण्यकर्मों के क्षय होने के पश्चात पुनः लौट कर अपने किए शुभाशुभ कर्मानुसार योनि को प्राप्त करते हैं । इससे स्पष्ट रुप से विदित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है और कर्म ही पुनर्जन्म के कारण बनते हैं।[13]

गीता में कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण कुछ न कुछ कर्म अवश्य करता रहता है। प्रकृति के गुण प्रत्येक मनुष्य को कर्म करने हेतु विवश करते रहते हैं । अर्थात् प्रकृति जन्य गुणों से परतन्त्र होकर मनुष्य को कुछ न कुछ कर्म करना ही पड़ता है। यदि कोई कर्म नहीं करता है तो उसके शरीर का निर्वाह भी संभव नहीं है । श्रीमद्भगवद् गीता में कहा है -

नियतं कुरु कर्मत्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥ [14]

मनुस्मृति में इन्हें प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग कहा गया है। मनु ने ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्मविधान किया है जिससे वह शुभकर्म करता हुआ परलोक का साधक बने ।[15]

जैन दर्शन के अनुसार ईश्वर विश्व का सृष्टा एवं नियंता नहीं है, वरन मनुष्य स्वयं अपना भाग्यविधाता है । वह अपने कर्म के लिए स्वयं उत्तरदायी है। उसे अपने अच्छे और बुरे कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ता है। कर्मों को बंधन का कारण मानने के कारण जैन दर्शन की आचारमीमांसा में 'त्रिरत्न' (सम्यक् दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक् चरित्र) के पालन का विधान किया है। जिनका सम्यक् पालन करने से मनुष्य बन्ध से मुक्त होकर मोक्ष का भागी बनता है।[16] बौद्ध दर्शन भी यथा कर्म तथा फल के सिद्धान्त को मानता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है तदनुसार वह फल का भोग करता है। उनका मत है कि मनुष्य अपने कर्मों के फल से अच्छा या बुरा जन्म प्राप्त करता है ।[17] जिस प्रकार जल प्रवाह में एक के बाद दूसरी लहर आती है और वह सक्रम रहता है, उसमें कहीं व्यवधान नहीं पड़ता, उसी प्रकार एक जन्म की अंतिम चेतना के विलय होते ही दूसरे जन्म की चेतना का उदय होता है। अतीत में किए कर्म मनुष्य के वर्तमान को एवं वर्तमान जीवन के कर्म उसके भविष्य के निर्माता होते हैं ।

सांख्य में कर्म को धर्म और अधर्म के रूप में परिभाषित किया है। सांख्यकारिका में लिखा है कि " धर्म के कारण ऊर्ध्व लोकों में पुनर्जन्म होता है और अधर्म से अधोलोक की प्राप्ति होती है। धर्म और अधर्म ही पुनर्जन्म के कारण हैं । ज्ञान से मोक्ष एवं अज्ञान से बन्धन की प्राप्ति होती है।[18] सांसारिक वस्तुओं को यथार्थ रूप में नहीं समझना ही अविद्या है। अविद्या से बन्धन प्राप्त होता है । श्री गौडपादाचार्य ने माण्डूक्यकारिका में लिखा है-" अविद्यास्तमयो : मोक्षः स च बन्ध उदाहृतः ।" अर्थात् अविद्या का नाश मोक्ष है और अविद्या ही का नाम बन्ध है। तत्वों के अज्ञान से ही बन्ध की प्राप्ति होती है। यह बन्धन तीन प्रकार का माना है- प्राकृतिक , वैकारिक और दाक्षणिक । जो प्रकृति को ही आत्मतत्व मानकर तत्सम्बंधी उपासना आदि कर्मों में लीन रहते हैं वे प्राकृतिक बंधन में बंधे रहते हैं। जो इन्द्रिय , मन आदि प्रकृति के विकारों (कार्यों में) आसक्त रहते हैं उन्हें वैकारिक बन्धन और जो आत्मचिन्तन से रहित होकर, फल की कामना से सकाम इष्ट और पूर्त कर्मों के संपादन में लगे रहते हैं उन्हें दाक्षणिक बन्धन प्राप्त होता है, क्योंकि वे सात्विक कर्मों का फल भोगकर मनुष्यलोक में पुनर्जन्म को ग्रहण करते है।

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

महर्षि पतञ्जलि ने तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को ' क्रियायोग ' कहा है। ' तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः । ' तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ही क्रियायोग है। क्रियायोग के अनुष्ठान से समाधि की सिद्धि तथा अविद्यादि क्लेशों की क्षीणता प्राप्त होती है।

न्याय वैशेषिक के अनुसार पदार्थों की गति का नाम ' कर्म ' है। " एकद्रव्यमगुणं संयोग विभागेष्वनपेक्ष कारणमिति कर्मलक्षणम् ।[19] अर्थात् जो द्रव्य में समवेत रहता है , गुण से भिन्न होता है और संयोग - विभाग का साक्षात् कारण होता है, उसे कर्म कहते हैं। न्याय वैशेषिक के अनुसार समस्त कर्मों का मुख्य प्रयोजन सुख प्राप्ति एवं दुख निवृत्ति है ।[20] मीमांसकों के अनुसार कर्तव्य का एकमात्र स्रोत वेदवाक्य हैं। वेद विहित कर्तव्य कर्मों का आचरण करना धर्म है। मीमांसाकों का कथन है कि सकाम कर्मों के अनुष्ठान से पुण्य होते हैं और निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से दुख निवृत्ति, बन्ध मुक्ति और निरतिशय सुख की प्राप्ति होती है।

अद्वैत वेदांती ब्रह्मविद्या की प्राप्त्यर्थ कर्मानुष्ठान की बात करते हैं। कर्म दो प्रकार के हैं- शुभ कर्म और अशुभ कर्म । शुभकर्मों से पुण्यार्जन एवं अशुभ कर्मों से पाप की प्राप्ति होती है।

विवेच्यकालीन अभिलेखों के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जनसामान्य में शुभकर्म करने वाला पुण्य एवं अशुभ कर्म कर्ता पाप का भागी बनता है की धारणा दृढ थी , इसलिए मनुष्य जनोपयोगी कार्य करते हुए यश एवं पुण्य की प्राप्ति के प्रति प्रयत्नशील रहता था। कृत संवत् 282 के नान्दसा यूप लेख से विदित होता है कि मालव नेता श्री सोम ने सुन्दर कर्मों की सम्पदा से उत्पन्न समृद्धि से आत्म सिद्धयर्थ विविध परोपकारी कार्य संपन्न किए ।[21] संवत् 480 के गंगधार शिलालेख में उल्लेख है कि राजा के सचिव मयूराक्षक ने पुण्यार्जन हेतु सोपान युक्त कूप निर्माण का शोभन कार्य किया ।[22] . संवत् 718 के कुंडेश्वर शिवमंदिर शिलालेख[23] में उल्लेख है कि जीवन की क्षण भंगुरता एवं संसार की असारता को देखकर सेनापति वराह सिंह की पत्नी यशोमती ने पुण्य एवं मोक्ष की प्राप्ति हेतु विष्णु के मंदिर का निर्माण करवाया था। इसी प्रकार भंभुक की पत्नी ने अनेक जन्मों तक पुनः -2 आवृत्त होने वाले संसार के कष्ट हरण हेतु परमेश्वर की पूजा एवं देवमंदिर की स्थापना की थी।[24] 746 के झालरापाटन अभिलेख[25] में अंकित है कि दुर्गगण के सामन्त वोप्पक ने जरावस्था एवं वियोगजन्य दुखों को देखकर धर्म ही एकमात्र सहायक एवं परलोक गामी है के आधार पर शुभ आचरण पर बल दिया । संवत् 870 के चाटसू लेख[26] में उल्लेख है कि गुहिलवंशी कृष्णराज शुभकर्मों का संपादक था। हर्षनाथ लेख[27] के अनुसार शुभकर्म पुण्य प्रदाता हैं । सुन्दर पुष्पों से भगवान शंकर की पूजा और गायों को जल पिलाना दोनों कार्य पुण्यार्थ सारभूत हैं। संवत् 1066 के नागौर लेख [28] से विदित होता है कि सन्तर के पुत्र सावक ने किसी जनोपयोगी भवन का निर्माण करवाया था । इससे स्पष्ट होता है कि समाज में कल्याणकारी कार्यों के प्रति रूचि थी । इसी प्रकार लाण बावड़ी प्रशस्ति [29] से ज्ञात होता है कि वदनगर के निवासी स्वकर्तव्यों में तत्पर एवं धर्मपरायण थे । वे अपने शुभ गुण कर्मों से तीनों

लोकों में प्रसिद्ध थे। अभिलेखों में प्राप्त यज्ञ, दान एवं परोपकार की प्रवृत्ति से स्पष्ट है कि शुभकर्म पुण्य प्रदाता थे एवं अशुभ पाप के । कर्म के साथ पुनर्जन्म के प्रति आस्था विद्यमान थी । वि .सं .746 के झालरापाटन अभिलेख[30] में उल्लेख है कि दुर्गगण की विशिष्ट शरीर आकृति को देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो कामदेव ने पुनर्जन्म लिया हो। इसी प्रकार चाटसू लेख में उल्लेख है कि श्रीमान् गुहिल में कामदेव की आशंका होती है। गुहिल के व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए लिखा है कि युद्ध भार को वहन करने में समर्थ, अस्त्रविद्या के ज्ञाता, यशस्वी नरदेव को पूर्वजन्म के शत्रुओं का मानो स्मरण होने से उनके विनाश हेतु धनुष धारण किया हुआ है। संवत् 1102 के भडूंद लेख[31] में पुण्य एवं यश हेतु बाबड़ी निर्माण के साथ ही अगले जन्म का उल्लेख एवं छः कर्म कर्ता अम्बादित्य का उल्लेख इस बात का बोधक है कि तत्कालीन समाज में कर्म एवं पुनर्जन्म के प्रति दृढ़ आस्था विद्यमान थी । लेखों में उल्लेख है कि विविध यज्ञ कर्मों का संपादन करते हुए वह इहलोक एवं परलोक की सिद्धि करता था जिनका विस्तारपूर्वक अधययन यज्ञों का महत्व के अन्तर्गत किया जाएगा ।

अवतारवाद

भारतीय संस्कृति में अवतारवाद अपना अप्रतिम वैशिष्ट्य बनाए हुए है। बौद्ध और जैन जैसे नास्तिक धर्म भी इस तत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सके । धर्म - सिद्धयर्थ मानव इस भवसागर में जीवात्मा के रूप में उत्पन्न होता है तथापि सांसारिक विषय - उपभोगों में आसक्त हुआ पापाचरण में प्रवृत्त हो जाता है। जब पृथ्वी पर पाप कर्मों का बाहुल्य हो जाता है, तब धर्म विच्छिन्नता की स्थिति में ईश्वर धर्मस्थापनार्थ इस संसार में अन्यान्य रुपों में अवतरित होकर धर्म की स्थापना करते हैं। अवतार का उद्देश्य अति पवित्र एवं व्यावहारिक है। गीता में श्रीकृष्ण का संदेश है कि- यदा

- यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधुनाम् विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे - युगे॥[32]

जगत में धर्म की स्थापना, ज्ञान के संरक्षण, भक्तों के परित्राण तथा आततायी असुरों के संहार हेतु ईश्वर इस भूतल पर बार - बार अवतरित होते हैं। ये अवतार दिव्य, सच्चिदानन्दमय एवं परम मंगलमय हैं - अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः । शास्त्रों में दशावतार माने गए हैं- 1 मत्स्य 2. कच्छप 3. वराह 4. नृसिंह 5. वामन 6. परशुराम 7. श्रीराम 8. कृष्ण 9. बुद्ध 10. कल्कि

इनके साथ ही कहा जाता है कि नर-नारायण, सनकादि, कपिल, धन्वन्तरि, हयशीर्ष, व्यास भगवान के ये अवतार विश्व में ज्ञान परम्परा की रक्षा, प्रसार तथा उसके आदर्श संस्थापनार्थ हुए। असुरों को मोहित करने के लिए मोहिनी रूप धारण किया । अस्तु धर्म के संकट की स्थिति में ईश्वर सशरीर अवतरित होकर धर्म की स्थिति सुनिश्चित करते हैं । प्रजा में धर्म के प्रति आस्था एवं विश्वास को अटूट बनाते हैं। धार्मिक कृत्य यज्ञ, दान , जप , तप आदि में श्रद्धा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। श्रद्धा के बिना किए पुण्य कार्यों की सिद्धि नहीं मानी है।

विवेच्यकालीन अभिलेखों में 12वीं शताब्दी के अजमेर अभिलेख[33] में ही एक साथ दशावतारों का उल्लेख हुआ है। अन्य लेखों में भी यत्र - तत्र अन्य अवतारों का उल्लेख प्राप्त है यथा गंगधार लेख [34] में श्रीराम, कुंडेश्वर शिवमंदिर अभिलेख[35] में कृष्ण , कोशवर्धन लेख में[36] बुद्ध, मण्डोर से प्राप्त लेख[37] में विष्णु वंदना के साथ ही कृष्ण की राधा तथा गोपियों सहित गोकुल में केलि (क्रीड़ा) तथा वामन, वराह एवं नृसिंह अवतारों का उल्लेख प्राप्त होता है। चाटसू लेख [38] में वामनावतार, घटियाला लेख में [39] राम, भर्तृपट्ट के आहड़ अभिलेख[40] में आदिवराह अवतारी विष्णु, ओसियाँ लेख[41] में रावण हन्ता राम, लाण प्रशस्ति[42] में कृष्ण रूप धारी विष्णु, भड़ूंद लेख[43] में राम, संवत् 1136 के अर्थूणा शिव मंदिर लेख[44] में त्रिविक्रम रूप वामनावतार और नृसिंह एवं संवत् 1173 के पालड़ी लेख[45] में कलिकाल, वराह, नृसिंह का उल्लेख इस बात को पुष्ट करते हैं कि अवतारों के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास का भाव था। कालान्तर में लोकदेवता अवतार का भाव भी देखने को मिलता है।

प्राचीन राजस्थान में धर्म की स्थिति सम्यक थी लेकिन धीरे धीरे परम्परागत धर्म में कर्म के स्थान पर कर्मकाण्ड की प्रबलता ने सामाजिक विसंगतियों को जन्म दिया । तत् परिणामस्वरूप अनेक चिन्तकों एवं समाज सुधारकों का जन्म हुआ। उन्होंने रूढ़िगत अंधविश्वासों से उठकर धर्म में उत्पन्न होने वाले विकारों को भक्ति द्वारा परिमार्जित करने का कार्य किया । भजन, मनन, चिंतन, कीर्तन आदि साधनों से ईश्वर में भक्ति -भाव पैदा किया । इस प्रकार के सुधारों को भक्ति आंदोलन और धार्मिक सुधारों के नाम से जाना गया । एतदर्थ जिन महापुरुषों ने त्याग और आत्मबलिदान से मातृभूमि की सेवा , नैतिक आचरण और लोकोपकारी कार्य किए उनमें जन सामान्य ने देवत्व का आरोपण किया । उनको समाज में आदर, सम्मान के साथ पूजन और मनौती की प्रथा को जन्म दिया । कालान्तर में ये लोकदेवों के रूप में संज्ञित हुए । स्थानीय जनों में ये अवतारी पुरुष सहज श्रद्धा से पूज्य एवं वन्दनीय थे। राजस्थान में लोकदेवों में गोगाजी, जम्भोजी, मीराबाई, दादू, रामचरण जी, रैदास आदि मान्य हैं। इन संतों के अथक परिश्रम

से जाति भेद, कर्मकाण्डीय प्रपंच, धर्माधिकारियों के विशेषाधिकार मंद हुए और नैतिक आचरण, सदाचार, भक्ति, साधना का प्रसार हुआ । नवजागरण के उदय से वर्ग एवं जातीय विद्वेष से ऊपर उठकर मानव एक सूत्र में गठित हुआ । इन पंथों में एक आध्यात्मिक स्वर था जिसमें जिज्ञासु एवं भ्रान्तों के लिए शांति का मार्ग सुलभ किया । स्थानीय जन जीवन में ये लोकदेवता आज भी लोकावतार के रूप में पूज्य हैं।

यज्ञों का महत्व

भारतीय जनमानस धर्म से अनुप्राणित होने के कारण भारतीय संस्कृति में यज्ञों का महत्व प्रारंभ से ही रहा है । प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धा एवं आस्था रही है । वैदिकीय धर्म प्रकृति में देवत्व का आरोपण करता रहा है यही कारण है कि प्रकृति के विविध उपादान यथा - पृथ्वी , जल, तेज, वायु ,आकाश (पंचमहाभूत) आदि की देव रूप में आराधना की जाती रही है। वैदिक पुरुष ने अपने जीवन में जिसको भी उपादेय देखा उसी के प्रति कृतज्ञता से नत हुआ और उसका मन ऋणी एवं दास हो गया । उसकी इस आस्तिक भावना के परिणामस्वरूप प्राकृतिक उपादानों के दातव्य भाव ने उसके मन में देव भाव की उत्पत्ति की और धीरे -धीरे दैव संस्कृति का विकास हुआ । फलस्वरूप वेदों में विविध सूक्तों यथा -पृथ्वी , इन्द्र, अग्नि, रुद्र, मरुत्, वरुण, उषस्, सविता, पर्जन्य आदि के द्वारा अपनी आस्था और आराधना को व्यक्त किया |

"यज्ञो वै श्रेष्ठतमम् कर्म "अर्थात् श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है। ' प्रजापति वैं यज्ञः' और विष्णु वैं यज्ञः वाक्यों से सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृति में 'यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म और श्रेष्ठ कर्म को ही ईश्वर का प्रतीक माना जाता था। वस्तुतः स्वयं के हित का त्याग करते हुए परार्थ की भावना के साथ परोपकार एवं स्वकर्तव्यों का सम्पादन यज्ञ के ही अंतर्गत आ जाते हैं। वैदिक धर्म में यज्ञ का अप्रतिम महत्व एवं स्थान रहा है।

ऋग्वेदानुसार संसार की उत्पत्ति यज्ञ से हुयी एवं यही मनुष्य का प्रथम और मुख्य कर्म है। गीता का मत है कि ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड के साथ ही यज्ञ को उत्पन्न किया और उपदेश दिया कि इसके द्वारा तुम नये - नये पद्वार्थों की प्राप्ति एवं अभिलाषाओं की पूर्ति करोगे।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच् प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टाकामधुक् ।।

धर्मशास्त्र के अनुसार[46] यज्ञ संसार तथा स्वर्ग दोनों में दृश्य तथा अदृश्य पर, चेतन तथा अचेतन वस्तुओं पर अधिकार पाने का साधन है, जो इसका ठीक प्रयोग जानते हैं तथा विधिवत् इसका सम्पादन करते हैं, वास्तव में वे इस संसार के स्वामी हैं । यज्ञ को एक प्रकार का ऐसा यन्त्र समझना चाहिए जिसके सभी पुर्जे ठीक- ठीक स्थान पर बैठे हों; या यह ऐसी जंजीर है जिसकी एक भी कड़ी कम न हो; या यह ऐसी सीढ़ी है जिससे स्वर्गारोहण किया जा सकता ; या यह एक व्यक्तित्व है जिसमें सारे मानवीय गुण हैं। यज्ञ काम्य और निष्काम्य भेद से दो प्रकार के कहे जा सकते हैं। भिन्न - भिन्न अभिलाषाओं की पूर्त्यर्थ भिन्न - 2 यज्ञों का विधान मिलता है। अतः जितनी कामनाऐं हो सकती हैं , काम्य यज्ञों की संख्या भी उतनी हो सकती है - एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।

कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥[47] निष्काम यज्ञों की संख्या गीता में तेरह बतायी गयी है - ब्राह्मणार्पण, दैव, ब्रह्माग्नि, संयमाग्नि, इन्द्रमाग्नि, योगाग्नि, द्रव्य, तपोयज्ञ, योग, स्वाध्याय, ज्ञान, प्राणायाम और प्राणयज्ञ[48] इन सभी में ज्ञान यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है - " सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते "

वैदिक यज्ञ श्रौत और गृह्य भेद से दो प्रकार के हैं इनके भी अनेक भेदोपभेदों का उल्लेख मिलता है।आर्यों के सरस्वती एवं दृषद्वती नदियों के निकट निवास के साथ ही राजस्थान में जहाँ बाह्य संस्कृतियों का संस्पर्श एवं समागम हुआ वहीं वैदिक चिन्तन एवं प्रक्रियाओं का विस्तार भी हुआ । देवाराधन एवं यज्ञों को लेकर मंत्रोच्चारण और क्रमशः हवन, स्तुति आदि का भी जीवन में समावेश हुआ । राजस्थान के निवासियों का जीवन वेदों में प्रतिपादित आस्तिक विचारों और धार्मिक चेतना से प्रभावित होने लगा । यज्ञों का सम्पादन, इन्द्र , वरुण, सूर्य, ब्रह्मा और सोम की आराधना का सूत्रपात यहीं से शुरू हुआ । यज्ञों को सम्पत्ति एवं आजीविका का आधार, बुद्धि का प्रकाशक एवं प्रभुत्व प्रदायक मानकर महत्व दिया जाने लगा। मनुष्य और देवताओं के मध्य यज्ञ योजक कर्म था। देवताओं को प्रसन्न करने हेतु यज्ञ के माध्यम से हविष् समर्पित किया जाता था एवं सोमयज्ञ में सोमरस के अर्पण का विधान था। दैनिक यज्ञों में अग्निहोता एवं पंचमहायज्ञ महत्वपूर्ण थे। सोमयज्ञ एक प्रकार से अश्वमेध यज्ञ ही था जिसे सार्वभौमिक राजा द्वारा संपन्न किया जाता था। इस यज्ञ में विशिष्ट प्रकार के अश्व अंगों की आहुति दी जाती थी । यह अश्व विभिन्न दिशाओं में घूमने के उपरान्त यजमान के निकट लौट आता था। अग्निष्टोम, वाजपेय, पुरुषमेघ आदि यज्ञों का प्रचलन एवं मान्यता समाज में थी । ई.पू . द्वितीय शताब्दी के नगरी (चित्तौड़) से प्राप्त घोसुण्डी शिलालेख[49] से विदित होता है कि गाजायन वंशीय राजा सर्वतात् ने

अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन किया था। हमारे अध्ययन कालीन समय के राजस्थान में वैदिक यज्ञों की परम्परा काफी समृद्ध रही है जिनका वर्णन सामाजिक संस्थाऐं नामक अध्याय के अन्तर्गत पंचमहायज्ञों के साथ किया जाएगा।

व्रत एवं पर्व

भारतीय संस्कृति का परम लक्ष्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास एवं पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति रहा है। चतुर्विध पुरुषार्थ स्वस्थ और सुदृढ़ शरीर से ही सम्भव है - धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् । महाकवि कालिदास ने कुमार संभवम् में लिखा है -' शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ' अर्थात् शरीर ही धर्म पालना का परम साधन है ।[50] यद्यपि पाञ्चभौतिक शरीर नश्वर है तथापि अनमोल और रक्षणीय है। लोक एवं परलोक की उपासना शरीर से ही सम्भव है । हमारे परम मनस्वी पूर्वजों ने व्रत, उपवास एवं पर्वादि का प्रवर्तन कर इन्हें जीवन का अभिन्न अंग बनाया । इससे स्पष्ट है कि वे इनके गूढ़, लाभप्रद तत्वों से परिचित थे। वास्तव में व्रत प्राणिमात्र विशेषतया मनुष्यों के लिए अति उपयोगी हैं। तत्वदर्शी सुधिजनों ने इनमें सैकड़ों विज्ञान सम्मत तत्वों का समावेश कर दिया है । दूर दराज गाँव में रहने वाला सामान्य व्यक्ति भी जानता है कि अरुचि, अजीर्ण, उदरशूल, ज्वर, मलावरोध आदि रोगों से लेकर कुष्ठ, जलोदर, क्षयादि बीमारियां भी व्रत, उपवास से दूर की जा सकती हैं। इनसे मनुष्य अपने पापों से भी मुक्ति प्राप्त कर सुखी जीवन की अनुभूति करता है। भारतवर्ष में व्रतों का महत्व सर्वत्र विद्यमान है। इनके सर्वव्यापी गुणों के कारण सभी नर - नारी सूर्य, सोमादि एकभुक्त व्रतों से लेकर एकाधिक कई दिनों तक के कष्टसाध्य व्रतों उपवासों को पूर्ण श्रद्धा से सम्पन्न करते हैं।

व्रतों के सम्पादन से आत्मा शुद्ध एवं निर्मल होती है और मनुष्य में आत्मबल का संचार होता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति व्यापार, कला-कौशल, व्यवहार कुशलता का सफल संपादन उत्साह एवं ओजपूर्वक करता है, अस्तु सुखमय दीर्घजीवन के आरोग्य साधनों का स्वतः संचय हो जाता है।

व्रत और उपवास दोनों ही मानसिक स्वच्छता एवं शारीरिक सुदृढ़ता के आधार हैं । वस्तुतः दोनों एक ही हैं । भोजन की ग्राह्यता ही इनकी विभाजक रेखा है। व्रत में जहाँ एक बार भोजन का विधान है वहीं उपवास निराहारी ही सम्पन्न होता है। मनुष्य मनसा , वाचा, कर्मणा शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त हुआ पाप और पुण्य का भागी बनता है। पापों के निवारणार्थ वह कायिक, मानसिक और वाचिक व्रतों का सम्पादन करता है। पुण्य संचयार्थ नित्य, पापादि क्षयार्थ नैमित्तिक एवं सुख

सौभाग्य वर्धनार्थ काम्य व्रत स्वीकृत किए हैं। विशेष भोजन या पूजाविधि से निर्देशित व्रत प्रवृत्तिरूप एवं उपवासादि से विहित निवृत्ति रूप कहे जाते हैं । धर्मशास्त्रों में तिथि, वार, मास, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, संवत्सर आदि के आधार पर विविध व्रतों का विधान सुनिश्चित है।

सामान्यतया व्रत का एक अर्थ है - नियम । अखिल ब्रह्माण्ड ऋृतमय है उसका उल्लंघन और असंतुलन विपदाओं का आमंत्रण है। ।अतः जीवन के नियमन एवं सुव्यवस्थित करने में व्रत उपवासादि का महत्वपूर्ण योगदान है। निरुक्तकार ने व्रत को कर्म अर्थ में स्वीकार किया है," श्री दत्त " ने अभीष्ट कर्म में प्रवृत्त होने के संकल्प को व्रत बतलाया है।[51] व्रत ऐसा कर्म विधान है जिससे बहुत से प्रयोजन स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

हमारे अध्ययन कालीन अभिलेखों में व्रत संकल्प रूप में ही दृष्टिगत होते हैं। लोककल्याण के भाव से राजा, श्रेष्ठ जन और सामान्य जन के द्वारा विशिष्ट तिथियों पर दानादि की शिवसंकल्पना लेखों में प्राप्त है । व्रतों का पालन समभाव से सभी के द्वारा किया जा सकता है। शास्त्रानुसार वर्णाश्रम के आचार -विचार में निरत, निष्कपट, निर्लोभ, सभी के हितचिंतक , वेदानुयायी , बुद्धिमान एवं पूर्व निश्चयोपरान्त यथेष्ट कर्म संपादक मनुष्य व्रत के अधिकारी हैं।[52] उक्त गुणों से युक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्गों के स्त्री पुरुष समान रूप से व्रत के अधिकारी हैं। व्रतों के साथ - साथ पर्व प्रियता भारतीय संस्कृति की अनूठी देन है। पर्व का अर्थ है - जोड़ना । प्राकृतिक संधियाँ यथा अमावस्या, पूर्णमासी दोनों ही तिथियाँ मनुष्य के लिए उत्सव हैं ; ' जहाँ अमावस्या को पितरों को तर्पण कर वह पूर्वजों के आदर्शों से एकाकार होता है वहीं पूर्णिमा आदि पर सामाजिकों के साथ समरसता की अनुभूति करता है। वस्तुतः व्रत और पर्व दोनों का उद्देश्य सबका कल्याण है।

विवेच्यकालीन अभिलेखों का अध्ययन करने से विदित होता है कि सामाजिकों में इनके प्रति आस्था थी। प्राप्त शिलालेखों तथा यूप लेखों से विदित होता है कि पूर्णिमा पर्व के अवसर पर हवन ,यज्ञ एवं दानादि कर्म किए जाते थे। संवत् 284 के यूप लेख[53] में लिखा है कि चैत्र पूर्णिमा को यज्ञ कार्य संपन्न कर यूप स्थापित किया था । संवत् 321 के विचपुरिया यूप लेख[54] में उल्लेख है कि अहिशर्म जो धरक का पुत्र था ने फाल्गुन माह की पूर्णिमा को पुण्य वर्धन हेतु यज्ञ कार्य एवं दान कार्य किया था । इसी प्रकार बर्नाला से प्राप्त लेखानुसार धर्म की वृद्धि हेतु पंचदशी के दिन भट्टनामक ब्राह्मण ने यज्ञ एवं गोदान किया ।[55] प्रतापगढ संवत् 1003 के लेख[56] में उल्लेख है कि मीन संक्रान्ति के दिन महाकाल मन्दिर में पूजा करने के पश्चात् परलोक की सिद्धि हेतु राजा ने इन्द्रादित्य देव की खण्डपीठ रचनार्थ भू -भाग दान में दिया था। प्रतिमास सूर्य एक से दूसरी

संक्रान्ति में प्रवेश करते हैं। वर्षभर में बारह संक्रान्ति पड़ती हैं जिनमें से मकर, धनु, कर्क और मीन संक्रान्ति विशिष्ट महत्व रखती हैं। साधक इनमें सूर्य की उपासना एवं दान आदि से परम बुद्धिमान ,तेजस्वी, यश और पुण्य का भागी बनता है। मीन संक्रांति के दिन गंगा आदि पवित्र जल में स्नान और दान से मोक्ष की प्राप्ति का विधान है। चैत्र मास की महानवमी को वटयक्षिणी को भेंट किए जाने की दान व्यवस्था का उल्लेख दिन के विशेष होने का ही बोधक है । आज भी महानवमी व्रत के प्रति आस्था भाव समाज में देखा जाता है। संवत् 480 के गंगधार शिलालेख में देवोत्थान एकादशी का उल्लेख हुआ है । लेख में कहा गया है कि यह दिन सभी के लिए प्रफुल्लता और उल्लास लाता है।[57] संवत् 1010 की प्रशस्ति [58] में एकादशी के दिन मन्दिर हेतु हलवाई की प्रत्येक दुकान से एक घड़िया दूध देने की व्यवस्था थी। अभिलेखों में पर्व और उत्सवों का वर्णन भी प्राप्त होता है। हर्ष सवंत् 201 के खण्डेला अभिलेख[59] में भगवान शंकर को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि गणेश एवं कार्तिकेय के मनोविनोद हेतु भगवान शंकर उन्हें विष्णु जी के किसी उत्सव (मेले) में लेकर गए थे। संवत् 1143 के झालरापाटन शिलालेख[60] में सैन्धवदेव पर्व का उल्लेख मिलता है। इस अवसर पर जन्न पटेल नामक व्यक्ति ने इस पर्व विशेष पर देवालय निमित्त दीपक प्रज्ज्वलन हेतु चार पल तेल एवं एक लड्डू प्रतिवर्ष देने का संकल्प लिया था। इसी प्रकार वि.सं. 1147 के नाडौल और सादड़ी [61] से प्राप्त महाराजा जोजल देव के दो अभिलेखों में लक्ष्मणस्वामी आदि देवों की यात्रा उत्सव का उल्लेख मिलता है। राजा के द्वारा इस अवसर पर आज्ञा प्रसारित की थी कि जिस दिन जिस देवता की यात्रा हो उस दिन अन्य देवताओं को मानने वाले लोग जिसमें राजकर्मचारी भी सम्मिलित थे, सुन्दर नवीन वस्त्राभूषणों से युक्त होकर उपस्थित रहेंगे । इन उत्सवों के समय सभी नृत्यकार, संगीतकार और शूलधारियों को आवश्यक रूप से उपस्थित होने का निर्देश था। दोनों लेख सामाजिक सौहार्द्र एवं समरसता के प्रतीक होने के साथ राजाओं की धर्मनिरपेक्षता को भी प्रदर्शित करते हैं। दमनकोत्सव भी प्राचीन काल में पर्याप्त लोकप्रिय था इसका अनुष्ठान चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को किया जाता था ।प्राचीन राजस्थान में वि.सं. 1100 के परमार उदयादित्य के शिलालेख[62] में दमनक पर्व का उल्लेख मिलता है। संवत् 1172 के सेवाड़ी लेख[63] में महाशिवरात्रि के दिन दान का उल्लेख मिलता है। वि.सं.1200 के नाडलाई[64] के आदिनाथ मंदिर से प्राप्त अभिलेख में रथयात्रा उत्सव का वर्णन मिलता है। महाराजाधिराज रायपाल देव ने उत्सव में उपस्थित होकर अपनी माता एवं स्वयं के धर्म निमित्त दान में एक विंशोपक तथा दो पल्लिका तेल की घोषणा की थी । वि.सं.1233 के लालराई (पाली) के अभिलेख [65] में शान्तिदेव की यात्रा का अंकन किया है। इस उत्सव में स्त्रियाँ अपने आराध्य देव के सम्मुख उपस्थित होकर श्रद्धा

एवं भक्ति के साथ दीपोत्सव का आयोजन कर दान-पुण्य का कार्य करती थीं । 1116 के पाणाहेरा (बांसवाड़ा) ताम्रपत्र[66] में स्त्रियों द्वारा दीपोत्सव के आयोजन का वर्णन प्राप्त होता है। संवत् 1242 वीरपुर से प्राप्त ताम्रपत्र[67] से विदित होता है कि सूर्य पर्व के अवसर पर गुहिल वंशीय राजा अमृत पाल देव ने भूमि का दान किया था एवं कदमाल गाँव से प्राप्त अन्य ताम्रपत्र[68] में सोमपर्व पर शिवगुण को भूमि के अनुदान का उल्लेख है। इसी प्रकार जालौर से मिले लेख के अनुसार[69] वि.सं. 1268 में दीपोत्सव के दिन पूर्णदेवसूरि के शिष्य के द्वारा स्वर्ण कलश स्थापित करवाया गया था।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट विदित होता है कि पूर्णिमा, एकादशी, महाशिवरात्रि आदि विशिष्ट तिथियां थी । आज कल भी इन तिथियों पर व्रत एवं उत्सव की परम्परा दिखाई देती है।

अस्तु व्रत एवं पर्व सरल साध्य तप स्वरूप थे । जो मनुष्य एवं समाज की शुद्धि कर उसमें नवीन ऊर्जा का संचार करते हैं। लौकिक एवं पारलौकिक सुख की प्राप्ति का सुगम माध्यम होने के कारण जनसाधारण में इनके प्रति विशेष आस्था थी।

व्रत और पर्व सामाजिक संचेतना के साथ -साथ अर्थव्यवस्था की सुदृढ़ता के लिए भी उपयोगी थे। विविध विशिष्ट अवसरों पर भोज्य एवं पेय के विधान से मांग और आपूर्ति के संतुलन से बाजार को मजबूती मिलती थी। अर्थथवस्था किसी भी राष्ट्र के विकास की धुरी है तदर्थ भौतिक संसाधनों की आवश्यकता होती है और व्रतादि पर संयमित आहार - विहार प्रकृति का अनावश्यक दोहन रोक कर प्रकृति और पर्यावरण में संतुलन का कार्य करते हैं। हमारे पूर्व प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री जी ने युद्ध के उपरान्त सप्ताह में एक व्रत की अपील की थी जो उनकी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को पुनः मजबूत करने की दिशा में दूरदर्शी सोच थी। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि दोनों जगत कल्याण के साधक हैं। हमारे त्रिकाल दृष्टा महर्षियों ने अन्यान्य गुणों से युक्त इनका यथाविधि प्रचार किया था। अभिलेखों से विदित होता है कि प्राचीन राजस्थान में व्रत, पर्वादि के प्रति आस्था एवं श्रद्धा भाव था।

दान एवं परोपकार

दान शब्द सामान्यतः देना अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है लेकिन 'दो' (अवखण्डने) धातु से इसकी निष्पत्ति मानने पर इसका अर्थ - अपना अंश दूसरे को अर्पित करना है । इससे स्पष्ट होता है कि अपनी वस्तु को प्रदान करना दान है न कि किसी अन्य की । दान कर्म गृहस्थ का परम कार्य है । देने की सामर्थ्यता के कारण मनु ने गृहस्थाश्रम को 'ज्येष्ठ आश्रम' भी कहा है , क्योंकि इसमें रहते हुए ही अन्य आश्रमों की पालना सम्भव है –

यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वआश्रमाः ॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

दान तथा अन्न से तीनों आश्रमों का पालन सुनिश्चित करते हुए गृहस्थजन को संदेश दिया है कि स्वयं द्वारा उपार्जित दान का उपभोग स्वयं नहीं करना है अपितु घर के द्वार पर आने वाले ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी का आतिथ्य भी करना है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में दान परम्परा के द्वारा त्याग और परोपकार की भावना का सन्निवेश गृहस्थजनों में किया है।
दान कई प्रकार के हैं। कुछ सामान्य, कतिपय धर्मदान एवं महादान की श्रेणी में गिने जाते हैं।

अध्ययनाधीन शिलालेखों से विदित होता है कि राजस्थान के निवासियों का जीवन दान एवं परोपकार की भावना से ओत - प्रोत था । कृत संवत् 282 के नांदसा[70] लेखानुसार जयसोम का पुत्र श्री सोम दानी एवं परोपकारी प्रवृत्ति का था। उसने धर्म की सिद्धि हेतु विविध देवालयों को भूमिदान दिया वहीं प्रजाकल्याण हेतु सभाभवन, आश्रय स्थल (धर्मशाला) बनवाए एवं तालाब और कुओं का निर्माण करवाकर प्रजा एवं प्राणीमात्र को उपकृत कर यश प्राप्त किया। संवत् 295 के बड़वा यूप लेख[71] में मौखरी सेनापति बल के पुत्रों के द्वारा धर्मकार्य एवं हजारों गायों की प्रदक्षिणा का उल्लेख है। इसी प्रकार बर्नाला यूप[72] से विदित होता है कि भट्टनामक ब्राह्मण ने धर्म वृद्धयर्थ गाय दान में दी थी । वि.सं.557 के चारचौमा शिवमंदिर के द्वितीय लेख[73] में परमदानी दधीचि को नमन किया है जिसने इन्द्र की याचना पर अपनी अस्थियाँ दे दी थीं । साथ ही गाधी पुत्र विश्वामित्र का स्मरण करते हुए दान लेने और देने को अतुलनीय बताया है। मण्डोर बाबड़ी[74] लेखानुसार इखरक नामक व्यक्ति ने यश की कामना से जनोपयोगी सुस्वादु जल की बाबड़ी का निर्माण करवाकर अपने यश को अचल बनाया । वि.सं. 770 के मानमौरी लेख[75] में अंकित है कि मानसरोवर एक बडा दान - स्मारक था। कोशवर्धन लेख[76] में उल्लिखित सामन्त देवदत्त गुणों की खान था एवं उसके परोपकारी आचरण तथा निरन्तर दानादि कर्म के कारण याचकों की उसके प्रति परम भक्ति थी। चाटसू लेख[77] से अवगत होता है कि गुहिलवंशीय भर्तृपट्ट जहाँ यज्ञ कर्म से देवताओं का अभिनन्दन करता था वहीं भूमिदान से ब्राह्मणों को प्रसन्न करता था । संवत् 1003 के प्रतापगढ़ लेख[78] में उल्लिखित है कि विदग्धराज ने मकरसंक्रान्ति के दिन इन्द्रादित्य देव की खंडपीठ रचनार्थ स्वर्णादि सहित भू - भाग भेंट किया था। लेख में आगे अंकित है कि भूमि स्वीकार कर्त्ता एवं दाता दोनों पुण्य का भोग करते हुए स्वर्ग के अधिकारी बनते है। संवत् 1030 के हर्ष

लेख[79] से विदित है कि लोककल्याण मनुष्य का परम धर्म था । भावद्योत नामक शिष्य ने कुआ, सुन्दर उपवन एवं गायों के पानी पीने की प्याऊ का निर्माण करवाया था। हस्तिकुण्डी शिलालेख[80] में मन्दिर के निमित्त विविध दानों की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। लाण बाबड़ी प्रशस्ति[81] से ज्ञातव्य है कि वदनगर के निवासी वन, भवन, पृथ्वी, वस्त्र, रत्नादि के दान - कर्म से देवताओं और ब्राह्मणों की पूजा करते हुए शुभगुणों से सम्पन्न तीनों लोकों में विख्यात थे। भडूंद लेख[82] से स्पष्ट होता है कि यश एवं परोपकार की भावना से समाज के कुछ ब्राह्मणों ने मिलकर मीठे जल से युक्त विशाल बावड़ी का निर्माण कराया एवं सर्व समाज को उसे समर्पित कर दिया । संवत् 1167 के सेवाड़ी[83] एवं 1172 के कटुकराज के लेख[84] में मन्दिर हेतु अनुदान एवं दानकर्ता को दान से होने वाले फलों की मंगलकामना प्राप्त होती है। संवत् 1181 के पाटनारायण शिलालेख[85] में मन्दिर के जीर्णोद्धार तथा मन्दिर की व्यवस्था हेतु विविध दानों का उल्लेख प्राप्त है। इसी प्रकार नाडलाई के एक लेख में प्राप्त दान - विवरण से स्पष्ट होता है कि बाहर रहने वाले जैन संतों हेतु प्रशासन द्वारा उचित प्रबन्ध किया जाता था । संवत् 1200 के सांभर शिलालेख[86] में राजा जयसिंह को दानी, पुण्यात्मा एवं विष्णुभक्त बताया है।

प्राचीन राजस्थान में दान एवं परोपकार की भावना दृढ़ता से विद्यमान थी । अथक परिश्रम में विश्वास रखने वाला राजस्थानी प्राणों के उत्सर्ग से भी परोपकारी कार्य सिद्ध करता था। बहुसंख्या में प्राप्त गोवर्धन स्मारक इस बात के साक्षी हैं कि प्राणी वर्ग की रक्षा का हितकारी कार्य प्रथमतः करणीय था।

अस्तु कहा जा सकता है कि राजस्थान सांस्कृतिक उच्चादर्शों के कारण कर्मभूमि के रूप में ख्यात है। इस प्रदेश की ख्याति सांस्कृतिक एकता और आदर्श के कारण है। विदेशी आक्रमणकारियों और साम्राज्यवादी शिकंजों में फंसने के बाबजूद भी राजस्थान की संस्कृति अद्यावधि इस राज्य को एकसूत्र में बाँधे हुए है। इस सूत्र की दृढ़ता का कारण यहाँ का आचार-विचार, सामाजिक रीति - रिवाज, उत्सव -मेले, धार्मिक समभाव तथा तीर्थ स्थान हैं । ये विभिन्न इकाइयां एक प्रकार से ऐतिहासिक सांस्कृतिक संयोजन हैं। यही संयोजन यहाँ की जीवन पद्धति का मूल मंत्र है । निस्संदेह राजस्थान की संस्कृति के ये आयाम भविष्य में विश्व में न्याय, शांति और सुव्यवस्था की स्थापना में विश्व सभ्यता के आधार स्तम्भ बनेंगे ।

संदर्भ

1. पाण्डेय, डॉ. राजेन्द्र, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 1

2. वासुदेव शरण अग्रवाल कृत कला और संस्कृति, भूमिका

3. पाण्डेय, डॉ. राजेन्द्र, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 8-9

4. कल्याण ,हिन्दू संस्कृति अंक, पृ . 106

5.डॉ. जयसिंह नीरज , डॉ. बी.एल शर्मा , राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, पृष्ठ 2

6. डॉ. जयसिंह नीरज , डॉ. बी.एल शर्मा , राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, पृ . 2 - 3

7.ऋग्वेद, पुरुष सूक्त ,10/125

8. विष्णुपुराण ,6/7

9. पाण्डेय, राघवेन्द्र, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, (लखनऊ, प्र.सं. 1976, द्वि.सं. 1983) पृ. 53

10. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, .

11.महाभारत, शान्तिपर्व,294,29

12.शर्मा,गोपीनाथ,राजस्थान का इतिहास, पृ . 56

13. छान्दोग्योपनिषद, 5/10/1-8

14.श्रीमद्भगवद् गीता , 3/5

15.वही,18/17

16.शर्मा, रेखा देवी, " भारतीय संस्कृति में कर्म की अवधारणा" (सम्पा . गुप्ता, महेश, श्रीमद्भगवद् गीता में प्रतिपादित कर्मयोग एवं वर्तमान में इसकी प्रासङ्गिकता),पृ. 42-47

17.मज्झिमनिकाय,3,4,5-6

18. सांख्यकारिका, 44

19.वैशेषिक सूत्र 1/1/17

20.न्यायवार्तिक,1/1/24

21.अल्तेकर, ए . एस.,' नान्दसा यूप इश्क्रिप्शंस, एपि .इ., वॉल्यूम 27, पार्ट 4 पृ.252-265

22. फ्लीट, जे.एफ., कॉर्पस इंश्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, वॉल्यूम 3, पृ .72 -78

23. कीलहर्न, एफ. ,' उदयपुर इंश्क्रिप्शन ऑफ अपराजित, विसं 718,'एपिग्रैफिया इंडिका, वॉल्यूम 4, पृ. 29- 32

24. भण्डारकर, डी. आर ., ' बुचकला इंश्क्रिप्शन ऑफ नगभट्ट सं . 872 ',एपिग्रैफिया

इंडिका, वॉल्यूम 9, पृ. 198 -200

25. प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ आर्कियोलॉजिकल डिपार्टमेंट, जोधपुर स्टेट, 1934, पृ. 5

26. सरकार, डी.सी., सेलेक्ट इंश्क्रिप्शंस, वॉल्यूम 2, पृ. 363

27. भडारकर, डी.आर.,प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल, 1910, पृ.53-55

28. (सम्पा . गहलोत सुखवीर सिंह, पुरोहित सोहनकृष्ण , शर्मा नीलकमल) राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, हिन्दी साहित्य मंदिर , जोधपुर 1988, पृ. 177

29. ओझा, जी. एच ., सिरोही राज्य का इतिहास, पृ.28-32

30. प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ आर्कियोलॉजिकल डिपार्टमेंट, जोधपुर स्टेट, 1934, पृ. 5

31. रामकरण, भाडूंद इंश्क्रिप्शन ऑफ परमार पूर्णपाल ऑफ वि. सं 1102; ज . बा . ब्रा . रा. ए. सो., वाल्यूम 23, [1969], पृ. 75-80

32. गीता, 4/7-8

33. सरकार, डी.सी.,' अजमेर स्टोन इंस्क्रिप्शन', एपिग्रैफिया इ. वाल्यूम 29 [1952] पृ.178-182; यादव, बी. एन. एस., सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया इन दि टवेल्थ सेन्चुरी,पृ.356

34. फ्लीट, जे. एफ., प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग 3 ,पृ. 72 - 78

35. कीलहर्न, एफ.,' उदयपुर इंश्क्रिप्शन ऑफ अपराजित, विसं 718, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 4, पृष्ठ 29 -32

36. जैन, के . सी ., एन्शेंट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान पृ. 238

37. साहनी ,डी.आर . एक्सकवेशन्स एट मण्डोर, ए रि. आ स . इ .1909-10, पृ.100-101

38. भण्डारकर, डी.आर., 'चाटसू इंश्क्रिप्शन ऑफ बालादित्य,' एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 12 , पृ. 10-17

39. भण्डारकर, डी.आर.,' घटियाला इंश्क्रिप्शंस ऑफ कक्कुक सं. 918', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9 , पृ . 277 - 281

40.ओझा, जी.एच., ए रि रा म्यू .,1914, पृ. 2

41. शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ.63-64

42. ओझा, जी.एच, पूर्वनिर्दिष्ट

43. रामकरण, भाडूंद इंश्क्रिप्शन ऑफ परमार पूर्णपाल ऑफ वि. सं 1102; ज . बा . ब्रा . रा.

ए. सो., वाल्यूम 23, [1969], पृ. 75-80

44. बर्नेट, डी. अर्थूणा इंश्क्रिप्शन ऑफ दि परमार चामुण्डराज, वि.सं. 1136, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 14, पृ. 309

45. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ. 524

46. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ 531

47. गीता,4/32

48. गीता,4/24-26

49. दुबे, एस.एन.' एन्शेन्ट मध्यमिका' प्रो रा. हि कां ., 1967, पृ 29 - 31

50. कुमारसम्भवम्, 5/33 , कालिदास - ग्रन्थावली (सम्पा. चतुर्वेदी, सीताराम , चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन)

51. कल्याण, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.628

52. वही , पृष्ठ 631

53. अल्तेकर, ए .एस.,' नान्दसा यूप इश्क्रिप्शंस, एपि .इ., वॉल्यूम 27, पार्ट 4, पृ. 252-265

54. शर्मा, गोपीनाथ,पूर्वनिर्दिष्ट ,पृ. 45

55.अल्तेकर, ए. एस., टू यूप इंश्क्रिप्शंस फ्रॉम बर्नाला ,एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 26, पृ. 118-123

56.ओझा, जी.एच., ओझा निबन्ध संग्रह , भाग चतुर्थ, पृ.1-21

57. त्रिगुणायत, सतीश, प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म' पृ. 94 - 95

58. श्यामल, दास , वीर विनोद, भाग -1, पृ 381 एवं आगे

59. सरकार, डी .सी ., खण्डेला इंश्क्रिप्शन ऑफ ईयर 201, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 34 पृ.159-163

60.शर्मा, गोपीनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.74

61.भण्डारकर, डी .आर., दि चाहमान ऑफ मारवाड़ एपिग्रैफिया इण्डिका , वॉल्यूम -11 पृ. 27 - 28

62. शर्मा, गोपीनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.76-77

63. अल्तेकर , ए. एस. टू इंश्क्रिप्शन ऑफ दि परमार उदयादित्य , एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम– 23, पृ . 132 - 136

64.शर्मा, गोपीनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.84-85

65.श्रीमाली , जी . एल . राजस्थान के अभिलेख भाग - 1 ,(मानसिंह पुस्तक प्रकाशन जोधपुर 2000) पृ. 173

66. श्रीमाली, पूर्वनिर्दिष्ट , पृ.116 - 119

67. शर्मा, गोपीनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.241-243

68. शर्मा, गोपीनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.243-244

69. शर्मा, गोपीनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.78-79

70. अल्तेकर, ए.एस.,' नान्दसा यूप इंस्क्रिप्शंस ' एपि.इ.,वाल्यूम 27, पार्ट 4, पृ. 252-265

71. शर्मा, गोपीनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.44-45

72.अल्तेकर, ए.एस., ' टू यूप इंश्क्रिप्शंस फ्रॉम बर्नाला ,एपि .इ. , वाल्यूम 26, पृष्ठ 118-123

73. शर्मा, मथुरालाल, कोटा राज्य का इतिहास, पृ. 25

74. साहनी , डी.आर, पूर्वनिर्दिष्ट

75. शर्मा, गोपीनाथ,पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.51-52

76. इ. ए ., वाल्यूम 14, पृ.45-46

77. सरकार, डी.सी., सेलेक्ट इंश्क्रिप्शंस वॉल्यूम -2, पृ.363-371

78. ओझा, जी.एच. , पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.1-21

79. पाण्डेय, राजबली, हिस्टॉरिकल एवं लिटरेरी इंश्क्रिप्शंस ,पृ. 216-222

80. शर्मा, गोपीनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.68-70

81. ओझा, जी.एच., पूर्वनिर्दिष्ट .., पृ. 28-32

82. रामकरण, भाडूंद इंश्रिप्शन ऑफ परमार पूर्णपाल ऑफ वि.सं. 1102, जबा ब्रा रा. ए सो, वाल्यूम 23 (1969) पृ. 75-80

83. शर्मा, गोपीनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 76 - 77

84. सम्पा . गहलोत सुखवीर, पुरोहित सोहनकृष्ण , शर्मा नीलकमल ,पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 204

85. शर्मा , दशरथ , गिरवर स्टोन इंश्क्रिप्शन ऑफ वि.सं. 1181, प्रो इ. हि. कॉ, 1961, पृ. 60-62

86. शर्मा, गोपीनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.120-121

अध्याय - तृतीय

सामाजिक संरचना - वर्ण एवं जातीय व्यवस्था

अध्याय - तृतीय

सामाजिक संरचना - वर्ण एवं जातीय व्यवस्था

प्राचीन भारतीयों के सामाजिक जीवन की महत्वपूर्ण संस्थाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। वर्ण व्यवस्था एक प्रकार से सामाजिक कर्तव्यों तथा वृत्तियों के विभाजन द्वारा एक व्यवस्थित समाज स्थापित करने की योजना थी। ऋग्वैदिक काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था कर्म पर आधारित थी। कर्म के आधार पर कोई भी व्यक्ति किसी भी वर्ण में प्रवेश कर सकता था। उत्तर वैदिक काल में यज्ञों का महत्व बढ़ने के कारण ब्राह्मण समाज का सर्वोच्च वर्ग बन गया किन्तु इस युग में भी वर्ण परिवर्तन संभव था लेकिन महाकाव्य काल में वर्ण को जन्मज माना जाने लगा। जो व्यक्ति जिस वर्ण में जन्म लेता था, वह उस वर्ण के अन्तर्गत ही रहता था। इस प्रकार वर्ण वंशानुगत होते गये अर्थात् कर्म का स्थान जब जन्म ने लिया तो जातीय व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। अब समाज विभिन्न जातियों एवं उपजातियों में विभाजित हो गया। इन जातियों एवं उपजातियों की उत्पत्ति के अनेक कारण थे। इनमें से एक प्रमुख कारण जीविकोपार्जन की विधि भी था। विभिन्न उद्योगों तथा व्यवसायों से सम्बन्धित वर्गों ने कालान्तर में भी विभिन्न जातियों का रूप धारण कर लिया। इसके अतिरिक्त हिन्दू समाज में विदेशी जातियों का स्वीकार, अन्तरर्जातीय विवाहों, सीमावर्ती आयुधजीवी जातियों के आर्यीकरण आदि अन्य कारणों से भी हिन्दू समाज का विभिन्न जातियों व उपजातियों में विभाजन हुआ। जाति भेद के विकास के साथ जातियों में ऊँच - नीच की भावना पैदा हुई।

ब्राह्मण

वर्ण तथा जाति व्यवस्था में प्रथम स्थान ब्राह्मणों का था। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठ स्थिति का परिचय मिलता है। तैत्तिरीय आरण्यक में ब्राह्मणों की वेदविद्वता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि समस्त देवता ब्राह्मणों में निवास करते हैं अतः वह नमस्कार्य है । यावतीवै देवतास्ताः सर्वा : वेदविदि ब्राह्मणा : वसन्ति तस्मात् ब्राह्मणेभ्यः वेदविदद्भ्यः दिवे दिवे नमस्कुर्यात।[1] सम्भवतः अपने ज्ञान, धार्मिक कृत्यों एवं मंत्रों का ज्ञाता होने के कारण उन्हें यह स्थिति प्राप्त थी। ब्राह्मणों की उक्त उदीयमान श्रेष्ठता के कारण शनैः

शनैः क्षत्रिय वर्ग में असन्तोष की भावना का अंकुरण हुआ। राष्ट्र का प्रभु होने के कारण तथा देश की जन-धन सम्पदा उनके अधीन होने के कारण वे ब्राह्मणों के सामने अपनी निम्नता स्वीकार नहीं कर सकते थे। शतपथ ब्राह्मण में क्षत्रियों की विरोधात्मक मनोवृत्ति स्पष्टरूप से परिलक्षित होती है। यहाँ कहा गया है कि क्षत्रियों से उच्चतर कुछ भी नहीं है अतः राजसूय के अवसर पर ब्राह्मण, क्षत्रिय के समक्ष निम्नासन ग्रहण करता है ।[2] श्रेष्ठता के लिये ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष उपनिषदकाल में और भी तीव्र हो गया। अब क्षत्रियों ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के उद्‌गम ज्ञान एवं याज्ञिक कर्मों में उनकी (ब्राह्मणों की) अनिवार्यता पर आक्रमण किया। उपनिषदकाल का क्षत्रिय समाज, ब्राह्मण समाज की भाँति अध्ययन-अध्यापन एवं चिन्तन में संलग्न दर्शित होता है। राजा जनक वेदों एवं उपनिषदों के ज्ञाता थे। छान्दोग्य उपनिषद में केकय नरेश अश्वपति द्‌वारा अध्यापित पाँच ब्राह्मणों का उल्लेख है।[3] जहाँ तक याज्ञिक कार्यों में ब्राह्मणों की अनिवार्यता का प्रश्न है, अब क्षत्रियों ने यज्ञों में अधिकाधिक अपनी सहभागिता निभाई तथा शास्त्र के अध्ययन एवं मनन में अपेक्षाकृत उनकी (ब्राह्मणों की) हीनता प्रदर्शित की।

उपनिषद काल में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के प्रति जो असन्तोष अंकुरित हुआ उसने ई०पू० 6 ठी शताब्दी में प्रकट विद्रोह का रूप धारण कर लिया। बौद्ध एवं जैन धर्म ब्राह्मण धर्म के विरोधी ही नहीं थे वरन् उनमें ब्राह्मणों की सामाजिक श्रेष्ठता के प्रति क्षत्रियों की अस्वीकृति भी परिलक्षित होती है। इस समय ब्राह्मणों की सामाजिक मान्यता, याज्ञिक महत्ता तथा सम्पूर्ण व्यवस्था संकट में पड गई अतः इस संकट के निवारणार्थ ब्राह्मणों ने संगठित रूप से समस्त सामाजिक एवं धार्मिक विधि- निषेधों को पुनः व्यवस्थित करना प्रारंभ किया। पुनः वर्णाश्रम धर्म की स्थापना पर बल देकर उसके द्‌वारा अपनी मान्यता की घोषणा की। सूत्र साहित्य (ई०पू० 600- ई०पू० 300) के बड़े भाग का प्रणयन उनके इसी पुनः संगठन का परिणाम था। अब वर्ण व्यवस्था को जन्मज एवं वंशानुगत बनाया गया तथा अन्य वर्णों में ब्राह्मणों को उच्च मानने पर जोर दिया गया। दुर्दिन एवं आपत्तिकाल में ब्राह्मणों को अपने स्वाभाविक कर्म के स्थान पर अन्य कर्मों से जीविकोपार्जन की स्वतंत्रता दी गई। वह अपने वर्ग से निम्न क्षत्रिय या वैश्य वर्ण का कर्म अपना सकता था।

ब्राह्मणो की सर्वोच्चता एवं महानता 'भूमिचरा : देव : ' के रूप में थी। अपने ज्ञान एवं बुद्धि से वह द्‌विज वर्णों को शिक्षित ही नहीं करता वरन् उनके बौद्धिक उत्कर्ष में भी सहायक होता था। धार्मिक अनुष्ठानों एवं यज्ञों को सम्पन्न करके वह समाज की मंगल कामना करता तथा दैवीय आपदाओं एवं बाधाओं से समाज की रक्षा करता था। अपने विभिन्न उच्च स्तरीय कार्यों के कारण

वह समाज का महत्वपूर्ण अंग था ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा उनके त्याग, तपस्या एवं वैदुष्य के कारण रही होगी। संभवत अपने विभिन्न उच्च स्तरीय कार्यों के कारण ही उन्हें अवध्य, अबन्ध्य, अदण्ड्य , अबहिष्कार्य एवं अपरिहार्य आदि विशेषाधिकार भी प्राप्त हुये।

मौर्य सिंहासन पर अशोक के आसीन होते ही पुनः ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा एवं विशेषाधिकारों को क्षति पहुँची। बौद्ध दृष्टिकोण से ब्राह्मण जन्म के आधार पर श्रमण एवं अन्य धर्मानुयायियों की अपेक्षा अधिक सम्मान् का अधिकारी नहीं था। ऐसी स्थिति में बौद्ध एवं जैन मतानुयायी मौर्य शासन के प्रति ब्राह्मणों के मन में विरोध की भावना अवश्य रही होगी। अन्तिम मौर्य नरेश वृहद्रथ की उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग द्वारा हत्या 'ब्राह्मण प्रतिक्रिया' इतिहासकार भले ही स्वीकार न करें[4] किन्तु इस ने ब्राह्मणों की पूर्ववर्ती सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिये मार्ग खोल दिया जो कि शुंगों के बाद कण्व एवं सातवाहन शासकों के समय तक जारी रहा। हिन्दुओं का सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्र मनुस्मृति इसी सामाजिक पुनः संगठन, ब्राह्मणोद्धार एवं वर्णाश्रम प्रतिस्थापना के ऊपर प्रकाश डालता है। गौतमीपुत्र शातकर्णी द्वारा 'एक: वम्मन' तथा 'खतियदपमानमदनस' आदि उद्घोषों से भी संभवतः यही ध्वनित होता है।

ई०पू० द्वितीय प्रथम शताब्दी में राजस्थान में भी ब्राह्मण वर्ण एवं ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के प्रमाण प्राप्त होते हैं। नगरी से प्राप्त अभिलेख में गाजायन गोत्र के सर्वतात नरेश द्वारा सम्पन्न अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख है। डी०आर० भण्डारकर ने उक्त नरेश को कण्व वंशीय ब्राह्मण माना है, क्योंकि गाजायन गोत्र मत्स्य पुराण के आंगिरस गोत्र गण के अन्तर्गत कण्व शाखा में मिलता है। सर्वतात का अन्यत्र उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, संभवतः वह स्थानीय (मध्यमिका- चित्तौड़) राजा रहा होगा।[5] पुष्यमित्र शुंग के समान सर्वतात द्वारा राजस्थान में अश्वमेध यज्ञ का आयोजन ब्राह्मण धर्म की पुनः प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जा सकता है। ई .सन् की आरम्भिक शताब्दियों के अनेक यूपलेख (याज्ञिक स्तम्भ) राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त हुये हैं [6] जो विभिन्न यज्ञों की समाप्ति के पश्चात् स्थापित किये गये थे। यूप का विशेष धार्मिक महत्व था। यूप को भूमि पर स्थापित करने से पूर्व उसकी स्तुति में कतिपय मंत्रों का उच्चारण किया जाता था जो निश्चय ही ब्राह्मणों द्वारा उच्चारित किये जाते थे। आरम्भ में यूप काष्ठ निर्मित होते थे किन्तु बाद में (लगभग ई० सन् द्वितीय शताब्दी) पाषाण यूपों का निर्माण

होने लगा। संभवतः इसके पीछे अशोक के बौद्ध स्तम्भों के समान ब्राह्मण स्मारकों की स्थापना को स्थायित्व देना रहा हो।

राजस्थान से प्राप्त प्राचीनतम यूप लेख नांदसा (भीलवाड़ा) से प्राप्त हुआ है। कृत संवत् 282 के इस लेख में एकषष्टिरात्र सत्र' (61 दिन तक चलने वाला यज्ञ) का उल्लेख है। यह यूप मालव गण के नेता श्री सोम द्वारा स्थापित करवाया गया, किन्तु एकषष्टिरात्र सत्र केवल ब्राह्मणों द्वारा ही सम्पादित हो सकता था जबकि श्री सोम क्षत्रिय (मालव) था। अतः लेख में कहा गया है कि उसने यज्ञ किया नहीं करवाया, जो कि ब्राह्मणों का ही एकाधिकार था। एक षष्टिरात्र सत्र में एक ही गोत्र व कल्प के 17 ब्राह्मणों की आवश्यकता होती है जो कि ऋत्विक व यजमान दोनों ही होते थे। इसी प्रकार बड़वा (बारां) से प्राप्त कृत संवत् 295 के यूप लेखों में त्रिरात्र यज्ञ का उल्लेख है। ये यज्ञ वैदिक युगीन सोमयज्ञों [7] में से थे जो कि संख्या में 7 है- अग्निष्टोम अत्याग्निष्टोम उक्थ्य, षोडशिन, वाजपेय, आप्तोर्याम। कृत् संवत् 321 के विचपुरिया (उणियारा-टोंक) यूप लेख में धरक के पुत्र अहिशर्म द्वारा अग्निहोत्र (यज्ञ) कर यूप स्थापित करवाने का उल्लेख है। इसी प्रकार कृत् संवत 335 के बर्नाला यूप लेख में भट्ट नामक ब्राह्मण का उल्लेख है। यज्ञानुष्ठान ब्राह्मणों द्वारा ही सम्पन्न कराने का विवरण वि.सं. 1176 के रत्नपाल के सेवाडी ताम्रपत्र में भी हुआ है। इस ताम्र पत्र में ब्राह्मणों द्वारा अग्निहोत्र. अग्निष्टोम सौत्रामणि पशुबन्ध एवं चातुर्मास्य आदि यज्ञों को सम्पन्न करवाने का वर्णन है।[8] लेख में गुन्दमुच्छ के ब्राह्मणों के बारे में कहा गया है कि वे चारों युगों में पूज्य तथा इतिहास प्रसिद्ध थे। वे षड्कर्मी , जपी, अध्ययनशील एवं अनुष्ठानकर्ता थे। लेख में उन्हें दोनों महाकाव्यों , षड्दर्शन , पुराण तथा स्मृतियों का ज्ञाता तथा उनकी प्रसिद्धी पूर्णचन्द्र के समान बताई गई है।

प्राचीन राजस्थानी समाज में ब्राह्मणों को आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। वि.सं. 480 के गंगधार अभिलेख[9] में विश्ववर्मा के मंत्री मयूराक्षक को ब्राह्मण, गुरु एवं साधुजनों की सेवा करने वाला बताया गया है। विसं 703 के सामोली अभिलेख[10] में गुहिल वंशीय शीलादित्य को देव, ब्राह्मण एवं गुरुजनों को आनन्द देने वाला बताया गया है। इसी प्रकार वि.सं. 1003 के प्रतापगढ़ शिलालेख[11] में प्रतिहार नरेश इन्द्रराज को द्विजों के प्रति विनम्र बताया गया है। इसी प्रकार का उल्लेख वि.स. 1013 के थांवला अभिलेख[12] में भी प्राप्त होता है जहाँ नाडौल शाखा के सिंहराज चौहान को देवताओं एवं ब्राह्मणों की सेवा में तत्पर बताया गया है। बसन्तगढ़ के वि.सं. 1099 की लाणबावड़ी प्रशस्ति[13] तथा आबू पर्वत से प्राप्त चालुक्य भीम द्वितीय के ई० सन् 1208

के अभिलेख[14] में ब्राह्मणों के आचार की प्रशंसा की गई है। राजपूत शासको ने गायों एवं ब्राह्मणों के प्रति विशेष भक्ति एवं आदर प्रकट किया। पश्चिमी राजस्थान में ऐसे अनेक गोवर्धन स्तम्भों का अस्तित्व आज भी देखा जा सकता है जो गायों की रक्षा करते हुये शहीद हुये व्यक्तियों की स्मृति मे निर्मित करवाये गये थे। समाज में यह विश्वास प्रचलित था कि गायों एवं ब्राह्मणों के प्रति पुण्य कार्य करने वालों के लिये स्वर्ग का द्वार खुला रहता है। वि.सं. 1189 के रायपाल देव के नडलाई लेख[15] में ब्राह्मण एवं गौहत्या को पाप माना गया है। इसी प्रकार वि.सं. 1167 के अश्वराज के सेवाड़ी अभिलेख[16] में भी ब्राह्मणों पर हिंसा को पाप तुल्य माना गया है। पृथ्वीराज विजय[17] में यह उल्लेख है कि चाहमान नरेश पृथ्वीराज प्रथम ने 700 चालुक्यों की हत्या इस कारण की क्योंकि उन्होंने ब्राह्मणों के साथ लूटपाट एवं अभद्र व्यवहार किया था। काव्यमीमांसा में ब्राह्मण को कष्ट पहुँचाने, प्रताड़ित करने तथा हत्या करने वाले को पतित कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजपूतों ने हिन्दू धर्म के अग्रगण्य ब्राह्मणों को आदर एवं सम्मान दिया क्योंकि ब्राह्मण ही सनातन हिन्दू धर्मशास्त्रों के पंडित थे तथा उनके साथ मिलकर हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की रक्षा करने में लगे थे। अतएव ब्राह्मणों के प्रति सम्मान हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के प्रति सम्मान प्रकट करना था।

विद्या का सर्वाधिक प्रसार ब्राह्मणों एवं जैन साधुओं में हुआ। अजयमेरु (अजमेर) को इस बात की प्रतिष्ठा प्राप्त थी कि ब्रह्म मुहूर्त में उसकी गलियां वेद ध्वनि से गूंजती है।[18] विद्या एवं संस्कृति का केन्द्र होने के कारण श्रीमाल (भीनमाल) के श्रीमाली तथा नगर (गुजरात) के नागर ब्राह्मण अपने आपको अन्य ब्राह्मणो से श्रेष्ठ समझते थे। श्रीमाली ब्राह्मणों की प्रसिद्धि विशुद्ध आचार-विचार तथा वैदुष्य के कारण चतुर्दिक फैली हुई थी। कान्हडदेप्रबन्ध का रचनाकार पद्मनाभ जो विशलनगरा ब्राह्मण था, ने श्रीमाल के ब्राह्मणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। लक्ष्मीधर द्वारा विरचित विरुद्धविधिविध्वंस में नागर ब्राह्मण तथा स्कन्द पुराण में पंचगौड़ एवं पंचद्रविड ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है।[19] भीमदेव द्वितीय के पाटन अभिलेख में रायकवाल ब्राह्मणों का वर्णन है।[20] गुप्त सम्वत् 289 (ई०सन् 608) के गोठमांगलोद अभिलेख[21] से दायमा ब्राह्मणों का ज्ञान होता है। इसी प्रकार पुष्कर के पुष्करणा ब्राह्मणों का बोध वि.सं. 982 के पुष्कर अभिलेख से होता है ।[22] प्राचीन राजस्थान में ऊपर उल्लिखित इन सभी ब्राह्मणों को श्रेष्ठ माना जाता था । इनका खान-पान, रहन-सहन एवं आचार-विचार अन्य ब्राह्मणों से भिन्न था। इसी प्रकार कुछ ऐसे भी ब्राह्मण थे जो भोजक या मग कहलाते थे। इनसे अन्य ब्राह्मण कम सम्पर्क रखते थे। भविष्य

पुराण में कहा गया है कि श्री कृष्ण एवं जाम्बवती से उत्पन्न यादव राजकुमार साम्ब के अत्यन्त स्वैराचारी (स्त्री लोलुप) होने के कारण श्री कृष्ण ने साम्ब को कुष्ठ रोगी होने का शाप दिया। कुष्ठ रोग के निवारणार्थ साम्ब ने चन्द्रभागा नदी (चिनाब - पंजाब) के तट पर एक सूर्य मंदिर का निर्माण करवाया किन्तु कोई भी स्थानीय ब्राह्मण उसका पुजारी बनने को तैयार नहीं हुआ। तब साम्ब ने शाकद्वीप से सूर्य पूजक मगों को आमंत्रित किया।[23] इस प्रकार मग यद्यपि विदेशी थे, फिर भी कर्म, आचार-विचार एवं धर्म के कारण इनकी गणना ब्राह्मणों में होती थीं। मारवाड़ क्षेत्र में शाकद्वीपीय मग ब्राह्मणों को भोजक तथा सेवक के नाम से जाना जाता है।[24] ओसियाँ (जोधपुर) के सच्चिका माता मंदिर से प्राप्त वि.सं. 1236 के अभिलेख में एक भोजक के कार्यों का वर्णन मिलता है ।[25] राजस्थान से प्राप्त विभिन्न लेखों में ब्राह्मणों के नाम के साथ भट्ट (कृत् संवत् 335 के बर्नाला यूप लेख एवं वि.सं. 746 को झालरापाटन लेख) शर्मा(कृत् संवत् 321 का विचपुरिया लेख एवं वि.स. 1009 की लाणबावड़ी प्रशस्ति), पंडित (वि.सं. 1143 का झालरापाटन अभिलेख), ठक्कर पुरोहित (वि.सं. 1003 का प्रतापगढ़ शिलालेख) एवं दीक्षित (हर्ष सं. 201 का खण्डेला अभिलेख) आदि सम्मान सूचक शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। राजस्थान के पड़ोसी क्षेत्रों से प्राप्त अभिलेखों में ब्राह्मणों की आवस्थिक, पुरोहित, द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, मिश्र, दीक्षित, त्रिपाठी इत्यादि शाखाओं का बोध होता है।

ब्राह्मण जाति के अन्तर्गत अनेक गोत्र, प्रवर एवं शाखायें थीं। बौधायन श्रौत सूत्र के अनुसार विश्वामित्र, वशिष्ठ, भारद्वाज, जमदग्नि, गौतम, अत्रि, कश्यप एवं अगस्त्य आठ ऋषि गोत्र हैं। अन्य ग्रन्थों में गोत्रों की संख्या सहस्रों बताई गई है किन्तु प्रवर केवल 49 हैं।[26] गोत्र एवं प्रवर की व्यवहारिक महत्ता थी । श्राद्ध में सगोत्र ब्राह्मणों को आमंत्रित नहीं किया जाता था। राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में भी ब्राह्मणों के गोत्रों का उल्लेख हुआ है। धूलेव-कल्याणपुर अभिलेख[27] में चन्द्रात्रेय, वि.सं. 1067 के दुर्लभराज के ताम्रपत्र[28] में लोडयायन, दौलतपुर ताम्रपत्र[29] में कश्यप एवं कात्यायन, वि.सं. 1076 के बांसवाड़ा ताम्रपत्र[30] में वशिष्ठ, वि.सं. 1102 के भाडूंद अभिलेख[31] में शांडिल्य, आत्रेय, कश्यप, उपाध्याय एवं व्यास, वि.सं. 1241 के खिचूंद गोवर्धन स्तम्भ लेख[32] में पाराशर, वि.सं. 1242 के वीरपुर ताम्रपत्र[33] में भारद्वाज, वि.सं. 1243 के पुष्कर अभिलेख[34] में गौतम आदि गोत्रों का उल्लेख हुआ है।

मनुस्मृति में ब्राह्मणों के 6 धर्म बताये गये हैं- अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिगृहं चैव ब्राह्मणाम् कल्पयत् ।। अर्थात् अध्ययन-अध्यापन , यज्ञ करना एवं कराना तथा दान

देना एवं प्रतिगृह लेना यह छह कर्म ब्राह्मणों के है। राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में ब्राह्मणों को प्रतिग्रह दिये जाने की पर्याप्त चर्चा मिलती है। कृत् संवत् 282 के नन्दसा यूप[35] लेख, कृत् संवत् 295 के बडवा यूप लेख[36] कृत् संवत् 335 के बर्नाला यूप लेख[37] में धन एवं गायों के दान की चर्चा मिलती है। प्रतिग्रह (दान) प्राप्त करना ब्राह्मणों का ही विशेषाधिकार था, अतः यह ब्राह्मणों को ही दिया गया होगा। हर्ष संवत् 201 के खण्डेला अभिलेख[38] में दुर्गवर्धन नामक व्यापारी द्वारा ब्राह्मणों को दान देने का उल्लेख है। वि.सं. 1218 के नाडौल ताम्रपत्र[39] में अल्हणदेव द्वारा ब्राह्मणों एवं गुरुजनों को दान देने का उल्लेख मिलता है। वि.सं. 1067 के एक ताम्र पत्र [40] में चालुक्य दुर्लभराज के तंत्रपाल क्षेमराज द्वारा भीनमाल के नन्नुक नामक ब्राह्मण को चन्द्रग्रहण के अवसर पर महादेव के पूजन के निमित्त दिये गये दान का विवरण है। वि.सं. 1165 के जाबलिपुर (जालौर) से प्राप्त परमार विजयराज के ताम्रपत्र में श्रीमाल (भीनमाल) के शांडिल्य गोत्रिय ब्राह्मण को भूमि दान देने के उल्लेख है।[41] इसी प्रकार वि.सं. 1242 के एक ताम्रपत्र[42] में अमृतपाल देव द्वारा सूर्य ग्रहण के अवसर पर अपने माता-पिता तथा स्वयं के कल्याण के निमित्त भारद्वाज गोत्रिय रायकवाल ब्राह्मण ठाकुर शोभा के पुत्र मदन को षटपंचाशत् मंडल के गातोड ग्राम का ल्हसाडिया नामक एक अरहट, दो हलबाह भूमि तथा धान का खेत दान में दिये जाने का उल्लेख है।

प्राचीन काल से ही ब्राह्मणों द्वारा जीविका हेतु कृषि धर्म अपनाये जाने के भी प्रमाण प्राप्त होते हैं। धर्मसूत्रों में ब्राह्मणों के कुछ ऐसे उल्लेख प्राप्त होते है जिन्होंने आपद् धर्म के रूप में कृषि को अपनाया था। मनु ने भी ऐसा ही विधान प्रस्तुत किया ।[43] रामायण में गर्ग नामक त्रिजात ब्राह्मणों की कथा है जिन्हें खनन ,कृषि कर्म में संलग्न दर्शाया गया है।[44] महाभारत में भी ब्राह्मणों के आपद धर्म में कृषि कर्म का उल्लेख है। दान में प्राप्त भूमि अथवा ग्राम व्यवस्था (अग्रहार कर मुक्त गाँव जो ब्राह्मणों को दान में प्राप्त हुये थे।) की चिन्ता ने ब्राह्मणों के अध्ययन-अध्यापन में बाधा पहुँचाई। रामायण में राजा द्वारा भूमि की दक्षिणा दिये जाने के समय ऋत्विजों द्वारा अपने अध्ययन-अध्यापन में बाधक समझ भूमि दान को अस्वीकृत करने का उल्लेख मिलता है। वे स्पष्ट कहते हैं कि इसकी रक्षा आदि की व्यवस्था कष्टप्रद है, अतः भूमि का दान हमारे लिये उचित नहीं है ।[45] इससे स्पष्ट है कि अध्ययनशील ब्राह्मणों के लिये भूमि की व्यवस्था असुविधाजनक थी।

राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में भी ब्राह्मणों द्वारा कृषि कर्म के माध्यम से जीविकोपार्जन के उल्लेख प्राप्त होते हैं।कामां (भरतपुर) से प्राप्त एक अभिलेख [46] में आठ अनुदानों का वर्णन मिलता है जो शिव (देवता) के नाम पर दिये गये थे। लेख के 6 वें प्रलेख में कहा गया है कि वर्ष 220 को उनतात नाम के व्यक्ति ने अपने अधीनस्थ गांव में तीन हलो द्वारा जोती जाने योग्य भूमि जिसे पूर्व में सहल्ल, जञ्ज एवं अन्य ब्राह्मण जोतते थे और जिसे बाद में एडुवाक नाम के हलिक ने जोता, दान कर दी थी। वि.सं. 900 के भोजदेव के दौलतपुरा (डीडवाना) ताम्रपत्र[47] में सिवाग्राम वासुदेव तथा भट्ट विष्णु के वंशजों को पुनः प्रदान करने का उल्लेख है। इसी प्रकार 1067 के एक ताम्रपत्र[48] में भीनमाल क्षेत्र के अन्तर्गत क्षत्रियपद नामक गांव ब्राह्मण गोविन्द के पुत्र नाणक को दिये जाने का उल्लेख है।

भूमिदान के माध्यम से वृत्ति की स्थायी व्यवस्था एवं प्राप्त देय व्यवस्था में रत हो जाने के कारण प्रतिगृहीता शनैः शनैः अपने आदर्शों से च्युत होने लगे क्योंकि इस प्रकार की स्थायी व्यवस्था से पूर्व ब्राह्मण मुनि एवं भिक्षुओं को भिक्षाटन के लिये समाज में जाना पड़ता था। जीविकोपार्जन के लिये भिक्षा की आवश्यकता उनके आचरण पर नियंत्रण रखती थी किन्तु दान से प्राप्त आर्थिक सम्पन्नता ने समाज का यह नियंत्रण हटा लिया। इस प्रकार इस वर्ग (ब्राह्मण, भिक्षु आदि) के कुछ लोग निश्चिन्त होकर जोगी के स्थान पर भोगी बन गये। पूर्व मध्यकालीन कतिपय धर्म सम्प्रदायों में भोगवादी तत्वों के विकास का यह सबसे बड़ा कारण भी था।[49]

धर्मशास्त्रों ने ब्राह्मणों को अध्यापन, पौरोहित्य तथा प्रतिग्रह के अतिरिक्त अन्य साधनों द्वारा भी जीविकोपार्जन की अनुमति प्रदान की थी। वे क्षत्रिय तथा वैश्यवृत्ति को अपना कर अपना जीवन निर्वाह कर सकते थे। विद्वानों की यह मान्यता है कि मण्डोर के प्रतिहार, गुहिल, चाहमान और परमार प्रारंभ में ब्राह्मण थे, किन्तु क्षात्र धर्म का पालन करने के कारण वे क्षत्रिय कहलाये। वि.सं. 894 की बाऊक प्रशस्ति[50] में मण्डोर के प्रतिहार वंश के संस्थापक हरिचन्द्र (हरिश्चन्द्र) को ब्राह्मण बताया गया है। हरिचन्द्र (हरिश्चन्द्र) द्वारा ब्राह्मण एवं क्षत्रिय कन्या से विवाह करने का उल्लेख भी अभिलेख में है। अनेक ब्राह्मणों द्वारा राजकीय सेवा करने के भी उल्लेख प्राप्त होते है। प्राचीन काल में राजपुरोहित का पद अति महत्वपूर्ण होता था राजपुरोहित के अतिरिक्त राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर भी ब्राह्मणों की नियुक्ति की जाती थी। पृथ्वीराज तृतीय का दण्डनायक स्कन्द नागर ब्राह्मण था । गुर्जर प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल एवं महीपाल के गुरु राजशेखर यायावर वंशीय ब्राह्मण था । उनके पिता दुर्दक या दुहिक किसी राजा के महामंत्री थे ।

पृथ्वीराज चौहान का राजपंडित जयानक कश्मीरी ब्राह्मण था । परमार प्रशासन में सांधिविग्रहिक एवं दूतक के पदों पर प्रायः ब्राह्मणों की ही नियुक्ति होती थी। परमार देवपाल का सांधिविग्रहिक महापंडित विल्हण था। इसी प्रकार परमार नरेश सीयक के वि.सं. 1005 हारसौला (अहमदाबाद-गुजरात) दानपत्र[51] में ब्राह्मण ठाकुर विष्णु को राजन्य कहा गया है। ब्राह्मणों द्वारा ग्राम व्यवस्था में भी सहयोग करने के प्रमाण राजस्थान से प्राप्त हुये हैं। वि.सं. 1198 के रायपाल देव के नाडौल प्रस्तर अभिलेख[52] में धालोप ग्राम के 16 ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है। उक्त ग्राम 8 मोहल्लों में विभाजित था। प्रत्येक मोहल्ले से 2 ब्राह्मण प्रतिनिधयों को लिया जाता था। गांव में शान्ति एवं व्यवस्था का उत्तरदायित्व इन्हीं ब्राह्मणों पर था।

ब्राह्मण राजकीय प्रशस्तियों एवं अभिलेखों के लेखक तथा उत्कीर्णक भी होते थे। वि.सं. 682 के वर्मलाट के बसन्तगढ़ लेख[53] का लेखक ब्राह्मण धूर्तराशि था। वि.सं. 718 के कुण्डेश्वर मंदिर[54] की प्रशस्ति को वत्स के पुत्र यशोभट ने उत्कीर्ण किया। वि.सं. 746 के झालरापाटन शिव मंदिर अभिलेख[55] का कवि भट्टशर्वगुप्त था। इसी प्रकार हर्ष संवत् 201 के खण्डेला अभिलेख की रचना[56] दीक्षित भट्ट सत्यघोष ने की। वि.सं. 918 के घटियाला अभिलेख[57] का रचनाकार मातृकवि मग ब्राह्मण था । वि.सं. 1003 के प्रतापगढ़ अभिलेख[58] में लेखक के रूप में पुरोहित त्रिविक्रमनाथ का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार गुहिल नरेश अरिसिंह के वि.सं. 1173 के पालडी अभिलेख[59] का लेखक शूद्रक पंडित था। महाकवि माघ ने अपने काव्य (शिशुपाल वध) की रचना भीनमाल में रहकर की थी। प्रसिद्ध जैन विद्वान हरिभद्र सूरि (समराइच्छकहा एवं धूर्ताख्यान के लेखक तथा विधिचैत्य आन्दोलन के प्रणेता) जाति से ब्राह्मण थे।[60]

राजस्थान के ब्राह्मणों द्वारा वैश्यवृत्ति अपनाये जाने के भी प्रमाण प्राप्त होते हैं। चाहमान नरेश पृथ्वीराज तृतीय के समय के वि.सं. 1234 के एक अभिलेख[61] में कौशिक गोत्रिय ब्राह्मण के पुत्र द्वारा वाणिज्य से उपार्जित धन से एक वापी निर्माण का उल्लेख है।

ब्राह्मणों द्वारा अनेक धर्मार्थ कार्य जिनमें मंदिर एवं वापी निर्माण प्रमुख था. भी करवाये जाने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। वि.सं. 1030 के हर्षनाथ अभिलेख[62] में वार्गटिका ब्राह्मण वंश में उत्पन्न तथा राणपल्ली (रानोली) ग्राम में उत्पन्न अल्लट द्वारा हर्षदेव (शिव) का भवन निर्मित करवाने का उल्लेख है वि.सं. 1102 के भडूंद अभिलेख[63] में परमार नरेश पूर्णपाल के समय कुछ ब्राह्मणों द्वारा भुण्डीपद (भडूंद) गांव में एक बावड़ी के निर्माण का उल्लेख है। पूर्व में पृथ्वीराज

तृतीय के समय के वि.सं. 1234 के अभिलेख का उल्लेख किया ही जा चुका है जिसमें कौशिक गोत्रीय एक ब्राह्मण द्वारा बावडी के निर्माण का उल्लेख है। प्राचीन राजस्थान के इन अभिलेखों के अतिरिक्त तत्कालीन साहित्य से भी ब्राह्मणों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। कुवलयमाला जिसकी रचना उद्योतन सूरि ने ई. सन् 778 में जावालिपुर (जालौर) में की थी, में ब्राह्मण वर्ग के सम्बन्ध में निम्नांकित तथ्य प्राप्त होते हैं- - राजदरबार में नियुक्त ब्राह्मणों को महाब्राह्मण कहा जाता था, ब्राह्मण पुरोहित का कार्य करते थे, मांगलिक अवसरों अथवा यात्रा प्रारंभ के समय उन्हें दक्षिणा दी जाती थी तथा आशीर्वाद लिया जाता था। ब्राह्मण को गौ, भूमि, धान्य एवं हल आदि का दान करना धर्म माना जाता था। ब्राह्मणों की पाठशालाएं थीं जहाँ वेद पाठ होता था तथा ब्राह्मण वध समाज में निन्दनीय माना जाता था।[64] इसी प्रकार चित्तौड़ निवासी हरिभद्रसूरि ने समराइच्चकहा (8वीं शताब्दी) में लिखा है कि तत्कालीन समाज में सभी वर्णों में ब्राह्मणों को श्रेष्ठ माना जाता था। वे पठन-पाठन के साथ यज्ञ-हवन आदि कार्यों में रत रहते थे तथा वे राजाओं के सचिव आदि श्रेष्ठ पदों को सुशोभित करते थे। अन्त्येष्टि क्रियाओं के बाद मृत आत्मा की शान्ति के लिये ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था तथा विशिष्ट ब्राह्मणों को दान देने की भी प्रथा थी ।[65]

सारांश में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन राजस्थान में ब्राह्मणों का सम्मानपूर्ण स्थान था। समस्त धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न कराने का एकमात्र अधिकार ब्राह्मणों को ही प्राप्त था। समाज को शिक्षित करने, धर्मगत कृत्यों को सम्पादित करने, याज्ञिक क्रियाओं को सम्पन्न करने में वह सहायक होता था। उसे कर्म एवं ज्ञान का सच्चा जीवन दर्शन माना जाता था। मुसलमानों के आगमन के बाद ब्राह्मणों में स्थानीय एवं संकुचित भावनायें प्रबल होने लगी। विवाह भोजन एवं सामाजिक सम्पर्क के नियमों को अधिकाधिक कठोर एवं जटिल बनाया गया। नियमों का उल्लघन करने वालों का बहिष्कार किया जाने लगा। खान-पान के कठोर नियमों के पालन में जिन ब्राह्मणों ने शिथिलता बरती उन ब्राह्मणों का स्वतः भेद हो गया। जो ब्राह्मण किन्हीं कारणों से मुसलमानों के सम्पर्क में आये वे अन्य ब्राह्मणों द्वारा हेय दृष्टि से देखें जाने लगे। राजस्थान के ब्राह्मण अपने को पूर्वी भारत के ब्राह्मणों से श्रेष्ठ मानते थे क्योंकि वहाँ के कुछ ब्राह्मण मांस भक्षण करते थे। इस पार्थक्य से राजस्थान के ब्राह्मणों का बाह्य सम्पर्क कम हो गया जिससे उनकी बौद्धिक प्रगति को आघात लगा । राजपूत शासकों ने हिन्दूधर्म के अगुआ ब्राह्मणों को पर्याप्त सम्मान दिया क्योंकि हिन्दू धर्म के अगुआ ब्राह्मण ही सनातन हिन्दू धर्मशास्त्रों के ज्ञाता

थे तथा उनके साथ मिलकर हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की रक्षा में संलग्न थे अतएव ब्राह्मणों के प्रति सम्मान हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के प्रति सम्मान माना जाता था।

क्षत्रिय

भारतीय समाज में क्षत्रियों की स्थिति ब्राह्मणों के पश्चात थी किन्तु उनका सम्मान तथा गौरव ब्राह्मणों से न्यून नहीं था। राष्ट्र और समाज की रक्षा का दायित्व क्षत्रियों का ही था। अपने युद्ध कौशल और प्रशासन से वे समाज को रक्षित और पोषित करते थे। ऋग्वेद में उन्हें 'क्षेत्र' से सम्बन्धित किया है जिसका सम्बन्ध शौर्य और पराक्रम से है। उनका कार्य युद्ध, पराक्रम, शौर्य प्रदर्शन था। यद्यपि तत्युग मे वर्ण व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा ही थी तथापि युद्ध और शौर्य से सम्पन्न क्षत्रिय (राजन्य) वर्ग के रूप में गृहीत किया गया। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में इस वर्ग की उत्पत्ति विराट पुरुष की भुजाओं से बतायी गई है।

उत्तरवैदिक युग में राजन्य वर्ग ने देश और समाज में श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयास किया फलस्वरूप कहा जाने लगा कि क्षत्रिय से श्रेष्ठ कोई नहीं है। राजसूय यज्ञ में राजा का उच्चासनस्थ होना तत्सम्मुख निम्न आसन पर आसीन ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय की उपासना की जाती थी यही नहीं ब्रह्म को क्षत्रिय योनि माना गया।[66] उनका जातीय गुण, शौर्य, शासन और सैन्य संचालन माना जाता था। उनका प्रमुख कार्य था चातुर्वर्णों को संरक्षण प्रदान करना। ब्राह्मणों की भांति क्षत्रियों को अध्ययन-अध्यापन का अधिकार तो प्राप्त था, किन्तु यज्ञ कराने का अधिकार नहीं था। वे केवल प्रजा-रक्षण हेतु कृतकृत्य थे। इस प्रकार क्षत्रिय के अधिकार ब्राह्मणों से कम थे और समाज में उनका स्थान ब्राह्मणों के बाद था।

पूर्वमध्यकाल में एक नई जाति का आविर्भाव हुआ जिसे "राजपूत" नाम से जाना जाता है। इस काल तक आते-आते क्षत्रिय जाति में अपना परिचय जाति एवं गोत्र तथा प्रवर के आधार पर देने की प्रथा समाप्त प्रायः हो जाती है, और यह परम्परा राजपूतों के उदयार्थ विभिन्न कथाओं के लिए उत्तरदायी मानी जा सकती है।

यद्यपि कर्तव्यों की दृष्टि से राजपूत क्षत्रिय ही थे तथापि इन्हें क्षत्रियों की सन्तान मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेकानेक मत प्रचलित हैं ।[67]

तत्कालीन समाज में निरन्तर अग्रसर एवं बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप विद्वानों ने इनका सम्बन्ध हिन्दू आराध्य, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवों के साथ जोड़ दिया किन्तु पाश्चात्य एवं कतिपय भारतीय विद्वानों ने दैवी उत्पत्ति के इस सिद्धान्त को अस्वीकृत कर सिद्ध किया कि राजपूत जाति का प्राचीन वैदिक क्षत्रियों से कोई सम्बन्ध नहीं था। टॉड, क्रुक, भण्डारकर आदि विद्वान राजपूतों को शक, हूण, गुर्जर आदि विदेशी जातियों की सन्तान स्वीकार करते हैं वहीं सी.वी. वैद्य इन्हें विशुद्ध क्षत्रियों की सन्तान मानते हैं ।[68] जी. एच . ओझा की मान्यता है कि राजपूतों की नसों में क्षत्रियों का रक्त तो प्रवाहित था किन्तु कुषाण आदि अनार्य जातियाँ भी इसमें मिल गई थी।[69] वि.सं. 894 (837ई0) के बाउक[70], वि.सं. 918 के घटियाला स्तम्भ लेख[71] में उल्लेखित है कि विप्रः श्री हरिश्चन्द्राख्यः पत्नी भद्रा च क्षत्रया ताभ्यान्तु (ये सु) ता जाता: (प्रतीहा) संश्च तान्विदुः (5) हरिशचन्द्र नामक ब्राह्मण जिसे रोहिल्लद्धि भी कहते थे, वेद तथा शास्त्रों का ज्ञाता था। उसके दो स्त्रियाँ थी- एक ब्राह्मण तथा दूसरी क्षत्रिय ब्राह्मणी के पुत्र ब्राह्मण प्रतिहार और क्षत्राणी के मधु पायी क्षत्रिय प्रतिहार कहलाए। घटियाला स्तम्भ लेख में 'आसीत्प्रतिहार वंश गुरूसद्विजः श्री हरिश्चन्द्र कहकर प्रतिहारों के वंश पुरुष द्विज हरिश्चन्द्र को स्वीकार किया है। वि.सं. 1099 बसन्तगढ की लाहिनी बावडी से प्राप्त अभिलेख[72] एवं वि.सं. 1174 के जालौर से प्राप्त अभिलेख[73] में परमारों को वशिष्ठ मुनि से सम्बन्धित माना गया है। वि.सं. 1226 के बिजौलिया अभिलेख[74] एवं सुंधा अभिलेख[75] में चाहमानों को वस्सगोत्रीय ब्राह्मण बताया गया है। वि.सं. 1034 के अटपुर[76] अभिलेख में गुहिलों को विप्रकुल का कहा गया है।

वि.सं. 1034 के आहड़ से प्राप्त एक अभिलेख में गुहिल को आनन्दपुर से निकले हुए ब्राह्मणों के कुल को आनन्द देने वाला लिखा है।[77] गोपीनाथ शर्मा ने कुम्भलगढ प्रशस्ति के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि बापा रावल आनन्दपुर के ब्राह्मण वंश से सम्बन्धित था क्योंकि महाराणा कुम्भा ने पर्याप्त छानबीन के बाद ही अपने वंश के सम्बन्ध में स्पष्ट कर ब्राह्मण वंशीय होना अंकित करवाया।[78]

चाटसू अभिलेख[79] 977ई. के अटपुर लेख में काल भोज को 'अर्कसम" अर्थात् सूर्य की भांति लिखा है न कि सूर्यवंशीय यह तो निर्विवादित है कि 7 वीं शताब्दी से 17 वीं शताब्दी तक भी गुहिल वंशीय अपने आपको ब्राह्मण वंशीय मानते रहे इसलिए इनके लिए "विप्र", "विप्रकुल' आदि शब्दों का प्रयोग स्वन्तत्रतापूर्वक करते रहे है। इसी प्रकार ब्रह्मक्षत्र का प्रयोग इस बात का सूचक है कि क्षत्रियों ने ब्रह्मतेज से सम्बन्धित होते हुये क्षात्रबल से समाज में प्रतिष्ठा को बढाया। भारतीय

इतिहास में कई ऐसे उदाहरणों को प्रस्तुत किया जा सकता है जहाँ प्रारम्भ में ब्राह्मण होते हुए कई राजवंश क्षत्रिय पद को प्राप्त हुए ऐसे वंशों में शुंग, कण्व तथा सातवाहन मुख्य है। वस्तुतः निर्विवादित रूप से क्षत्रियों की उत्पत्ति का एक कारण कहा जाना असंभव है।

सारांशतः कहा जा सकता है कि इनमें से कुछ निश्चय ही प्राचीन क्षत्रियों की संतान है किन्तु शेष अन्य जातियों यथा ब्राह्मणादि कुछ अनिश्चित परिवारों, कुछ विदेशी राजपरिवारों से सम्बद्ध है। शक, हूण, पल्हव आदि विदेशी जातियों ने प्राचीन क्षत्रिय राजपरिवारों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर क्षत्रिय जाति में प्रवेश किया। संवत् 1034 के शक्ति कुमार के शिलालेख से विदित होता है कि हरियादेवी नामक हूण कन्या का विवाह गुहिलवंशीय अल्लट के साथ सम्पन्न हुआ था। शकों ने भी भारतीय नरेशों के साथ अपनी कन्याओं के विवाह किये थे। कान्हेरी की गुफा से प्राप्त अभिलेख में रूद्रदामा की पुत्री को सातवाहन नरेश गौतमी पुत्र के छोटे पुत्र वासिष्ठी पुत्र सातकर्णि की पत्नी बताया है ।[80] उनके विवाह सम्बन्ध दक्षिण के इक्ष्वाकुओं से भी हुए थे। प्रयाग प्रशस्ति से विदित होता है कि पड़ौसी विदेशी राज्यों ने समुद्रगुप्त से अपने मैत्री को दृढ़ करने के लिए गुप्तवंश में अपनी राजकुमारियों का विवाह किया था।[81] क्षात्रधर्म अपनाने वाले ब्राह्मणों का क्षत्रियों में विलोप और भी सहज था क्योंकि दोनों समान जीवन पद्धति एवं धर्म के अनुयायी थे। अतएव यह धारणा सत्य प्रतीत होती है कि नवोदित राजपूत जाति में विदेशी जातियों, ब्राह्मणों, गणजातियों व क्षत्रियों इन सभी तत्वों का सम्मिश्रण है।

अध्ययन सापेक्ष काल में राजपूत विभिन्न कुलों में विभाजित हो गये थे। कल्हण द्वारा विरचित "राजतरंगिणी' चन्दबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो ' पद्यनाभ द्वारा लिखित "कान्हण दे प्रबन्ध ' बीसल देव रासो आदि में 36 राजपूत कुलों का उल्लेख मिलता है।

पूर्वमध्यकालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजस्थान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रतिहार, परमार, गुहिल, चौहान, राष्ट्रकूटों के द्वारा शासन किया गया। इन विविध राजवंशों का अभिलेखों के आधार पर अध्ययन प्रसंगानुकुल होगा। वि.सं. 894 के बाउक के शिलालेख[82] एवं वि.सं. 918 के (861 ई0) के घटिया ला शिलालेख[83] से स्पष्ट है कि वेद, शास्त्र का ज्ञाता हरिश्चन्द्र नामक ब्राह्मण प्रतिहारों का आदि पुरुष था। इनकी दो पत्नियाँ ब्राह्मणी व भद्रा नामक क्षत्रिया थी। ब्राह्मणी से ब्राह्मण प्रतिहार व क्षत्रिया से क्षत्रिय प्रतिहार हुए। भद्रा के पुत्र भोगभट, कक्क, रज्जिल और दद्द नाम से विख्यात हुए। इन चारों ने मिलकर मांडव्यपुर 'मंडोर को जीता और उसके

चारों ओर प्राकार बनाया। इस शाखा में भोगभट प्रथम प्रतापी शासक हुआ जिसने मेड़ता को अपनी राजधानी बनाया। इसी वंश में नागभट का पुत्र तात हुआ जो जीवन की क्षण भंगुरता को देखकर मण्डोर के पवित्र आश्रम में जाकर धर्माचरण में प्रवृत्त हुआ। क्षत्रियत्व का परमधर्म शत्रुओं का दमन एवं प्रजा रक्षण है। यशोवर्धन तथा शिलुक शत्रु-कंटकों के विनाशक थे। शिलुक ने स्रवणी और वल्ल्देश तक सीमा का विस्तार किया। प्रतिहार राजाओं के द्वारा मन्दिर, कूप, बावडी, नगर एवं हाट आदि का निर्माण करवाया जिससे उनकी प्रजा - कल्याण की भावना का परिचय मिलता है। प्रतिहार शिलुक ने त्रेता तीर्थ में बाबडी नगर और सिद्धेश्वर महादेव का उन्नत मन्दिर बनवाया। इसी वंश के न्यायप्रिय , दुष्टों को दण्ड देने वाले, समदर्शी, विनम्र, गुणग्राही एवं मृदुभाषी कक्कुक ने वट्टनानक (बेडा नाणा) के दुर्गम पहाड़ पर सम्पूर्ण गोधन को एकजुट कर उसके परिमण्डल में कुछ गाँव बसाकर प्रजाजनों को अभय प्रदान किया। शासन की दीर्घकालीनता आर्थिक विकास पर निर्भर करती है। कक्कुक ने रोहिन्सकूप ग्राम में एक हाट बनाया जो महाजनों, विप्रों, क्षत्रियों एवं व्यापारियों से भरा रहता था। साथ ही धार्मिक भावना का आदर करते हुए भक्तों को सुख देने वाले एवं पापों के विध्वंसक जिनेन्द्रदेव का अचल भवन बनवाया। मण्डोर के प्रतिहारों में बाउक बलशाली राजा था जिसने रणभूमि में शत्रु राजा को मार डाला तदनन्तर योद्धाओं को मौत के घाट उतार दिया। (वि०सं० 1016) के राजोरगढ़ शिलालेख[84] में प्रतिहार वंशीय गुर्जर महाराजाधिराज सांवट के पुत्र महाराजाधिराज परमेश्वर मथनदेव का उल्लेख है जो कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहारों का सामन्त था।

प्रतिहारों में ऐसे अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि प्रतिहार

वर्णाश्रम धर्म के रक्षक एवं पोषक थे। बाउक प्रशस्ति से विदित होता है कि शिलुक के पुत्र झोट ने राज्यसुख का उपभोग कर गंगा नदी के तट पर निवास किया। भिल्लादित्य युवावस्था में ही राज्यभार पुत्र को सौंप कर स्वयं हरिद्वार चला गया।

10वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रतिहार साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ होने से पूर्व चाहमान वंश की अनेक शाखाएँ उनकी अधीनता स्वीकार करती थी। उनमें भृगुकच्छ, प्रतापगढ़, नाडौल,धवलपुरी आदि शाखाओं का तो सामन्त रूप मे ही अन्त हो गया किन्तु शाकम्भरी की चाहमान शाखा आगे चलकर अपना सामन्ती स्वरूप छोड़कर एक साम्राज्य सत्ता के रूप में विकसित होने में सफल हुई। विभिन्न अभिलेखों से चाहमान वंश के शासकों पर पर्याप्त प्रकाश

पडता है। चौहान राजपूतों से सम्बन्धित वि.सं. 1030 (973 ई.) का हर्षनाथ शिलालेख[85] एवं वि.सं. 1226 (1170 ई0) बिजौलिया शिलालेख[86] महत्वपूर्ण है। हर्षनाथ शिलालेख प्रशस्ति सांभर के चौहान नरेश विग्रहराज के समय की है। इसमें चौहानों के वंशक्रम तथा उनकी उपलब्धियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार बिजौलिया शिलालेख से सांभर एवं अजयमेरू के चौहान वंश की सूची एवं उनकी उपलब्धियों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

जिस समय पश्चिमी राजस्थान में प्रतिहार वंश शक्ति संग्रह कर रहा था। लगभग उसी समय राजस्थान के दक्षिण, दक्षिणी-पूर्वी भाग में गुहिल वंश का उदय हुआ जिसका संस्थापक गुहिल था। इस वंश के राजपूत जहाँ-जहाँ जाकर बसे उन्होंने अपने को गुहिलवंशीय कहा। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में गुहिल मेवाड़ में शक्तिशाली बने और तदन्तर इसी वंश के अन्य प्रतिभाशाली व्यक्ति राजस्थान के अन्य भागों में जाकर बस गये। गुहिलों की अनेक शाखाओं के बारे मे पता चलता है जिनमें कल्याणपुर के गुहिल, वागड़ के गुहिल, चाटसू के गुहिल, मारवाड़ के गुहिल, धौड़ के गुहिल, काठियावाड़ के गुहिल, मेवाड़ के गुहिल आदि अधिक प्रसिद्ध हैं । वि.सं. 718 (661 ई0) के कुण्डेश्वर मन्दिर शिलालेख[87] वि.सं. 1000 (943 ई.) के आहाड़ अभिलेख[88] वि.सं. 1010 (953 ई0) के सारणेश्वर शिवालय का लेख[89] एवं 10वीं शताब्दी के चाटसू लेख[90] आदि अभिलेखों से गुहिल राजपूत शासकों की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अभिलेखों से इसके विभिन्न गोत्रों पर प्रकाश पड़ता है। यथा मेवाड़ के गुहिलवंशियों का गोत्र बैजवाप था।[91] पुष्कर के अष्टोतरशत लिंगवाले मन्दिर के वि.सं. 1243 के सती स्तम्भ लेख में सती होने वाली ठकुरानी हीरवदेवी के पति ठाकुर कोल्हण को गुहिलवंशी एवं गौतम गोत्री बताया है।[92] काठियावाड के गोहिल भी गौतमगोत्री कहलाते हैं।[93] गुहिलवंशीय विजयसिंह के मध्यप्रदेश के दमोह से प्राप्त शिलालेख में विजयपाल, भुवनपाल, हर्षराज एवं विजयसिंह को विश्वामित्र गोत्री बताया है[94] इसी प्रकार चालुक्यों (सोलंकियों) का मूल गोत्र मानव्य था।[95] सी.बी. वैद्य ने उन्हे भारद्वाज गोत्रीय माना है।[96] ऐसा लगता है कि राजपूतों के क्षेत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के आधार पर माने गये थे। मिताक्षरा के अनुसार जिन क्षत्रियों और वैश्यों के स्वयं के गोत्र या प्रवर नहीं होते, वे अपने पुरोहितों के गोत्र एवं प्रवर अपना सकते थे ।[97] दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान में अर्बुदमण्डल में जैसे-जैसे प्रतिहारों की शक्ति क्षीण होती गई वैसे-वैसे परमारों का प्रभाव बढ़ता गया। परमार वंश की भी अनेक शाखाओं का पता चलता है जैसे धारा-

उज्जैन (मालवा एवं लाट) के परमार जावालिपुर (जालौर) के परमार चन्द्रावती (आबू) के परमार, बागड (बांसवाडा-डूंगरपुर) के परमार किरातकूप (किराड़) के परमार इत्यादि ।[98]

वि.सं. 1053 के हस्तिकुण्डी अभिलेख[99] एवं वि.सं. 1063 के धनौप अभिलेख[100] से राजस्थान में राष्ट्रकूट वंश की शाखाओं पर प्रकाश पड़ता है । मेवाड़ के शासक भर्तृभट्ट की रानी महालक्ष्मी को हथुण्डी के राठौड़ राजा की पुत्री माना जाता है।[101]

विवेच्यकालीन अभिलेखों से राजपूतों के अन्य वंशों पर भी प्रकाश पडता है। जो राजस्थान की शासन व्यवस्था से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए थे । वि. सं. 847 के कोशवर्द्धन अभिलेख[102] में नागवंशी देवदत्त का उल्लेख मिलता है। अभिलेखों से राजस्थान में भट्टिवंश (भाटी) एवं गौड वंशीय राजपूतों की भी जानकारी मिलती है ।वि.सं. 894 की जोधपुर की बाउक प्रशस्ति[103] में गौड़ों एवं भट्टिवंश (लेख में बाउक को भट्टिवंश की रानी से उत्पन्न बताया गया है) का उल्लेख मिलता है। लगभग 300ई0 के विजयगढ (बयाना) अभिलेख में यौधेयों का उल्लेख मिलता है[104] इसी प्रकार वि.सं. 1056 के किणसरिया अभिलेख[105] में दहिया वंश का उल्लेख मिलता है। अध्ययनकालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि प्राचीन राजस्थान में भिन्न-भिन्न राजपूत राजवंशों का अधिकार रहा जो सैन्य विस्तार हेतु परस्पर युद्वरत भी रहते थे साथ ही जैसा कि अभिलेखों से स्पष्ट होता है इनमें परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किये जाते रहे हैं।

तत्कालीन राजस्थान में मुख्यतः गुहिल, प्रतिहार, चाहमान (चौहान) परमार और राष्ट्रकूट वंश के राजपूत शासन व्यवस्था से जुड़े हुए थे , जिन्होंने राज्यविस्तार, ,जनानुरंजन , लोकोपकारी एवं धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करते हुए अपने शासन का विस्तार राजस्थान से बाहर तक किया। तत्समय राजपूतों के अन्य वंश यथा- नाग, दाहिमा, दहिया, यौधेय, भट्टि, गौड, कच्छवाह आदि का भी आगमन एवं निर्गमन हुआ। अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि राज्य की सत्ता प्रत्यक्षतः राजपूतों के हाथ मे थी। राज्य की आन्तरिक एवं बाह्यशत्रुओं से सुरक्षा समाज में सांस्कृतिक मूल्यों का उपस्थापन, प्रजारंजन, धार्मिक भावना एवं आस्था का समादर एवं उत्थान राजपूतों के मूख्य कर्त्तव्य थे,तथापि समाज में उनका स्थान ब्राह्मणों के बाद था।

वैश्य

स्मृतिकारों के अनुसार वैश्य का द्विज में तृतीय स्थान था। व्यापार व्यवस्था तथा कृषि का समस्त भार उसके ऊपर निर्भर था। राज्य और देश की आर्थिक स्थिति उसी के सत्यप्रयास से

सुदृढ़ होती थी। अर्थसम्बन्धी नीतियों का सम्पूर्ण संचालक वैश्य वर्ग था। अध्ययन, यजन और दान उसका परम कर्त्तव्य था । कौटिल्य ने वैश्य का परम कर्म अध्ययन करना, यज्ञ करना और दान देना बताया है।[106] कालान्तर में वैश्यों ने शिक्षा ग्रहण करने का कार्य त्याग दिया और अपने को पूर्णरूपेण व्यापार और वाणिज्य में लगा दिया। इस प्रकार आध्यात्मिक और बौद्धिक उन्नयन का मार्ग उनसे छूट गया। अध्ययन, यजन, दानादि के कर्मों को त्याग कर वैश्य, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और कुसीद (ब्याज वृत्ति) जैसे धनार्जन के कार्यों में सलंग्न हो गये ।[107] महाभारत में कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यों के स्वाभाविक कर्म माने गये थे ।[108] कौटिल्य ने भी अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वैश्यों का कर्म बतलाया है ।[109] मनु ने पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढना, व्यापार करना, ब्याज लेना और कृषि करना वैश्यों के मुख्य कर्म बताये हैं |[110] बौद्ध एवं जैनी यह मानते थे कि कृषि कार्य में हिंसा होती है अतः उन्होंने कृषि कार्य को पाप माना अतः उन्होंने कृषि को निम्न कार्य मानते हुए इसे छोड़ दिया। हवेनसांग के अनुसार तृतीय वर्ण वैश्यों या व्यापारियों का था जो पदार्थों का विनिमय कर लाभ कमाता था।[111]

वैश्यों के लिए समाज में कई नाम प्रयुक्त होते थे। गुप्तकाल में श्रेष्ठि, सार्थवाह आदि शब्द वैश्यों के लिए प्रयुक्त होते थे। हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि में वैश्यों के लिए छः शब्दों का प्रयोग किया है- अर्था, भूमिस्पर्श, वैश्य, उख्या, अरूजा और विशः। वैसे उन्हें वणिक और धान्यमाय भी कहा जाता था।'समरा इच्चकहा में इन्हें बणिजक तथा वणिक नामों से सम्बोधित किया गया है। [112]जैन साहित्य में वैश्य जाति की समृद्धि के बारे में पर्याप्त वर्णन प्राप्त होता है। उन्हें साहसी व्यापारी तथा समाज का प्रतिष्ठित व्यक्ति समझा जाता था। समृद्धि के कारण राजदरवारों में उनकी पर्याप्त प्रतिष्ठा होती थी। इस वर्ण में वे सभी व्यक्ति सम्मिलित हो सकते थे जो व्यापार को अपना व्यवसाय बनाते थे। कुवलयमाला में धनदेव नामक एक शूद्र, व्यापारी का उल्लेख मिलता है जिसका व्यापारिक मण्डल में भव्य स्वागत किया जाता है।[113] चाहमान पुग में वैश्य वर्ग में मुख्यरूप से अग्रवाल, माहेश्वर एवं ओसवाल तीन वर्ग मिलते हैं जो अपना उद्भव क्षत्रियों से बताते हैं और किसी समय जैन धर्म के प्रभाव से मांस एवं सैनिक वृत्ति छोड़ने के कारण वैश्य हो गये ।[114] स्मृतियों में वैश्यों के लिये कृषिकर्म, पशुपालन, व्यापार तथा धन एकत्रित करना इत्यादि कर्तव्य बताये गये हैं किन्तु जैन धर्म के सम्पर्क एवं प्रभाव के कारण वैश्य वर्ग ने प्रथम दो व्यवसाय छोड दिये। इनकी नियुक्ति राज्य के बड़े-बड़े पदों पर होती थी। चाहमान

विवरणों में वैश्यों की कतिपय उपजातियों के नाम मिलते हैं ।जिनमें प्राग्वाट, उकेशवंश, मोदह, हुम्बड़ , धरकट आदि उल्लेखनीय हैं।[115] वणिक श्रेणियों में विभाजित थे। स्थानीय व्यापारी (वणिक) घोडे या बैल की पीठ पर सामान लाद कर बाजार ले जाता। किराना के व्यापारी का भी उल्लेख मिलता है।[116] विदेश जाने वाले व्यापारी को सार्थवाह कहा जाता था जिनके कारवां चला करते थे।[117]

विवेच्यकालीन अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि तत्कालीन समय में वैश्य मुख्य रूप से व्यापार एवं वाणिज्य से जुडे हुए थे।

वे मुख्यतः थोक व्यापारी थे और सामान को एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में लाने ले जाने एवं क्रय-विक्रय का कार्य करते थे। वि.सं. 723 (646 ई0) के सामोली अभिलेख[118] में वटनगर से आये हुए महाजनों का उल्लेख मिलता है । जिन्होने चांदी, जस्ता एवं ताबों का व्यापार किया । वि.स. 1010 (953 ई0) की सारणेश्वर प्रशस्ति[119] में वहाँ निवास करने वाले कर्णाट और मध्यप्रदेश के लाट एवं टक्का एवं अन्य वणिग्जनों का उल्लेख मिलता है। हर्ष संवत् 201 (807ई0) के खण्डेला अभिलेख[120] में ढूसर वंश के दुर्ग्गवर्धन व्यापारी एवं उसकी वंशावली का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार वि.सं. 749 के सकराय माता शिलालेख[121] में ढूसर वंशीय वैश्यों के अतिरिक्त धर्कट गोत्रीय वैश्यों का भी उल्लेख मिलता है। तत्कालीन समय में खण्डेला एवं उसके समीपवर्ती क्षेत्र में ढूसर एवं धर्कट वंशीय वैश्यों का बाहुल्य था। पानीपत के द्वितीय युद्ध (1556 ई0) का नायक हेमू को ढूसर वंशीय वैश्य माना जाता है।[122] धर्कट वंशीय वैश्यों का वर्तमान में उल्लेख नहीं मिलता है।ऐसा लगता है कि खण्डेला के खण्डेलवाल वैश्यों में ही वे विलीन हो गये हों। के .सी .जैन के अनुसार धर्कट वैश्य जैन एवं माहेश्वरी दोनों ही वैश्य समुदायों में पाये जाते हैं।[123] धर्कट एवं धारवाट (धारकाट) वंश के पांच लोगों का उल्लेख वि.सं. 1117 के जगामडेरा (भीनमाल-जालौर) से प्राप्त अभिलेख[124] में भी मिलता है जिसमें इन दोनों वंशों के लोगों द्वारा परमार नरेश कृष्णराज के शासन काल में सूर्य भगवान जगतस्वामी के मन्दिर के जीर्णोद्वार का उल्लेख मिलता है।

ओसियों (जोधपुर) से ओसवाल वैश्यों का उदय माना जाता है[125] ओसियों के वि.स. 1013 (956ई0) के महावीर मन्दिर से प्राप्त अभिलेख[126] से विदित होता है कि प्रतिहार नरेश वत्सराज के समय मुकेश नगर (ओसियाँ) में वैश्यों सहित चारों वर्ण निवास करते थे। इसी प्रकार वि.स. 918 के घटियाला (जोधपुर)[127] अभिलेख से विदित होता है कि कक्कुक ने रोहिन्स कूप में एक बाजार का

निर्माण करवाया जो हमेशा महाजनों, विप्रों, क्षत्रियों एवं व्यापारियों से भरा रहता था। इसी प्रकार का उल्लेख यहीं से प्राप्त द्वितीय स्तम्भ लेख[128] में भी मिलता है। लेख में रोहिन्सकूप में हाट एवं घरों के निर्माण, यहाँ पर महाजनों के बसाने तथा महाजनों द्वारा पर्याप्त आर्थिक समृद्धि प्राप्त करने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाजनों एवं व्यापारियों पर अर्थव्यवस्था निर्भर रहने के कारण शासन के द्वारा उन्हें सुरक्षित व्यापार उपलब्ध करवाया जाता था जिससे अर्थव्यवस्था मजबूत हो सके। व्यापारियों द्वारा मन्दिरों, कूपों एवं बावड़ियों के निर्माण के भी उल्लेख अभिलेख में पर्याप्त संख्या में प्राप्त होते हैं। वि.सं. 481 के नगरी (चित्तौड़) लेख[129] से विदित होता है कि सत्यशूर, स्तुगन्ध एवं दास नामक तीनों धनाढ्य भाइयों एवं जय के पुत्र विष्णुचर पौत्र वृद्धिवोद्ध तथा प्रपौत्र वासु द्वारा पुण्य एवं यश की वृद्धि हेतु विष्णु के मन्दिर का निर्माण करवाया। वि.सं. 703 के सामोली अभिलेख में वटनगर से आये हुए महाजनो के मुखिया जेतक द्वारा अरण्यवासिनीदेवी का मन्दिर बनवाने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार वि.सं. 742 के मण्डोर बावडी से प्राप्त लेख[130] में इखरक नामक व्यक्ति जिसका यश वित्त संग्रह (संभवतः व्यापारी) के कारण था इसके द्वारा नश्वर संसार एवं धन की असारता को समझते हुए मीठे जल की बावडी बनवाने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार खण्डेला अभिलेख में दूसर वंशीय व्यापारी दुग्गवर्धन के प्रपौत्र आदित्यनाग द्वारा शंकर-पार्वती का मन्दिर बनवाने का भी उल्लेख मिलता है।[131]

वि.सं. 1013 के ओसियाँ मन्दिर अभिलेख में जिन्दक वैश्य के पुत्र द्वारा जिनेन्द्र का भवन (मन्दिर) बनवाने एवं उसकी मृत्यु पर उसकी पत्नी द्वारा इस भवन (मन्दिर) में दुर्गा की प्रतिमा स्थापित करवाने का उल्लेख मिलता हैं।[132] इसीप्रकार लाडनूं (नागौर) के जैन मन्दिर से प्राप्त वि.सं. 1136 के लेख में[133] माथुर संघ के आचार्य गुणकीर्ति के भक्त साहु (शाह) देल्ह के पुत्र श्रेष्ठी (सेठ) बहुदेव द्वारा शान्तिनाथ की प्रतिमा बनवाने का उल्लेख मिलता है।

दान देने के कारण वणिक वर्ग को समाज में पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। मन्दिर के प्रबन्ध समिती (गोष्ठी) में उनको स्थान मिलता था। वि.सं. 918 के घटियाला अभिलेख से विदित होता है कि कक्कुक ने जिनेन्द्र देव का जो मन्दिर बनवाया उसे महाजनों की गोष्ठी को समर्पित किया। इसके अलावा वि.सं. 682 के बसन्तगढ़ अभिलेख, वि.सं. 749 के सकराय माता अभिलेख एवं अन्य अनेक अभिलेखों में मन्दिरों के प्रबन्ध हेतु गोष्ठिकों का उल्लेख मिलता है। श्रीमाल (भीनमाल), रोहिन्सकूप (घटियाला-जोधपुर) ओसियां मण्डोर नडुलाई (नाडोल) तथा किराटकूप (किराडू) जैसे

नगरों की समृद्धि का कारण वैश्य ही थे। अभिलेखों से विदित होता है कि प्रारम्भ में वैश्य हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी बने रहे किन्तु बाद में लगभग 9वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से उनकी आस्था जैन धर्म की ओर अधिक दिखाई देती है। विचाराधीन काल में वैश्यों के राजकीय पदाधिकारी होने के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। चित्तौड से प्राप्त खण्ड लेखों[134] में वणिक श्रेष्ठ वराह के पौत्र एवं विष्णुदत्त के पुत्र (नाम खण्डित है।) को दशपुर एवं मध्यमा (मध्यमिका-नगरी) का राजस्थानीय (प्रान्तीय अधिकारी) बताया गया है। इसी प्रकार वि.सं. 1172 के कटुकराज के सवाडी अभिलेख में वैश्य यशोदेव को बलाधिप[135] (सेनापति) बताया गया है। नाडौल की चाहमान शाखा के संस्थापक लक्ष्मण ने अपनी वैश्य रानी से उत्पन्न पुत्रों को राजकीय भण्डारों को सम्भालने का कार्य दिया था। वे भाण्डागारिक कहलाते थे।[136] वि० सं० 1250 धांधाणक एवं मण्डोर से प्राप्त लेखों में मेहर (वणिक क्षत्रिय) का उल्लेख मिलता है। वर्तमान में इन्हें ओसवालों का अंग माना जाता है।[137]

शूद्र

व्यवहार क्रम में शूद्रों का चतुर्थ स्थान था द्विज जातियों के सेवा कार्य का भार उसके ऊपर था।[138] शूद्र दो प्रकार के व्यक्ति कहलाते थे - कर्म शूद्र एवं जन्म शूद्र ।[139] कर्म शूद्र वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य थे जो शास्त्र विहित स्वकर्तव्यों का पालन न कर शूद्रवत जीवन व्यतीत करते थे अशिक्षित, सन्ध्याग्निहोत्र विरहित, असंयमी ब्राह्मण भी शूद्र माने जाते थे और द्वितीय जन्म शूद्र वे शूद्र माता-पिता से उत्पन्न हुये थे। कर्म शूद्र को हेय दृष्टि से देखा जाता था। शूद्र वर्ण अस्पृश्य नहीं था। वि० सं० 1226 के बिजौलिया अभिलेख में रेवती कुण्ड पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के स्थान करने पर पाप से मुक्ति का उल्लेख मिलता है।[140] पतंजलि कृत महाभाष्य और उसके टीकाकार कैयट (भर्तृहरि के बाद) की टीका महाभाष्य प्रदीप से ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्रों को भी त्रिवर्ण के समान पंचमहायज्ञ करने का अधिकार था।[141]

धीरे-धीरे जब वैश्य वर्ण ने कृषि तथा शिल्प का कार्य छोड़ दिया तब हाथ से किये जाने वाले सभी कार्य शूद्रों ने अपना लिये। शूद्र ही कृषक, लोहार, रंगरेज धोबी, तक्षक, जुलाहे, माली, तम्बोली, तेली, कुम्हार, बढ़ई आदि बन गये । भिन्न-भिन्न पेशों के अनुसार शूद्रों की बहुत सी जातियाँ बन गई कृषक तो शूद्र ही कहलाये किन्तु दूसरे पेशे वाले भिन्न-भिन्न जातियों में बंट गये। ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया शूद्रों के अशिक्षित होने से इनका पंचयज्ञों का अनुष्ठान भी

छूटता गया। पूर्व मध्यकाल में शूद्रों की अवस्था में सुधार के संकेत प्राप्त होते हैं। 9वीं शताब्दी के टीकाकार मेघातिथि ने शूद्रों को द्विजों की सेवा से मुक्ति का समर्थन करते हुए लिखा है कि शूद्र न तो सेवक बनाये जा सकते हैं न ही ब्राह्मण पर निर्भर किये जा सकते हैं, वे व्याकरण तथा अन्य विद्याओं के शिक्षक हो सकते हैं तथा स्मृतियों द्वारा निर्दिष्ट उन सभी कृत्यों को कर सकते हैं जो अन्य वर्णों के लिए निर्दिष्ट थे।[142] हारीत (400ई0 से 700ई0 के मध्य)[143] को उदधृत करते हुये लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) ने यह मत व्यक्त किया है कि विशुद्ध मस्तिष्क का शूद्र. निकृष्ट, दुर्नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य से उत्तम है।[144] इस प्रकार पूर्व मध्ययुगीन भाष्य एवं टीकाओं से पूर्व मध्यकाल में शूद्रों की स्थिति में सुधार परिलक्षित होता है।

अभिलेखों में शूद्रों के अत्यल्प उल्लेख प्राप्त होते हैं। चालुक्य नरेश कुमारपाल के वि०सं० 1207 के चित्तौड़ अभिलेख[145]से विदित होता है कि कुमारपाल ने सज्जन नामक कुम्हार को चितौड़ का प्रशासक नियुक्त किया । कालान्तर में द्विजों की भांति शूद्रों में भी अनेक उपजातियों का विकास हुआ। ' कान्हड़ दे प्रबन्ध ' में अनेक वृत्तिपरक जातियों का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा-बांड्, कहर, सुथार, माली, कुम्हार, लोहार, शिलावट, तम्बोली, दर्जी, घांची, सुनार, भटियार एवं बगनीघड़ा[146] इन जातियों की गणना सम्भवतः शूद्रों में ही की जाती थी। इन जातियों के आर्थिक क्रिया-कलाप सामान्यतः स्थानीय संघों (श्रेणियों) के माध्यम से सम्पन्न होते थे।[147] कामों से प्राप्त 9वीं शताब्दी के अभिलेख[148] में कुम्भकारों , शिल्पियों एवं मालियों की श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार वि०सं० 1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति[149] में दान के प्रसंग में मालियों से मन्दिर के लिये प्रतिदिन एक माला दान स्वरूप लिये जाने का उल्लेख मिलता है। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में हेमकारों (स्वर्णकारों) का भी उल्लेख अभिलेख उत्कीर्णक के रूप में मिलता है। किष्किन्धा के गुहिल नरेश कदाची के समय के ई० सन् 7वीं शताब्दी के शिलालेख का उत्कीर्णक हेमकार नागादित्य था।[150] हर्ष संवत् 182 (ई० सन् 788) के तसई (अलवर) अभिलेख का उत्कीर्णक स्वर्णकार शर था। [151] इसी प्रकार वि०सं० 894 के बाउक के जोधपुर से प्राप्त शिलालेख [152] का उत्कीर्णक विष्णु रवि का पुत्र कृष्णेश्वर था। वि०सं० 918 के द्वितीय स्तम्भ का उत्कीर्णक भी कृष्णेश्वर को बताया गया है।[153] वि०सं०1012 के बयाना अभिलेख में लेख को उत्कीर्ण करने का श्रेय स्वर्णकार श्रीपाल को दिया गया है। [154]

राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में कतिपय अन्य जातियों का भी उल्लेख मिलता है चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में इनकी स्थिति क्या थी, यह स्पष्ट नहीं है। इनमें से कतिपय जातियों का विवरण इस प्रकार है-

कायस्थ

अभिलेखों से कायस्थों के बारे में भी जानकारी मिलती है। इनका नाम चार वर्णों में नहीं मिलता है प्रायः प्रशस्ति के अन्त में कायस्थेन लिखित वाक्य का प्रयोग मिलता है। गुप्तकालीन दामोदरपुर ताम्रपत्रों [155] में प्रथम कायस्थ अथवा ज्येष्ठ कायस्थ का नाम आता है जिसे आर०डी०बंदोपाध्याय ने हैड क्लर्क माना है।[156]

कायस्थ का सर्वप्रथम उल्लेख याज्ञवल्क्य ने लेखक के रूप में किया है। [157] पुराणों के अनुसार ब्रह्मा ने धर्मराज की कचहरी का बन्दोबस्त करने के लिये अपनी काया से चित्रगुप्त को उत्पन्न किया जिसे कायस्थों का मूल पुरूष माना जाता है। चित्रगुप्त की दो पत्नियाँ थी एरावती एवं दक्षिणा। एरावती से आठ पुत्र एवं दक्षिणा से चार पुत्र पैदा हुये। इन बारह पुत्रों के वंश में कायस्थों की बारह जातियाँ माथुर श्रीवास्तव, सूर्यध्वज, निगम, गौड़, अम्विष्ट, वाल्मीकि, अष्टाना, भटनागर, सक्सैना, कुलश्रेष्ठ एवं कर्ण अस्तित्व में आई ।

राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में लेखक के रूप में कायस्थों का उल्लेख अनेक बार मिलता है। लेखक के रूप में इनका प्रथम उल्लेख कन्सुआ (कोटा) से प्राप्त मालव संवत् 795 (738 ई०) के अभिलेख में मिलता है। उक्त लेख का लेखक गोमिक का पुत्र कायस्थ को बताया गया है।[158] जी० एच० ओझा के अनुसार ब्राहमण, क्षत्रिय आदि जातियों के जो लोग लेखक या अहल्कारी का कार्य करते थे वे कायस्थ कहलाते थे। ये लोग राजकार्य में भाग लेते थे। सरकारी कार्यालयों में नियुक्त होने के कारण इन्हें बहुत सी गुप्त राजकीय बातों की जानकारी भी रहती थी।[159] इस प्रकार स्पष्ट है कि कायस्थ उस समय लेखक हुआ करते थे स्वतंत्र जाति के रूप में उनका विकास बाद में हुआ। हमारे अध्ययनकाल में अभिलेखन कार्य भट्ट, हेमकार एवं कायस्थों द्वारा करने के उल्लेख प्राप्त होते है। वि०स० 1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति का लेखक कायस्थ पाल एवं वेल्लक को बताया गया है।[160] वि०सं० 1051 (995 ई०) के चालुक्य मूलराज प्रथम के बालेरा से प्राप्त ताम्रपत्र का लेखक कायस्थ कांचन था।[161] इसी प्रकार वि०सं० 1226 के बिजोलिया लेख का लेखक कायस्थ केशव था।[162] बंगाल के गौड़ कायस्थों को प्रशस्ति लेखन एवं सुन्दर अक्षर लिखने में दक्ष माना जाता था।

सम्भवतः इसी कारण मध्यदेश तथा राजपूताने में आमंत्रित किया गया। राजस्थान से प्राप्त अनेक अभिलेखों के लेखक गौड़ कायस्थ थे। दधीचिक चच्च के वि०सं० 1056 (999 ई०) के किणसरिया अभिलेख का लेखक गौड़ कायस्थ सत्कवि कल्यो का पुत्र महादेव था।[163] रायपाल के वि० सं० 1198 के नाडौल प्रस्तर लेख का लेखक गौड़ कायस्थ वादिग पुत्र पेथड था।[164]

लगभग 7वीं 8वीं शताब्दी में कायस्थ समूह एक जाति के रूप में संगठित हो चुका था। प्रशस्तियों में कायस्थ जातिय, गौड़ कायस्थ वंश अथवा गौडान्वय कायस्थ आदि उल्लेखों से इस कथन की पुष्टि होती है। कायस्थ जाति की शाखायें स्थान विशेष से भी प्रसिद्ध हुई ऊपर गौड (बंगाल) कायस्थों का उल्लेख किया जा चुका है। मथुरा के कायस्थ माथुर कहलाये। माथुर कायस्थों का उल्लेख उदय सिंह देव के वि०सं० 1306 के भीनमाल प्रस्तर अभिलेख में प्राप्त होता है। [165] कायस्थों में तृतीय उपविभाग श्रीवास्तव का या जो सम्भवतः श्रावस्ती (गौड़ा जिला-उत्तरप्रदेश) के निवासी थे। इसका भाव लक्ष्मी (श्री) भी हो सकता है। हमारे अध्ययनकालीन किसी भी अभिलेख में श्रीवास्तव कायस्थ का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में निगम कायस्थों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वि० सं० 1215 के नहरड दानपत्र में नैगम कायस्थ श्रीचन्द, विल्हन एवं तल्हन का उल्लेख प्राप्त होता है।[166] इसी प्रकार नाडौल से प्राप्त वि०सं० 1218 के अल्हणपुत्र कीर्तिपाल के ताम्रपत्र का लेखक नैगम कायस्थ सोढ़ा का पौत्र एवं दामोदर का पुत्र शुभंकर था।[167] इसी प्रकार नाडौल से ही प्राप्त वि०सं० 1218 के अल्हण देव के ताम्रपत्र का रचनाकार नैगम वंशीय मनोरथ का पौत्र, वासल का पुत्र श्रीधर था।[168] वि०सं० 1226 के बिजौलिया अभिलेख में नैगम कायस्थ छोतिग है (नैगमान्वय कायस्थ छीतिगस्य) का उल्लेख मिलता है।[169] कतिपय अभिलेखों में कायस्थों को ठाकुर उपाधि से भी विभूषित किया गया है। उदाहरणार्थ नाडौल से प्राप्त वि०सं० 1198 के अभिलेख में कायस्थ पेथड को ठाकुर कहा गया है।[170] इसी प्रकार नहरड़ से प्राप्त विग्रहराज चतुर्थ वि०सं० 1215 के अभिलेख में कायस्थ ठाकुर श्रीचन्द का उल्लेख मिलता है।[171] ठाकुर उपाधि से कायस्थों की सम्मानजनक स्थिति का पता चलता है।

आगे चलकर कायस्थ अनेक उपजातियों में विभाजित हो गये। राजस्थान में कायस्थों को पंचोली भी कहा जाता है। संभवतः पाँच प्रकार के कार्य यथा मुसाहिबी, माल, खजाना, फौज एवं वकालत करने के कारण इन्हें पंचोली अर्थात पाँच मद वाले कहा गया।[172] मध्यकालीन राजस्थान के राजपूत रियासतों में कायस्थों का विशेष स्थान था।

आभीर

महाभारत के अनुसार आभीर दस्यु एवं म्लेच्छ हैं, जिन्होंने पंचनद के युद्ध के बाद अर्जुन पर आक्रमण कर वृष्णि नारियों का अपहरण किया।[173] मनु ने इन्हें ब्राह्मण एवं अम्बष्ठ कन्या की सन्तान माना है।[174] महाभाष्य में इन्हें शूद्रों से पृथक माना गया है। इनकी भाषा अपभ्रंश थी।[175] अमरकोश में इन्हें गाय चराने वाले कहा गया है। कालान्तर में आभीर हिन्दू समाज में घुल मिल गये।[176] आभीर सिन्धु नदी के निचले काँठे एवं पश्चिमी राजस्थान में निवास करते थे।[177] ई० सन् द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्ध में आभीर राजा पश्चिमी भारत के शक शासकों के अधीन थे। ई० सन् तृतीय शताब्दी में आभीरों ने सातवाहन राजवंश के पराभव में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया।[178] समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तम्भ लेख में आभीरों का उल्लेख उन गुणों के साथ मिलता है जिन्होंने गुप्त सम्राट की अधीनता स्वीकार की थी।[179] वर्तमान अहीरों का समीकरण आभीरों के साथ किया जाता है। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में आभीरों का उल्लेख वि०सं० 918 के घटियाला से प्राप्त द्वितीय स्तम्भ लेख में मिलता है। [180] लेख में रोहिन्सक्रूप (घटियाला) को आभीरों से त्रस्त बताया गया है।

अन्त्यज

समाज का निम्नतमवर्ग अन्त्यज माना जाता था। चाण्डाल आदि निम्नतम जातियों के लिये यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। मनु ने इन्हें शूद्रों की श्रेणी में रखा है।[181] याज्ञवल्क्य की व्याख्या में मिताक्षरा ने अन्त्यजों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है। प्रथम श्रेणी में रजक (धोबी), चर्मकार, नट (नाचने वाले). बुरुण्ड (बांस का काम करने वाले) कैवर्त (मछली मारने वाले), मेद, मिल्ल आदि की गणना की गई है। द्वितीय श्रेणी में चाण्डाल श्वपच (कुत्ते का मांस खाने वाले), क्षता, सूत, वैदेहक मागध एवं आयोगव की गणना की गई है।[182] व्यास स्मृति में चर्मकार, भट, भिल्ल, रजक, पुष्कर, नट, विराट, मेद, चाण्डाल, श्वपच एवं कोलिक आदि की गणना अन्त्यजों में की गई है।[183] अलबरूनी ने अन्त्यजों में धोबी, चर्मकार, मदारी, टोकरी और ढाल बनाने वाले, मल्लाह, धीवर आरवेटक एवं जुलाहों की गणना की है। [184] कुवलयमाला, समराइच्छकहा, उपमितिभव प्रपंच कथा तथा कथाकोष प्रकरण में भील डोम, मच्छीमार, व्याध, धोबी, चीडीमार, मातंग, चाण्डाल, चर्मकार, नट, जुलाहे आदि की गणना अन्त्यजों में की है।[185] इनको अधम एवं अधमाधम कहा गया है। ये बस्ती से बाहर रहते थे। सार्वजनिक तालाबों एवं जलाशयों के लाभ से

इनको वंचित किया गया अपनी दयनीय स्थिति एवं द्विज वर्णों की इनके प्रति हेय दृष्टि के कारण इनमें से अनेक धर्मपरिवर्तन कर मध्यकालीन आक्रान्ताओं के सहयोगी बन गये इस प्रकार जो जाति देशवासियोंकी प्रिय हो सकती थी वही जाति इनकी शत्रु बन गई।[186] राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में अन्त्यजों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता है वि०सं० 1198 के नाडौल अभिलेख[187] में राजा की आज्ञा का पालन नहीं करने वाले को श्वान एवं चाण्डाल की मौत करने का उल्लेख मिलता है। वि०सं० 1239 के जालौर से प्राप्त एक अभिलेख[188] में बावरी जाति का उल्लेख मिलता है। दशरथ शर्मा की यह मान्यता है। 182 कि संभवत: नाडौल राज्य की स्थापना में लक्ष्मण को मीना, भील एवं बावरियों की सहायता प्राप्त हुई थी।[189] धौलपुर के वि०सं० 898 के लेख [190]में चम्बल के किनारे म्लेच्छ बस्ती का भी उल्लेख मिलता है। भीनमाल एवं मेवाड़ में भील एवं मेड़ों के रहने एवं राजपूतों के साथ इनके संघर्ष का भी पता चलता है। संभवतः राजपूतों के साथ लम्बे समय तक संघर्ष करने के कारण इन्हें म्लेच्छ संज्ञा दी गई होगी। वैसे इस युग में विदेशों से आने वाली सभी जातियों को म्लेच्छ संज्ञा दी गई थी।

सारांशतः कहा जा सकता है कि प्राचीन राजस्थान में वर्णव्यवस्था कर्मज न होकर जन्मज थी अतः चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त अन्य जातियों का विकास भी देखा जाता है। समाज में ब्राह्मणों का सम्मानपूर्ण स्थान था। समस्त धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन का एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण समाज को शिक्षित करने, धर्मगत कृत्यों को सम्पादित करने, याज्ञिक क्रियाओं को सम्पन्न करने में सहायक होता था। पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में क्षात्र गुणों से सम्पन्न राजपूत जाति नवोदित हुयी. जिसे विदेशी जातियों, ब्राह्मणों, गणजातियों व क्षत्रियों का सम्मिश्रण मानना अनुचित न होगा। राजपूत विभिन्न कुलों में विभाजित हो गए थे राजस्थान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रतिहार, परमार, गुहिल, चौहान, राष्ट्रकूट वंशों के साथ ही नाग, भाटी, गौड़, यौधेय एवं दहिया वंश प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपेण शासन-व्यवस्था से जुड़े हुए थे। राज्य की समग्र सुरक्षा, सांस्कृतिक मूल्यों का उपस्थापन, प्रजानुरंजन, धार्मिक भावना एवं आस्था का समादर तथा उत्थान राजपूतों के मुख्य कर्त्तव्य थे।

वर्णव्यवस्था में तृतीय स्थान पर परिगणित वैश्य मुख्यतः व्यापार एवं वाणिज्य से जुडे हुए थे। वे मुख्यतः थोक व्यापारी थे। उस समय चांदी जस्ता एवं तांबे का व्यापार भी राजस्थान में होता था। राज्य की अर्थव्यवस्था प्रधानतया वैश्य दर्ग पर निर्भर होने के कारण प्रशासन के द्वारा इनके संरक्षण एवं संवर्धन के प्रयासभी किए जाते थे। दान की प्रवृत्ति, लोकोपकारी कार्य यथा कूप

निर्माण, देवालय स्थापना, बावड़ी एवं सरोवर आदि बनवाये जाने के कारण इस वर्ग को समाज में पर्याप्त महत्व एवं आदर प्राप्त था। वैश्य वर्ग के शासन में भागीदारी के उल्लेख भी हमें मिलते हैं। वर्णव्यवस्था में चतुर्थ स्थान शूद्रों को प्राप्त था। अभिलेखों में शूद्रों का वर्णन अल्प ही मिलता है। वैश्य वर्ण द्वारा कृषि एवं शिल्प कार्य छोड़ देने के पश्चात हाथों से सम्पन्न होने वाले समस्त कार्य शूद्र वर्ग द्वारा अपना लिए गए। कालान्तर में शूद्र ही किसान, लोहार, रंगरेज, धोबी, तक्षक, जुलाहा, माली, तम्बोली, तेली, कुम्हार, बढ़ई आदि जातियों में बंट गए। शनैः शनैः पेशे के अनुसार ये भिन्न-भिन्न जातियों में बंट गए। अभिलेखों में कतिपय अन्य जातियों यथा कायस्थ, आभीर स्वर्णकार अन्त्यजादि का उल्लेख भी प्राप्त होता है। कायस्थ मुख्यतः लेखन कार्य से जुड़े हुए थे। जिन्हें मध्यकालीन राजस्थान की राजपूत रियासतों में विशेष स्थान प्राप्त था। अभिलेखों के उत्कीर्णन का कार्य अधिकांशतः स्वर्णकारों के द्वारा किया गया है। यद्यपि इन जातियों का वर्णव्यवस्था में स्थान निश्चित नहीं है तथापि समाज में इनके कार्य का महत्व एवं स्थान की स्वीकारोक्ति अवश्य है।

संदर्भ

1. तैत्तिरीय आरण्यक, 2.15
2. शतपथ ब्राहमण , 14.1.23 उद्धृत पाण्डेय , वी.सी. , प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास , पृ.24
3. छान्दोग्य उपनिषद ,5.11 एवं आगे
4. थापर रोमिला , अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन , पृ. 198 एवं आगे
5. त्रिगुणायत ,एस.के., प्राचीन राजस्थान में वैष्णवधर्म - एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण , पृ. 86
6. अग्रवाल , आर.सी. ' राजस्थान के यूप स्तम्भ ' नागरी प्रचारिणी पत्रिका , वर्ष 59 अंक 2 सं. 2011, पृ. 116-122
7. उपाध्याय, बलदेव, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ. 512-513
8. रामकरन, 'सेवाडी कॉपर प्लेट्स ऑफ दि चाहमान रतनपाल: वि.सं. 1176. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11, पृ० 306
9. फ्लीट, जे० एफ०. भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड 3, पृ. 90-97
10. हलदर,आर० आर० सामोली इंसक्रिप्शन ऑफ दि टाइम ऑफ शिलादित्य (वि.सं.703) एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 20, पृ० 99, पंक्ति 4-5
11. ओझा, जी० एच० प्रतापगढ़ इंसक्रिप्शन ऑफ दि टाइम ऑफ किंग महेन्द्रपाल II एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 14, पृ० 176-188
12. शर्मा, दशरथ, 'महाराजाधिराज सिंहराज और उनका थांवले का लेख, वरदा 5(2) 1962, पृ० 2-7
13. गहलोत,एस० एस०, पुरोहित, एस० के०शर्मा,एन० के०,राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, पृ० 183-189
14. गांगुली, डी० सी०, परमार राजवंश का इतिहास, पृ० 174
15. श्रीमाली, जी० एल०, राजस्थान के अभिलेख (मारवाड़ के सन्दर्भ में) प्रथम भाग,पृ० 98-99
16. भण्डारकर, डी० आर० दि चाहमान्स ऑफ मारवाड़-सेवाडी स्टोन इंशक्रिप्शन ऑफ अश्वराज सं. 1167 एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11, पृ०28-30
17. द्रष्टव्य सिंह, रामवृक्ष, हिस्ट्री ऑफ चाहमान्स, पृ० 128

18. शर्मा, दशरथ, चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय एवं उनका युग, पृ० 70
19. शर्मा, दशरथ राजस्थान थ्रू दि एजेज भाग 1, पृ० 442-443
20. उद्धृत व्यास, एस० पी० राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 102
21. रामकरन, 'दधिमाता इंसक्रिप्शन ऑफ ढूलण 22.एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम11. पृ० 299- 304; भण्डारकर, डी० आर० प्रोग्रेस रिपोर्ट वेस्टर्न सर्कल, 1910, पृ० 59.
23. द्रष्टव्य गैरोला, वाचस्पति भारतीय धर्म शाखायें और उनका इतिहास, पृ० 109
24. त्रिगुणायत सतीश एवं सुराणा अनिता, प्राचीन राजस्थान में सौर उपासना केअभिलेखीय साक्ष्य , वैचारिका, भाग 23(4), 2008, पृ० 35
25. शर्मा, जी० एन० राजस्थान के इतिहास के स्रोत पृ० 98.
26. काणे, पी० वी० धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग प्रथम, पृ० 286
27. मिराशी, वी० वी०. धूलेव प्लेट ऑफ महाराजा भेट्टी ईयर 73 एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 30, पृ० 1-7
28. श्रीमाली जी० एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 57
29. कीलहर्न, एफ, दौलतपुर प्लेट ऑफ भोजदेव I एपिग्रेफिया इण्डिका वाल्यूम 5 ,पृ. 208-211
30. हुलट्ज, ई०, बांसवाड़ा प्लेट ऑफ भोजदेव, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11. पृ.181-183
31. रामकरण, भाडूंद इंशक्रिप्शन ऑफ परमार पूर्णपाल ऑफ वि.सं. 1102', जर्नल ऑफ दि बॉम्बे ब्रांच ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, वाल्यूम, पृ० 75-80
32. श्रीमाली, जी० एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 191-192 33.ओझा, जी० एच०. ओझा निबन्ध संग्रह, भाग 2, पृ० 196
34. मिश्रा, आर० एल० इशक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान वाल्यूम 4, पृ० 137
35. अल्तेकर, ए० एस० नान्दसा यूप इंशक्रिप्शंस, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 27.पृ० 252-265
36. अल्तेकर, ए० एस० थ्री मौखरी इशक्रिप्शंस ऑन यूप्स कृत ईयर 295, B एपिग्रफिया इण्डिका, वाल्यूम 23, पृ० 42-52
37. अल्तेकर ए० एस० टू यूप इंशक्रिप्शंस फ्रॉम बरनाला कृत ईयर 284 एण्ड 335 एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 26, पृ० 121-123
38. सरकार, डी० सी०, खण्डेला इंशक्रिप्शन ऑफ ईयर 201, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम

34, पृ० 159-163

39. कीलहर्न, एफ., 'दि चाहमान्स ऑफ नाडौल नाडौल प्लेट्स ऑफ अल्हण देव, वि.सं. 1218' एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ० 63
40. श्रीमाली, जी० एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 57
41. अग्रवाल, आर० सी०, शोध पत्रिका, अंक 1-2 भाग 8 (1956) पृ० 1-12
42. ओझा, जी० एच०, ओझा निबन्ध संग्रह, भाग 2, पृ० 196
43. मनुस्मृति 10.82
44. श्रीमद्वाल्मीकयं रामायणम्, अयोध्या काण्ड, 32.28-31
45. ……. भवानेव महीं कृत्स्नामेको रक्षितुमर्हति ।। न भूम्या कार्यस्माकं न हि शक्ताः स्म पालने ।। रता स्वाध्याय करणे वयं नित्यं हि भूमिप। बालकाण्ड,14.46-47
46. मिराशी, बी० वी० कामां स्टोन इंसक्रिप्शन एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 24, पृ० 391
47. कीलहर्न, एफ० एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 5, पृ० 208-211
48. श्रीमाली जी० एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 57.
49. उपाध्याय विभा, प्राचीन भारत में भूमिदान पृ० 178
50. सरकार, डी० सी०, सेलेक्ट इंशक्रिप्शन बियरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलजेशन वाल्यूम 2, पृ० 236-241
51. दीक्षित, के० एन० 'टू हारसोल कॉपर प्लेट ग्रान्टस ऑफ दि परमार सीयक ऑफ वि.सं. 1005, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 19 पृ० 236
52. भण्डारकर, डी० आर० 'दि चहमान्स ऑफ मारवाड़-नाडौल स्टोन इंशक्रिप्शन ऑफ रायपाल, सं. 1198 एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11, पृ० 38-41
53. भण्डारकर, डी० आर०, बसन्तगढ़ इंशक्रिप्शन ऑफ वर्मलाट सम्वत् 682:एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ० 192 पंक्ति 12
54. कीलहन एफ० उदयपुर इंसक्रिप्शन ऑफ अपराजित सं. 718 एपिकिया इण्डिका, वाल्यूम 4,पृ० 29-32
55. ब्यूलर जी०. टू इंसक्रिप्ांस फ्रॉम झालरापाटन, इण्डियन एण्टीकोरी वाल्यूम 5,पृ० 180-183
56. सरकार, डी० सी०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 34. पृ० 159-163
57. भण्डारकर, डी.आर., घटियाला इंस्क्रिप्शन और कक्कुक, एपिग्रैफिया इण्डिका,

वाल्यूम 9, पृ.179-181

58. ओझा, जी.एच., प्रतापगढ़ इंश्क्रिप्शन ऑफ दि टाइम ऑफ किंग महेन्द्रपाल 2, सं.1003, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 14 ,पृ. 176-188
59. शर्मा, दशरथ राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० 524
60. त्रिगुणायत, एस० के०, 'राजपूतकाल एवं जैन धर्म,' वैचारिकी, भाग 25, अंक 1 (2009), पृ० 55
61. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज , पृ० 108
62. कीलहर्न, एफ०, 'हर्ष स्टोन इंश्क्रिप्शन ऑफ दि चाहमान विग्रहराज -हर्ष 1030', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 2. पृ० 116-130
63. रामकरण, भाडूंद इंश्क्रिप्शन ऑफ दि परमार पूर्णपाल ऑफ वि.सं. 1102', पूर्वनिर्दिष्ट
64. जैन , प्रेमसुमन , कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन , पृ. 103-104
65. यादव, झिनकू, समराइच्छकहा एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ.93-94
66. तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद् ब्राहमणः क्षत्रियमधस्ता दुपारस्ते राजसूये क्षत्र एवं तादृशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद ब्रहम। वृहदारण्यक उपनिषद, 1.4. 11
67. आसोपा, जे.एन. ओरिजिन्स ऑफ राजपूत्स
68. वैद्य, सी.वी, राजपूतों का प्रारंभिक इतिहास परिशिष्ट प्रथम
69. ओझा, जी.एच, राजपूताने का इतिहास, भाग प्रथम, पृ० 41 एवं आगे
70. मजूमदार, आर० सी०, 'जोधपुर इंश्क्रिप्शन ऑफ प्रतिहार बाउकः वि० सं० 894', एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम 18, पृ० 87-89
71. भण्डारकार, डी० आर०, ' घटियाला इंश्क्रिप्शंस ऑफ कक्कुक', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 7, पृ० 277-281,
72. ओझा, जी० एच०, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ० 36
73. श्रीमाली, जी० एल०, राजस्थान के अभिलेख, भाग-1, पृ० 89-90
74. वैद्य, सी.वी, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 150-152
75. कीलहर्न, एफ०, 'सुंधा हिल इंश्क्रिप्शन ऑफ चाचिगदेव', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 7, पृ. 70-79
76. मिश्रा, आर०एल० इंश्क्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, वाल्यूम 1, पृ. 43
77. दृष्टव्य, शर्मा, जी० एन०, राजस्थान का इतिहास, पृ. 38

78. वही पृ० 38-39
79. सरकार, डी.सी, सेलेक्ट इंश्क्रिप्शंस, वाल्यूम 2, पृ. 363-371
80. मिराशी, वी.वी. सातवाहन एवं पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास और अभिलेख, पृ. 59
81. फ्लीट, जे. एफ. भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग 3. पृ० 1-21
82. मजूमदार, आर.सी., पूर्व निर्दिष्ट
83. भण्डारकर, आर.सी., पूर्व निर्दिष्ट
84. कीलहर्न, एफ, राजोर इंश्क्रिप्शन ऑफ मथनदेव, (वि०) संवत् 1016, एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम 2. पृ० 263-267
85. कीलहर्न, एफ. हर्ष स्टोन इंश्क्रिप्शन ऑफ दि चौहान विग्रहराजः वि०सं० 1030,' एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 2, पृ० 116-130
86. व्यास, अक्षय कीर्ति, 'बिझोली रॉक इंश्क्रिप्शन ऑफ चाहमान सोमेश्वर वि०सं० 1226', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 26, पृ० 84-112
87. कीलहर्न, एफ. 'उदयपुर इंश्क्रिप्शन ऑफ अपराजित, (वि०)सं० 718', एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम 4, पृ० 29-32
88. अग्रवाल, आर.सी. 'ऐन अनपब्लिश्ड इंश्क्रिप्शन ऑफ भर्तृपट्ट द्वितीय ऑफ मेवाड़, जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, वाल्यूम 35 (1) 1957, पृ० 355-358
89. दास, श्यामल, वीर विनोद, भाग 1, पृ० 381 एवं आगे।
90. सरकार, डी.सी. सेलेक्ट इंशक्रिप्शंस, वाल्यूम 2, पृ० 368-371
91. ओझा, जी.एच., राजपूताने का इतिहास, जिल्द प्रथम, पृ० 352
92. वही
93. वही
94. वही, पृ० 353
95. वही
96. वैद्य, सी.वी., पूर्व निर्दिष्ट ,पृ० 57
97. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.53 पर टीका
98. परमारों के विस्तृत अध्ययन हेतु दृष्टव्य गांगुली, डी.सी., परमार राजवंश का इतिहास,
99. रामकरण, बीजापुर इंशक्रिप्शन ऑफ धवल ऑफ हस्तिकुण्डी, वि०सं०1053,

एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 10, पृ० 17-24

100. पुरोहित, एस० के०, राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, पृ० 174-176

101. शर्मा, जी० एन०, राजस्थान का इतिहास, पृ० 80

102. जैन, के० सी०, एन्शेंट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ० 238

103. मजूमदार, आर.सी., एपिग्रैफिया, इण्डिका वाल्यूम 18, पृ० 87-99

104. फ्लीट, जे० एफ०, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग 3, पृ० 314-315

105. श्रीमाली, जी० एल०, राजस्थान के अभिलेख, भाग प्रथम, पृ० 46-51

106. वैश्याध्ययन यजनं दानं -1 अर्थशास्त्र, 3.7

107. 'वैश्यस्याधिकं कृषि वणिज्य पाशुपाल्य कुसीदम्' गौतमधर्मसूत्र, 2.1.50

108. कृषि गोरक्ष वाणिज्यं वैश्य कर्मस्वभावजम्। भीष्म पर्व, 42.44

109. वैश्याध्ययनं यजनंदानं कृषि पाशुपाल्ये वाणिज्या च। अर्थशास्त्र, 3.7

110. पशूनां रक्षणं दान मिज्याध्ययन मेव च वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च। मनुस्मृति, 1.90

111. हुएनसांग का भ्रमण वृतान्त, पृ० 65

112. यादव, झिनकू, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 97

113. जैन , प्रेमसुमन,पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 107

114. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनैस्टीज, पृ.276

115. वही, पृ.277

116. भण्डारकर, डी०आर०,दि चाहमान्स ऑफ मारवाड़, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11, पृ० 42-43

117. वही, पृ० 60

118. हलदर, आर० आर०, 'सामोली इंश्क्रिप्शन ऑफ दि टाइम ऑफ शिलादित्य', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 20, पृ० 97-99

119. श्यामल दास, वीर विनोद, भाग प्रथम, पृ० 38 एवं आगे

120. सरकार, डी० सी०, 'खण्डेला इंश्क्रिप्शन ऑफ ईयर 201', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 34, पृ० 159-163

121. छाबड़ा, बी० सी०, सकराइ स्टोन इंश्क्रिप्शन वि० सं० 699, एपिग्रैफिया इण्डिका,

वाल्यूम 27, पृ० 27-33, अन्य दृष्टव्य, शेखावत, एस० एस० शेखावाटी के शिलालेख एक अध्ययन, पृ० 11

122. शेखावत, एस० एस० वही, पृ० 14
123. जैन, के० सी०, एन्शेंट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान पृ० 395
124. श्रीमाली, जी० एल, राजस्थान के अभिलेख, भाग प्रथम, पृ० 66
125. हाण्डा, देवेन्द्र, ओसियाँः हिस्ट्री, आर्क्यालाजी, आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर ,पृ० 12-13
126. श्रीमाली, जी० एल०, पूर्व निर्दिष्ट पृ० 36-38
127. वही, पृ० 24-25
128. भण्डारकर, डी० आर०, 'घटियाला इंश्क्रिप्शंस ऑफ कक्कुकः संवत् 918, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ० 280-281
129. भण्डारकर, डी० आर०, एक्सकवेशन्स एट नगरी, पृ० 192, पृ० 121 एवं आगे
130. श्रीमाली, जी० एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 6-7
131. सरकार, डी.सी., 'खण्डेला इंश्क्रिप्शन ऑफ ईयर 201, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 34, पृ० 159-163
132. श्रीमाली, जी०एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 36-38
133. वही, पृ० 71
134. सरकार, डी.सी., फ्रेग्मेंट्री इंशक्रिप्शंस फ्रॉम चित्तौड़गढ़' एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 34, पृ० 53-58
135. भण्डारकर, डी०आर०, सेवाड़ी स्टोन इंशक्रिप्शन ऑफ कटुकराज (वि०) संवत् 1172, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11, पृ० 30-32
136. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू दि एजेज, वाल्यूम 1. पृ० 439
137. श्रीमाली, जी०एल०, पूर्व निर्दिष्ट, भाग प्रथम, पृ० 201-202
138. एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्, एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया मनुस्मृति, 1.91
139. अग्निहोत्री, पी.डी., पतंजलिकालीन भारतवर्ष, पृ० 152
140. व्यास, अक्षय कीर्ति, 'बिझोली रॉक इंशक्रिप्शन ऑफ चाहमान सोमेश्वरः वि०सं० 1226 एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 26, पृ० 84-112
141. शूद्राणाम निरवसितानाम् 2.4.10 के भाष्य में पतंजलि ने लिखा है कि एवं तर्हि

यज्ञात्कर्मणोऽनिरवसितानाम् अर्थात जो शूद्र यज्ञ कर्म से बहिष्कृत न हो, वे अबहिष्कृत समझे जावें। इसकी टीका करते हुये कैयट ने लिखा है- शूद्राणां पंचयज्ञानुष्ठानेऽधिकारोस्तीतिभावः शूद्रोऽपि द्विविधो ज्ञेयः श्राद्वी चैवेतरस्तथा। 10, विष्णुस्मृति अध्याय 5, उद्धृत ओझा, जी.एच., मध्यकालीन संस्कृति, पृ० 40 टिप्पणी 1

142. दृष्टव्य, मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० 108
143. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग प्रथम, पृ० 65
144. मिश्र, जयशंकर, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 108
145. कीलहर्न, एफ.,चित्तौड़गढ़ स्टोन इंश्क्रिप्शन चौलुक्य कुमारपाल, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 2, पृ० 424
146. कान्हड़देप्रबन्ध 2, श्लोक 87-92 उद्धृत व्यास, एस०पी०, राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन ,पृ० 117
147. मजूमदार आर.सी. कारपोरेट लाइफ इन एन्शेंट इण्डिया
148. मिराशी, वी.वी., 'कामां स्टोन इंशक्रिप्शन', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 24.पृ० 329-336
149. श्यामलदास , वीर विनोद, भाग 1, पृ० 381 एवं आगे
150. गोयल, एस० आर०, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख (550ई० से 750ई० तक) पृ० 184-185
151. सरकार, डी०सी०, 'तसर्ह इंश्क्रिप्शन ऑफ हर्ष ईयर 182', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 36, पृ. 49-51
152. सरकार, डी०सी०, सेलेक्ट इंश्क्रिप्शंस, वाल्यूम 2, पृ० 236-241
153. भण्डारकर, डी०आर०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ० 280
154. बनर्जी, आर०डी०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 22, पृ० 120-127
155. बसाक, आर .जी ., दामोदरपुर कॉपर-प्लेट इंश्क्रिप्शंस, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 15. पृ० 113-145
156. वंद्योपाध्याय, आर. डी, गुप्त युग, पृ० 79
157. कायस्थगणका लेखकाश्च, मिताक्षरा, याज्ञवलक्य 1.335
158. रोपकश्चास्मिन कायास्थोगोमिकाङ्गज, मिश्र, आर . एल, इंश्क्रिप्शंस ऑफ

राजस्थान, वाल्यूम 4, पृ० 26

159. ओझा, जी.एच, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० 41

160. लेखितारौ च कायस्थौ पालवेल्लक संज्ञकौ। श्यामलदास, वीर विनोद, भाग प्रथम, पृ० 381 एवं आगे

161. कोनो, स्टेन, 'बालेरा प्लेट ऑफ मूलराज प्रथम संवत् 1051', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 10, पृ० 76-79

162. व्यास, अक्षय कीर्ति, 'बिझोली रॉक इंश्क्रिप्शन ऑफ चाहमान सोमेश्वर : वि०सं० 1226', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 26, पृ० 111

163. रामकरन, किणसरिया इंश्क्रिप्शन ऑफ दधीचिक (दहिया) चच्च (वि०) संवत् 1056', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 12, पृ० 61

164. भण्डारकर, डी.आर., दि चाहमानाज ऑफ मारवाड़ एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11. पृ० 11

165. वही, पृ० 57

166. सोमानी, आर.वी., जैन इंश्क्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, पृ० 69

167. कीलहर्न, एफ०, दि चाहमानाज ऑफ नाडोल', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9,पृ० 68

168. वही, पृ० 64

169. व्यास, अक्षय कीर्ति, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 111

170. भण्डारकर, डी.आर, वही, पृ० 11

171. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० 203

172. व्यास, प्रकाश, राजस्थान का सामाजिक इतिहास, पृ० 71

173. काणे, पी०वी० धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग प्रथम, पृ० 126

174. मनुस्मृति 10.15

175. काणे, पी . वी., पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 126

176. वही

177. भट्टाचार्य , सच्चिदानंद, भारतीय इतिहास कोश, पृ० 40

178. मिराशी, वी.वी, सातवाहनों एवं पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास और अभिलेख, पृ. 63

179. फ्लीट, जे०एफ०, भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग 3, पृ० 9

180. भण्डारकर, डी०आर०, घटियाला इंश्क्रिप्शंस ऑफ कक्कुकः संवत् 918', एपिग्रैफिया

इण्डिका, वाल्यूम 9. पृ० 280-281

181. मनुस्मृति 8.279

182. दृष्टव्य काणे, पी.वी. पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 125

183. वही

184. अलबेरूनी वर्णित भारत, प्रथम खण्ड, पृ० 62-63

185. दृष्टव्य, शर्मा, जी० एन०, राजस्थान का इतिहास, पृ० 116-117

186. वही 117

187. श्रीमाली, जी० एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 103-105

188. भण्डारकर, डी० आर०, जालौर स्टोन इंश्क्रिप्शन ऑफ समरसिंह देव वि० सं०1239, पृ०53-54

189. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० 281

190. मिश्र, आर०एल०, इंश्क्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, वाल्यूम 3, पृ० 191-192

अध्याय - चतुर्थ

सामाजिक संस्थाएं - परिवार, आश्रम व्यवस्था, ऋण, महायज्ञ एवं संस्कार

अध्याय-चतुर्थ

सामाजिक संस्थाऐं- परिवार, आश्रम व्यवस्था, ऋण, पंचमहायज्ञ एवं संस्कार

राजस्थान का सामाजिक एवं सांस्कृतिक वैभव अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा है। संस्कृति की चिरन्तरता एवं वैशिष्ट्य में उसकी सामाजिक संस्थाओं का प्रमुख महत्व होता है। राजस्थान की संस्कृति भी इससे अछूती नहीं है राजस्थान की सामाजिक संस्थाओं की व्यापकता, विविधता एवं जटिलता के कारण उसे तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक उसके वैचारिक एवं संस्थागत आधारों की गम्भीरतापूर्वक गवेषणा नहीं कर ली जाए। लगभग पाँच हजार वर्षों के समृद्ध अतीत को समेटे हुए राजस्थान की सामाजिक संस्थाऐं उस समय समृद्धावस्था को प्राप्त थीं जब विश्व में अन्य सभ्यताओं का उद्‌गम भी नहीं हुआ था। उस समय राजस्थान में ऐसी सामाजिक संस्थाएं स्थापित हो चुकी थीं जो न केवल व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक हुई बल्कि समाज स्वयं भी समृद्धि के मार्ग पर प्रशस्त हुआ। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों एवं चिन्तकों ने ऐसे जीवन मूल्यों एवं आदर्शों की स्थापना की जो आज भी राजस्थान के सामाजिक संगठन का आधार हैं। राजस्थान की सामाजिक संस्थाओं में वर्ण एवं जाति व्यवस्था, परिवार, संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था अपना प्रमुख स्थान रखती हैं।

राजस्थान की सामाजिक संस्थाओं का गवेषणात्मक अध्ययन करने से पूर्व यह अपेक्षित है कि हम राजस्थान के समाज के विकास का भी पर्यावलोकन करें, जिसके अन्तर्गत राजस्थान वासी मानव ने उन्नति के विभिन्न सोपानों को पार किया। जब राजस्थान का मानव प्रागैतिहासिक युग से गुजर रहा था उस युग में आदिम समाज की परिकल्पना करना बड़ा कठिन था। इस समय का मानव यायावर था। जंगली जानवर और कंद-मूल, फल उसके भोज्य पदार्थ थे। समूह रहकर या संगठित होकर काम करने की प्रवृत्ति अभी उसमें जागृत नहीं हुई थी।

राजस्थान में मानव विकास का द्‌वितीय सोपान आज से लगभग पचास हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ होता है। इस युग में उसने छोटे हल्के एवं कुशलतापूर्वक बनाये गये उपकरण - स्क्रेपर तथा पोइन्टर का प्रयोग सीख लिया था किन्तु अभी भी संगठित सामाजिक जीवन का श्रीगणेश नहीं हुआ था।[1] आज से लगभग दस हजार वर्ष पूर्व राजस्थान में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। अब मानव ने समूह में रहना प्रारम्भ किया तथा झुण्ड बनाकर शिकार करने लगा। इस प्रकार उसमें

संगठन बनाने की क्षमता का विकास हुआ। अब वह कन्दराओं की अपेक्षा सरस्वती, दृषद्वती, बेडच, बनास, गम्भीरी, आहाड, वागन आदि नदियों की घाटियों में रहने लगा। यहाँ रहते हुए धीरे-धीरे मकान बनाने कृषि एवं पशुपालन करने, मृदभाण्डों का निर्माण करने तथा चित्रों द्वारा अपनी भावनाओं को व्यक्त करने की कलाओं को जानने लगा।[2] इस क्रमिक विकास के युग में उसे संगठित होकर रहने और श्रम विभाजन द्वारा कार्य सम्पादन करने की भी आवश्यकता हुई। यहीं से समाज संगठन का उदय दर्शित होता है ।कालीबंगा, गिलूण्ड, आहाड़ एवं बालाथल के भवन एवं उत्खनन से प्राप्त उपकरणों से समाज संगठन एवं श्रम विभाजन की भी पुष्टि होती है। पशुपालन एवं कृषि ने मानव को एक साथ रहने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार परिवार नामक संस्था का जन्म हुआ। यहीं से परिवार एवं सामाजिक संगठन की परिकल्पना का उदय तर्क संगत प्रतीत होता है। ऋग्वैदिक काल तक आते- आते परिवार का संगठित स्वरूप दर्शित होने लगता है।

परिवार

परिवार अथवा कुटुम्ब को सामाजिक जीवन की आधारशिला माना जाता है। मनुष्य का उत्कर्ष पारिवारिक जीवन के अभाव में सम्भव नहीं है। जन्म से लेकर मृत्यु तक कि सम्पूर्ण अवस्था पारिवारिक संगठन के अन्तर्गत ही संचालित होती है। माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहिन और पुत्र-पुत्री के संयोग से परिवार का निर्माण होता है समाज में मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताऐं होती हैं जिनकी पूर्ति समाज द्वारा स्वीकृत माध्यमों से होती है। कामेच्छा की पूर्ति, सन्तान को जन्म देना, उसका लालन-पालन आदि विविध व्यक्तिगत और सामाजिक कर्म परिवार के माध्यम से ही संभव है । परिवार संस्था के उद्भव एवं विकास में इन आधारों के अतिरिक्त पशुपालन एवं कृषि का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा जिन्होंने मानव को साथ रहने के लिए बाध्य किया। ऋग्वेद में कुल (परिवार) के अध्यक्ष के लिए 'कुलपा शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है कुल का रक्षक [3] परिवार में माता-पिता को सबसे बडा माना जाता था तथा पिता ही परिवार की सम्पति का स्वामी होता था। इस समय संयुक्त परिवार प्रथा का प्रचलन था। राजस्थान में भी प्राचीन काल से ही पारिवारिक जीवन के प्रतीक मिलते हैं जो कालीबंगा, आहाड़, बागोर, बालाथल आदि स्थानों के उत्खनन से स्पष्ट है। राजस्थान में मातृसतात्मक एवं पितृसत्तात्मक दोनों ही प्रकार के परिवारों का अस्तित्व रहा है। कालीबंगा एवं आहाड़ सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त जानकारी के आधार पर ऐसा अनुमान भी लगाया जाता है कि उस युग में सम्भवतः मातृसत्तात्मक परिवारों का अस्तित्व था। वर्तमान में भी कतिपय आदिवासी जातियों में

मातृसत्तात्मक परिवार प्रथा का प्रचलन है। ऐसा लगता है जब समाज में कृषि मुख्य व्यवसाय बन गया तब से मातृसत्तात्मक परिवार का महत्व घट गया और पितृसत्तात्मक परिवार की प्रथा मजबूत हुई। राजस्थान में प्रारम्भ से ही संयुक्त परिवार प्रथा का प्रचलन रहा। परिवार का ज्येष्ठ पुरुष घर का मुखिया होता था, जिसका सम्पूर्ण परिवार पर नियंत्रण होता था। परिवार के सभी सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व परिवार के मुखिया का था प्राचीन काल से वर्तमान समय तक राजस्थानी परिवारों के मुखिया के अधिकारों मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। प्राचीन राजस्थान के विभिन्न अंचलों से प्राप्त शिलालेखों में कुटुम्ब - प्रणाली के पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते हैं। यह धारणा थी कि आत्मा ही पुत्र के रूप में जन्म लेती है। इस प्रकार मनुष्य पुत्र द्वारा ही अमरत्व प्राप्त करता है। पुत्र उत्पन्न करना ही विवाह का मुख्य उद्देश्य माना गया पुत्र उत्पन्न करते ही व्यक्ति पितृ ऋण से मुक्त हो जाता है। पुत्र पर ही परिवार का विकास और वंश-वर्धन निर्भर था। ज्येष्ठ पुत्र का परिवार में विशिष्ट स्थान माना गया । श्राद्ध में ज्येष्ठ पुत्र ही पिण्ड और तर्पण देने का अधिकारी था । पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ पुत्र का यह कर्तव्य था कि वह अपने अनुजों का पुत्र के समान पालन करे। उदाहरणार्थ- कृत संवत् 282 (225ई0) के नांदसा (भीलवाडा) यूप लेख[4] में श्रीसोम के पितामह प्रभाकरवर्धन एवं पिता जयसोम का उल्लेख जहाँ एक ओर परिवार में ज्येष्ठ पुरुष के महत्व की ओर संकेत करता है वहीं पिता का उत्तराधिकारी पुत्र होता था, इसकी भी जानकारी मिलती है। किसी कार्य के सम्पादित होने पर कुल के पूर्वजों की अभिलेखों में नामोल्लेखन की गौरवशाली परम्परा प्रचलित थी जिससे कुल में पूर्वजों का महत्व स्पष्ट होता है। उदाहरणार्थ मालव संवत् 428 (371 ई0)के विजयगढ़ अभिलेख[5] में विष्णुवर्धन के प्रपितामह व्याघ्ररात पितामह यशोरात तथा पिता यशोवर्धन का उल्लेख प्राप्त होता है परिवार में पुत्र का विशेष महत्व था। भट्टि सोमसोगी के तिथिविहीन नांदसा यूप लेख[6] में कुल गोत्र के वर्धन हेतु पुत्र-पौत्र का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार मालव संवत् 428 (371 ई0) के विजयगढ लेख[7] में आयुष्मान पुत्र की प्राप्ति की कामना का उल्लेख है। पुत्र को कुल का दीपक माना जाता था। संवत् 918 के घटियाला (जोधपुर) के प्रथम स्तम्भ लेख[8] में कक्कुक को कुल का दीपक बताया गया है। पिता का पुत्र के प्रति विशेष स्नेह रहता था। घटियाला के चतुर्थ स्तम्भ लेख में कक्कुक को जो बातें प्रिय लगती थीं उनमें पुत्र में स्नेह[9] की भी गणना की गई है। पिता द्वारा पुत्र के साथ पुण्य कार्य का सम्पादन भी किया जाता था। संवत् 1053 (997ई0) के हस्तिकुण्डी के धवल के बीजापुर अभिलेख[10] में धवल द्वारा पुत्र के साथ मिलकर पीपला ग्राम में मन्दिर को एक कूप भेंट करने का उल्लेख है। सभी भाई परस्पर मिलकर रहते थे तथा बड़े भाई का समाज में पर्याप्त

सम्मान था। बडवा से प्राप्त कृत संवत् 295 के यूप लेखों[11] में बलवर्धन सोमदेव एवं बलसिंह आदि सहोदरों का उल्लेख मिलता है। संवत् 1030 के हर्षनाथ (सीकर) अभिलेख[12] में यह कहा गया है कि जिस प्रकार लक्ष्मण से श्रीराम तथा कृष्णावतार विष्णु से हलधर बलराम शोभित थे उसी प्रकार विग्रहराज अपने अनुज दुर्लभराज से शोभित थे। भातृमती बहिन को समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। संवत् 1012 (955) के बयाना अभिलेख[13] में चित्रलेखा के गुणों का कीर्तन करते हुए उसे भातृमती कहा गया है। अभिलेखों में परिवार वंश एवं भाग्य की वृद्धि हेतु अनेक धार्मिक कृत्यों के सम्पादन का भी उल्लेख मिलता है। मालव संवत् 428 के विजयगढ स्तम्भ[14] के लेख में विष्णुवर्धन द्वारा अपने यज्ञ यश, कल्याण, कीर्ति, परिवार वंश एवं भाग्य की वृद्धि के निमित्त पुण्डरीक यज्ञ करने एवं याज्ञिक स्तम्भ स्थापित करवाने का उल्लेख है। संवत् 770 (713ई0) के मानमोरी शिलालेख[15] में राजा मान द्वारा क्षणभंगुर संसार की सत्यता को जानते हुए अपने पूर्वजों एवं अच्छे कार्यों के निर्मित एक तालाब निर्मित करवाने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार वि. संवत् 1024 (967 ई.) के केर अभिलेख[16] में महाराज कृष्णराज द्वारा एक मन्दिर में सपरिवार वर्धमान का विम्ब स्थापित करवाने का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः परिवार की धारणा मनुष्य के सर्वांगीण विकास तथा समाज के उन्नयन से सम्पृक्त थी। इस प्रकार हमारे मनीषियों ने मनुष्य के मानसिक एवं आत्मिक विकास हेतु आश्रमों की व्यवस्था की।

आश्रम व्यवस्था

परिवार सतत् क्रियाशीलता की यज्ञवेदी है। परिवार में रहते हुये मनुष्य प्रत्येक

क्षण किसी न किसी कार्य में संलग्न रहता है। भगवत् गीता में श्री कृष्ण का कथन है कि ' न हि कश्चित क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकत्। कार्यते हयवशः कर्म सर्वः प्रकृति जै र्गुणैः ।[17] अर्थात् कोई भी व्यक्ति किसी काल में क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता है, निस्सन्देह सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं। द्विविध कर्म शुभ एवं अशुभ तत्सदृश फल प्रदाता होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के कर्म (क्रिया) पूर्वजन्म के कृत्य एवं इस जन्म के संस्कारों के निर्माण एवं व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रियाओं के नियोजन का प्रयत्न है।

आश्रम व्यवस्था प्राचीन भारतीय चिन्तन के अद्वितीय ज्ञान और प्रज्ञा का भी प्रतीक है। वस्तुतः जीवन की वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए कर्तव्य और आध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रमों में विभाजित किया गया है।

इसका सर्वोपरि और अन्तिम उद्देश्य मोक्ष माना गया। अन्य शब्दों में आश्रम व्यवस्था द्वारा आदर्शात्मक आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष प्राप्ति की अभियोजना प्रस्तावित की गई । हमारे अध्ययन कालीन अभिलेखों में आश्रम व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। इसका कारण सम्भवतः यह था कि अभिलेख अंकन का मुख्य उद्देश्य किसी राजा की प्रशस्ति अथवा किसी व्यक्ति के सम्बन्धित कृत्य के चिरस्थायित्व की भावना थी, साथ ही पाषाण पर विस्तृत वर्णन का उत्कीर्णन निश्चय ही दुष्कार्य भी था। अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन राजस्थान में आश्रम-व्यवस्था की पालना की जाती थी तथा यहाँ के निवासी ज्ञान प्राप्ति (ब्रह्मचर्य) के प्रति सावचेत थे, ताकि शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके शास्त्रानुकूल आचरण करते हुए समाज के उत्थान में योगदान दे सके। मालव संवत् 480 के गंगधार अभिलेख [18] में राजा नरवर्म को नियमों का ज्ञाता एवं पालक तथा अपनी उदार नियम पालना से उसे मुनियों को आनन्दित करने वाला बताया गया है। लेख में विश्ववर्मा को शास्त्रों का ज्ञाता, शास्त्रानुकूल आचरण कर्ता. बृहस्पति के समान बुद्धि सम्पन्न बताया गया है।

ब्रह्मचर्य आश्रम, व्यक्ति के चित्त में गुणों का विकास कर सांसारिक विषयासक्ति के प्रति संयमित भी करता है। वि.सं. 742 के मण्डोर लेख[19] में चणक पुत्र माधु को गुणियों में अग्रगण्य बताया गया है। सम्वत् 746 के झालरापाटन लेख[20] में ब्राह्मणों के ऐसे समुदाय का उल्लेख है जो सत्य के ज्ञान से निर्मल चित्त एवं काम के विध्वंसक भगवान शंकर के परम स्थान को ज्ञात करने के लिए उत्सुक था। वि.सं. 847 के कोशवर्धन अभिलेख[21] में सामन्त देवदत्त को गुणों का सागर, मनोविकार विजयी तथा अन्तकरण की शुद्धि के विषय में देवगुरु बृहस्पति के महात्म्य को भी कम करने वाला बताया है। हर्ष सम्वत् 201 (807ई0) खंडेला अभिलेख[22] में दुर्गवर्धन के पुत्र धंधक को गुण रुपी रत्नों से परिपूर्ण, अच्छी वृत्ति और सदाचार की कांति से सम्पन्न बताया गया है। इसी प्रकार चाटसू अभिलेख[23] में आउक पुत्र कृष्णराज को शुभ कर्मों से नरक के भय को कम करने वाला, साधु पुरुषों में सत्व गुणमय, मर्यादा को रखने वाला एवं पापियों का निग्रह करने वाला बताया गया है। वि0सं0 894 के बाउक अभिलेख[24] में हरिश्चन्द्र ब्राह्मण को वेद और शास्त्रों के अर्थ में पारंगत, प्रजापति के तुल्य बताया गया है। उक्त अभिलेख में राजा कक्क को छन्द, व्याकरण, तर्क, ज्योतिष-शास्त्र और कलाओं का विद्वान कहा गया है। वि०सं0 918 के घटियाला अभिलेख[25] में गुण समूह से गौरवान्वित कक्क का उल्लेख है जिसका पुत्र कक्कुक न्याय-अनुरागी, मानवता का अनुयायी, राग, द्वेष एवं मत्सर-भाव से रहित तथा

द्विजवरों के सत्परामर्श का अनुकरण कर्त्ता था । वि.सं. 1013 के ओसियाँ अभिलेख [26] में तपनेश्वर के भवन का वर्णन करते हुए लिखा है कि जिसके आँगन में कहीं धीर बुद्धिवाले साधु अधिक अध्ययन करते हुये, कहीं धर्म की स्थिति को प्रकट करते हुये और कहीं भगवान की स्तुति करते हुये दर्शित होते हैं तथा भवन में आचार्यों की ध्वनि गुंजायमान रहती है । वि०सं० 1016 के ऊनावास अभिलेख[27] में पिप्पलाद मुनि के आश्रम का उल्लेख मिलता है। वि.सं. 1030 के हर्षनाथ अभिलेख [28] में अल्लट को शुभ बुद्धिवाला, संसार के मोह को छोड़ने वाला, जन्म से ही ब्रह्मचारी, संयमी एवं तपस्वी बताया गया है जिसका भावद्योत नामक शिष्य अपने शुभ आचरण से गुरु के शुभ चरित्र का प्रकाशक था। वि.सं. 1053 हस्तिकुण्डी के धवल अभिलेख [29] में विदग्धराज के गुरु एवं उपदेशक वासुदेव का उल्लेख है जिनसे उन्होंने धार्मिक शिक्षा प्राप्त की।

अभिलेखों के उक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन राजस्थान में ब्रह्मचर्य आश्रम का मूलादर्श तप, त्याग और संयमपूर्वक ज्ञान और विज्ञान का अर्जन करना जारी था जिसका स्पष्ट साक्ष्य अभिलेखों में प्राप्त गुरु-भक्ति, शास्त्रानुकूल आचरण, धर्म एवं नियमों के प्रति आसक्ति तथा निरन्तर शुद्धाचरण करते हुए अनेक राजाओं, सामन्तों एवं गणमान्य व्यक्तियों द्वारा सामान्य प्रजा में धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करना है।

मन और मस्तिष्क से संतुलित व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था । भारतीय समाज में गृहस्थाश्रम का विशेष महत्व रहा है। ग्रहस्थाश्रम में रहकर व्यक्ति अपने व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक आदि विभिन्न कर्तव्यों का पालन करता था। सत्य, अहिंसा, सभी प्राणियों के प्रति दया, शम, सामर्थ्यानुसार दान आदि गृहस्थ के उत्तम कर्तव्य थे। अन्य तीन आश्रमों के गृहस्थाश्रम पर आश्रित रहने के कारण समाज में गृहस्थाश्रम का महत्त्व सर्वमान्य था। ज्ञानार्जन के पश्चात् मनुष्य गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। मनु ने गृहस्थाश्रम के विषय में लिखा है कि यथा नदीनदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितम । तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम् [30] अर्थात् जिस प्रकार सभी नदी नद सागर से संस्थित हो जाते हैं उसी प्रकार सभी गृहस्थाश्रम में । इस आश्रम में पति-पत्नी धर्मानुसार व्यवहार करते थे। गृहस्थाश्रम ही अन्य आश्रमों के विकास और विस्तार का आधार था।

अभिलेखों के अध्ययन से प्राचीन राजस्थान में गृहस्थाश्रम पर व्यापक प्रकाश पडता है । कृत संवत् 282 के नांदसा यूप लेख [31] में गृहस्थ धर्म के पालक , प्रभाकर वर्धन के पौत्र और जयसोम के पुत्र सोम ने कर्मों के द्वारा सम्पदा से समृद्धि एवं यज्ञभूमि में ब्राह्मणों को सन्तुष्ट

करते हुए कुलवर्धन हेतु एक महातड़ाग में यूप (स्तम्भ) स्थापित कराने का उल्लेख मिलता है। लगभग तीसरी सदी के भट्टिसोम सोगी के नान्दसा यूप लेख[32] में कुलगोत्र के वर्धन हेतु पुत्र- पौत्र प्रतिष्ठित भट्टि सोम के यूप स्तम्भ का उल्लेख मिलता है। गृहस्थ में रहते हुए कुलगोत्र के वर्धनार्थ और धार्मिक कृत्यों का सम्पादन गृहस्थाश्रम की विशेषता थी।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए गृहस्थ के द्वारा व्यक्तिगत उन्नति हेतु कार्य किये जाते थे जिससे गृहस्थ कल्याण, समृद्धि, परिवार, वंशादि की प्रसिद्धि प्राप्त कर सके। मालव सं. 428 के विजयगढ़ लेख [33] में यशोवर्धन के सत्पुत्र विष्णुवर्धन के द्वारा कुल, वंशादि की उन्नति एवं भाग्य तथा भोग की वृद्धि हेतु यूप स्थापित करवाने का उल्लेख मिलता है मालव सं. 480 के गंगधार अभिलेख [34] मे धर्म, अर्थ, कर्म के साधन में बुद्धि पराक्रम से सम्पन्न कुल में उत्पन्न सचिव मयूरारक्षक ने पत्नी विपुल श्री एवं पुत्र विष्णुभट्ट तथा हरिभट्ट के साथ पाप के मार्ग का अवरोध करने वाले विष्णु का धाम बनवाने का उल्लेख मिलता है। हर्ष संवत् 201 (807ई0) के खंडेला अभिलेख[35] में ढूसर वंशीय क्षमावान एवं पवित्राचारी अपने धन से ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करने वाले दुर्गवर्धन व्यापारी की गृहस्थी का उल्लेख मिलता है। उसके गुणों का सागर, सदवृत्ति और सदाचार की क्रान्ति से सम्पन्न धङ्गक नामक पुत्र था जिसके कलिकाल के कलंक से मुक्त वोद्द नामक पुत्र हुआ। उसके पुत्र आदित्यनाग द्वारा गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए माता-पिता एवं स्वयं के पुण्यार्थ धार्मिक कार्य करते हुए अर्धनारीश्वर के मन्दिर का निर्माण करवाया गया।

गृहस्थ में रहते हुए गृहपति के द्वारा अनेक सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक आदि विभिन्न प्रकार के कर्तव्यों का पालन किया जाता था। सत्य, अहिंसा, प्राणियों के प्रति दया, शम सामर्थ्यानुसार दान आदि गृहस्थ के उत्तम कर्म थे। वि० सं. 1013 के ओसियाँ अभिलेख[36] में जिन्दक नामक वैश्य एवं उसकी पतिव्रता पत्नी चदुहवरा के धर्मानुरागी पुत्र के द्वारा गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए जिनेन्द्र के भवन का निर्माण एवं उनकी पत्नी के द्वारा उसमें दुर्गा की प्रतिष्ठा करवाने का उल्लेख मिलता है।

वि० सं. 1056 के किणसरिया अभिलेख[37] में वैरिसिंह की पत्नी दुन्दा को गृहस्थ धर्म का पूर्णरूपेण आचरण करने वाली बताया गया है एवं उसके पुत्र चच्च द्वारा कल्याण की कामना करते हुए भवानी का एक मन्दिर निर्मित करवाने का उल्लेख है। आत्मकल्याणार्थ एवं समाज के हितार्थ गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अनेक बावडी, कुआ , नगर, सरोवर आदि का निर्माण इस समय

देखा जाता है। वस्तुतः हर्षनाथ आदि अभिलेखों में प्राप्त वंश परम्पराएँ एवं उनके द्वारा सम्पादित सर्वजन हितकारी कार्य उस समय गृहस्थाश्रम के सुदृढ स्वरूप के परिचायक है।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् अपने समस्त गार्हस्थ्य कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को सम्पन्न कर लेने के बाद सांसारिक माया मोह को त्यागकर मनुष्य वानप्रस्थ जीवन की ओर मुड़ता था उसका प्रधान उददेश्य आध्यात्मिक उत्कर्ष और समस्त भौतिक स्पृहाओं से मुक्ति पाने का उपक्रम था। वानप्रस्थी संन्यास की ओर प्रस्थान करता था। संन्यास का मूल उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति था। सांसारिक वस्तुओं से अनासक्त होने पर ही उसे ज्ञान प्राप्ति संभव थी।

अभिलेखों में प्राप्त उल्लेखों के आधार पर वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के मध्य स्पष्ट विभेदक रेखा खींचना असम्भव है। अभिलेखों में इस आशय के प्रमाण उपलब्ध हैं कि अनेकानेक राजा, सामन्तादि सामाजिक, राजनैतिक आदि उत्तरदायित्वों को पूर्ण कर सन्यास की ओर उन्मुख हुए। वि. सं. 894 के बाउक अभिलेख[38] से ज्ञात होता है कि जज्जिका के पुत्र तात जीवन की क्षणभंगुरता को जानकर राज्य भार अपने अनुज भोज को सौंप कर मांडव्य के आश्रम में जाकर निवास करने लगा। लेख में शीलुक के श्रेष्ठ पुत्र झोट द्वारा राज्य-सुख का उपभोग कर गंगा नदी के तट पर अपना निवास बनवाने का भी उल्लेख मिलता है। इसके बलसम्पन्न, तपस्वी भिल्लादित्य नामक पुत्र का भी उल्लेख है जिसने कुछ समय तक राज्य कर अपने पुत्र को शासन सौंप कर हरिद्वार में जाकर 18 वर्ष तक निवास किया। वि. सं. 1053 हस्तिकुण्डी अभिलेख[39] से विदित होता है कि राजा धवल ने अपने सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों को पूर्ण कर वृद्धावस्था में बालाप्रसाद को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर संसार को छोड़कर सन्यास ग्रहण कर लिया था।

अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन राजस्थान में आश्रम व्यवस्था का मूलरूप में आयु अनुसार प्रचलन नहीं था तथापि उद्देश्यात्मक व्यवस्था विद्यमान थी इसका प्रमुख उद्देश्य जीवन को व्यवस्थित ढंग से निर्देशित एवं संचालित करना था, जिससे व्यक्ति के लिए समुचित रूप से अपने जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करना सम्भव हो जाए इससे जीवन अर्थपूर्ण और आशावादी बना आश्रम व्यवस्था मनुष्य में कर्तव्य परायणता, ज्ञान, शक्ति और शान्ति का समावेश करती हुई पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की पूर्ति का आधार थी। प्रसंगानुसार पुरुषार्थ-चतुष्ट्य का अध्ययन विषयानुकूल होगा। अपने जीवन काल में मनुष्य पुरुषार्थ-चतुष्ट्य का संपादक था ब्रह्मचर्य में धर्म प्रमुख पुरुषार्थ था। इसमें व्यक्ति धर्म को सीखकर अभ्यास करता था। ग्रहस्थाश्रम में अर्थ और काम प्रमुख पुरुषार्थ थे। इसमें व्यक्ति अपनी कामवासना की पूर्ति का

अवसर प्राप्त करता था और अर्थार्जन से स्वयं तथा आश्रितों का पोषण करता था एवं कर्तव्यों का निर्वहन करते हुए ऋणों से उऋण होने का प्रयास करता था। वानप्रस्थ तथा सन्यास में मोक्ष सबसे बड़ा पुरुषार्थ था।

विवेध्यकालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि प्राचीन राजस्थान में पुरुषार्थ-चतुष्टय की अनुपालना की जाती थी। मालव सं. 480 के गंगधार अभिलेख[40] में राजा के सचिव मयूरारक्षक अमित्र (शत्रु) व्यक्तियों के लिए भी उनकी भक्ति के कारण बन्धुवत् उन्हें धर्म, अर्थ और काम के साधन में तत्पर रखता था। अर्थ यद्यपि अपेक्षित था किन्तु धनार्जन न्यायोचित ही मान्य था। धन की चंचलता से परिचित जन समुदाय धर्म को अधिक महत्व देता था। मयूराक्षक ने सबके सारहीन और चंचल जीवन तथा झूले के समान गतिशील लक्ष्मी का चिन्तन कर न्यायतः प्राप्त वैभव का उपभोग करते हुए विष्णु के मन्दिर का निर्माण करवाया।

वि.सं. 742 (685 ई०) के मण्डोर बावडी से प्राप्त अभिलेख[41] में किसी व्यक्ति द्वारा आयु की चंचलता और धन की असारता को देखते हुए स्वादिष्ट (मीठे) जल की बावडी बनवाने का उल्लेख मिलता है। मनुष्य अपने कर्मानुसार फल या स्थिति प्राप्त करता है। ऐसी मान्यता जहाँ मनुष्य को कुमार्ग से रोकती है वहीं अपराध वृद्धि पर विराम लगाती है। अतएव हमारी संस्कृति में धर्मपूर्वक अर्थ एवं काम का संपादन मोक्षोन्मुखी बताया गया है। मर्यादित काम का सेवन जहां दाम्पत्य-जीवन का आधार है वहीं उच्छृंखल काम-भाव विनाश का ।अभिलेखीय अध्ययन से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि प्राचीन राजस्थान में काम भाव का सेवन जीवन की आवश्यकतानुसार मर्यादित रूप में ही प्रशंसनीय था।

वि०स० 870 के चाटसू अभिलेख[42] में गुहिल वंशी के व्यक्ति की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि गौरी के स्तनों के आलिंगन व्यापार में एकमात्र आनन्द का अनुभव करने वाला जितेन्द्रिय होने के कारण कामदेव के बाणों से बांधा नहीं गया है, दैदीप्यमान ऐश्वर्य से विभूषित तथा जो हमेशा नन्दिकेश्वर वृषभ रूपी धर्म पर आरुढ़ रहता है ।वि०सं० 9 वीं 10वीं शताब्दी के डबोक शिलालेख[43] में काम के साथ ज्ञान का संयोग संकेत देता है कि ज्ञानमय काम ही समाज में प्रशंस्य है। लेख में लिखा है कि प्रलाप एवं नवीन रति युद्ध के सुख में निमग्न हृदय वाला यह सम्पूर्ण जनसमूह भी विजयी होवे और यह सरस्वती को भी प्रसन्न करें।

वि०सं० 918 के घटियाला स्तम्भ लेखानुसार जिसका यौवन अनेक प्रकार के भोगों से, मध्यम आयु लक्ष्मी से और बुढापा धर्म से बीतता है वह पुण्यवान होता है।[44] उक्त अर्थ से युक्त श्लोक निश्चयतः ही प्राचीन राजस्थान में आश्रम व्यवस्था तथा पुरुषार्थ पर सम्यक प्रकाश डालता है।

यद्यपि जीवन में धर्म, अर्थ, काम आवश्यक हैं तथापि जीवन का परम सत्य मोक्ष ही है। मोक्ष की प्राप्ति सद्धर्म द्वारा की जा सकती है। सामान्य व्यक्ति भी इस बात से भलीभांति परिचित था कि लक्ष्मी नेत्र पलकवत् अस्थिर एवं धन और यौवन जलतरंगवत् चंचल हैं । वि०सं० 718 के कुण्डेश्वर मन्दिर अभिलेख[45] में जीवन की क्षणभंगुरता को समझकर सेनापति वराहसिंह की पत्नी यशोमती द्वारा संसार रूपी सागर को पार करने हेतु जहाज रूपी भगवान कैटभरिपु (विष्णु) का मन्दिर बनवाने का उल्लेख मिलता है वि०सं० 746 (689 ई०)[46] के झालरापाटन अभिलेख में वोप्पक द्वारा देहधारियों की वृद्धावस्था एवं वियोग से उत्पन्न दुख प्रवाह को देखते हुए एकमात्र सारभूत जन्म-मृत्यु चक्र को नष्ट करने वाले भगवान शिव का मन्दिर बनवाने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार मानमोरी शिलालेख में सद्गुणों से परिपूर्ण लक्ष्मी के धारक राजा भोज के पुत्र मान ने वृद्ध व्यक्ति को देखकर शरीर को छायावत् अल्प समय में विनाश को प्राप्त होने वाला समझा और राज्य लक्ष्मी तृण समान क्षणभंगुर तथा मनुष्य उस दीपक के समान है जो दिन के प्रकाश में रखा जावे। इस प्रकार विचार करते हुए पूर्वजों एवं जनसामान्य के कल्याणार्थ एक महान सरोवर के निर्माण का उल्लेख मिलता है।

आश्रम व्यवस्था का एक और आधार ऋणों की धारणा थी । मनु के अनुसार तीनों ऋणों (देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण) को पूरा करके ही व्यक्ति को अपने मन को मोक्ष में लगाना चाहिए। इन ऋणों का शोधन किये बिना मोक्ष का सेवन करने वाला व्यक्ति नरक गामी होता है।[48] स्पष्ट है कि मनुष्य को अपने सभी ऋणों से उऋण होना तथा अपने सभी कर्मों को धर्मानुसार पूरी तरह निष्पन्न करना आवश्यक था। मोक्षेच्छुक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक था कि वह वेदों का ज्ञान प्राप्त करे. धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न करे, शक्ति के अनुरूप यज्ञों का अनुष्ठान करे और तत्पश्चात मोक्ष का निवेशन करे।

देव ऋण

इस ऋण को यज्ञादि द्वारा चुकाया जाता है। निसर्ग की विभिन्न शक्तियों को देव कहा गया है, क्योंकि उनका दैदीप्यमान प्रकाश चहुँ ओर दिखाई देता है। दिव् धातु द्योतनशील

दीप्तिमान, कान्तिमान आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतएव दिव् से बना देव शब्द जो दिव्य तेज से सम्पन्न हो। जिन्होंने आत्मिक विकास के द्वारा आत्म साक्षात्कार की अनुभूति की है ऐसे महापुरुषों के लिए भी देव शब्द प्रयुक्त किया जा सकता है। इन विभूतियों का समाज पर कितना गहरा प्रभाव एवं ऋण होता है, यह प्रत्येक विचारशील मनुष्य समझ सकता है। अतः प्राचीन भारत में समाज के सदस्यों का यह कर्तव्य मान लिया गया कि वे इन महात्माओं के आदेश पर चल कर उनके ऋण से मुक्त हो जायें। इन महापुरुषों की मान्यता थी कि मनुष्य को जीवन यापन के लिए जिन अतिआवश्यक साधनों की आवश्यकता रहती है, वे सभी साधन दैवी शक्तियों द्वारा ही हमें प्राप्त होते हैं जैसे कि जल, भूमि, वायु इत्यादि अतएव प्राकृतिक उपादानों का संरक्षण एवं वर्धन ही इस ऋण का मुख्य उद्देश्य था ।

विवेच्यकालीन अभिलेखों में ऋणों से सम्बन्धित अप्रत्यक्ष उल्लेख प्राप्त होते हैं । वि०सं० 282 के नान्दसा यूप लेख[49] में श्री सोम के द्वारा ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, महर्षियों और विष्णु मन्दिरों हेतु भूमि प्रदान करने एवं उसे सभा भवन, आश्रयस्थल ,तालाब, कुएँ खुदवाने, मन्दिर बनवाने एवं यज्ञों में दान देने में निरत बताया गया है। मालव संवत् 480 के गंगधार शिलालेख[50] में नरवर्म नामक राजा को यज्ञों के द्वारा देवताओं को , उदार नियमों से मुनियों को प्रसन्न करने का उल्लेख मिलता है। जिससे समाज में दिव्यता का संचार हो सके। चाटसू अभिलेख[51] में गुहिल वंशी भर्तृ भट्ट को भूमिदान से ब्राह्मणों को, यज्ञों से देवताओं को आनन्दित करने वाला एवं समाज में वन्दनीय बताया गया है । वि०सं० 900-1000 के डबोक अभिलेख[52] में युद्धवीर कक्क के राज्यकाल में प्रत्येक बसन्त ऋतु के अन्त में ब्राह्मणों द्वारा यज्ञादि विधियों के योग से इन्द्र देव (जलवर्षक) को बुलाये जाने का उल्लेख मिलता है। अभिलेखों में राजा, सामन्त, गणमान्य नागरिकों के द्वारा यज्ञादि विधान, कूप, बावडी, मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाने एवं उनके देखभाल की व्यवस्था का प्रबन्ध प्रकृति के प्रति मानव मन की कृतज्ञता एवं समाज की आवश्यकता के अनुरूप है। वास्तविक रूप में देवऋण प्रकृति का रक्षण है, जिसका सामजिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान है।

ऋषि ऋण

प्राचीनकाल में गुरूकुलों में ऋषिगण आजीवन योग और तप को विद्या के रूप में ब्रह्मचारियों को देते थे। गुरूकुल परम्परा में शिष्य गुरुकुल के सदस्य के रूप में निवास करता हुआ

गुरु से गूढ तत्व-दर्शन का अध्ययन ऋषित्व की पदवी को प्राप्त कर वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध होता था । गुरू शिष्य को पुत्रवत् मानता था अतः गुरु और शिष्य सम्बन्ध उदात्त और पवित्र बन जाता था। समाज के धनी एवं निर्धन सभी समान रूपेण निःशुल्क अध्ययन करते थे। इन शिष्यों के लिए निर्लेप ऋषि सर्वस्व न्यौछावर करते थे अतः इन शिष्यों पर गुरू का भारी ऋण हो जाता था इसी को ऋषि ऋण कहा गया है।

समावर्तन संस्कार के पश्चात् स्नातक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था इस समय वह गुरू का ऋण चुकाना नहीं भूलता था। गुरू का ऋण द्रव्य द्वारा नहीं चुकाते थे अपितु स्वाध्याय कर ज्ञानवृद्धि के साधनों में वृद्धि करते थे, तथा गुरूकुलों को हर प्रकार की सहायता भी देते थे जिससे ज्ञान पिपासा की तृप्ति के केन्द्र सूखने न पायें।

अध्ययनकालीन अभिलेखों का उद्देश्य साक्षात् रूप से ऋणों से जुड़ा हुआ नहीं है, तथापि यत्र-तत्र इस आशय से सम्बन्धित उल्लेख प्राप्त होते हैं। जिनमें राजाओं के द्वारा अपने गुरु के लिए द्रव्यादि दान की व्यवस्था है जिससे वे धनाभाव में अपने कर्तव्य सम्पादन से विरत न हो। वि0स0 1053 (997 ई०) के हस्तिकुण्डी अभिलेख[53] में राजकुमार के धार्मिक गुरू वासुदेव की आज्ञा से जैन मन्दिर बनवाने का उल्लेख है। विदग्धराज के द्वारा राजकुमार के भार के बराबर स्वर्ण तुलवाकर 2/3 भाग तीर्थंकर को और शेष भाग गुरु वासुदेव को दिये जाने का भी उल्लेख मिलता है इसी लेख के द्वितीय भाग में विदग्ध द्वारा अपने गुरू बलभद्र के लिए ऋषभनाथ जैन मन्दिर बनवाने के साथ ही मन्दिर के वर्धन हेतु दान की वस्तुओं में से 2/3 जिन (अर्हत) को प्रदान करने तथा 1/3 भाग गुरु बालभद्र को उनके अद्वितीय ज्ञान के विद्याधन के रूप में दिया जाने का उल्लेख है । वि०सं० 1030 के हर्षनाथ अभिलेख [54] में प्राप्त गुरु शिष्य परम्परा ऋषि ऋण का ही स्वरूप प्रतीत होता है। गुरुदीक्षा से वासना एवं अज्ञान रूपी मल का विध्वंश करते हुए शिष्यों के द्वारा ज्ञान के अध्ययन एवं अध्यापन द्वारा ऋषि ऋण से ही उऋण होने का प्रयास था। अभिलेख में अल्लट नामक गुरु एवं भावद्योत नामक शिष्य का उल्लेख मिलता है जिसने गुरु की आज्ञा से कूप , सुन्दर वाटिका एवं गायों के पानी पीने के लिए प्याऊ का निर्माण करवाया। वि०सं० 1028 (971 ई0) की एकलिंग जी की नाथ प्रशस्ति[55] में प्रशस्तिकार आदित्यनाग के पुत्र गुणसागर भ्राम के ऊपर वेदाङ्ग मुनि की कृपादृष्टि बताई गई है वि०स० 918 (861 ई0) के घटियाला अभिलेख में कक्कुक को अच्छी लगने वाली वस्तुओं में गुरु की भक्ति की भी गणना की गई है। चाटसू अभिलेख में रट्टवा के तृतीय पुत्र देवराज को गुरुभक्त एवं इन्द्र के समान बताया गया है। अतः

अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि ऋषि ऋण का सिद्वान्त परिवर्तित रूप में प्राचीन राजस्थान में प्रचलित था । वस्तुतः ऋषिऋण के सिद्धान्त के कारण समाज की शैक्षणिक संस्थाएँ न केवल जीवित रहती थीं अपितु उत्तरोतर उन्नति व वृद्धि भी करती थीं।

पितृ ऋण

पितृ ऋण का विशेष सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से है। समाज के उन्नयन एवं विकास हेतु पितृ ऋण का सिद्धान्त अधिक उपादेय एवं आवश्यक है। इस ऋण को सन्तानोत्पत्ति द्वारा चुकाया जाता हैं। सन्तान की उत्पति का सम्बन्ध समाज के भविष्य से कितना घनिष्ठ है, यह तो नितान्त स्पष्ट है ।उत्तरदायित्वों और कर्तव्यों को समझने वाली सन्तान के उत्पन्न होने पर समाज का भविष्य सुधर सकता है। श्रेष्ठ सन्तान श्रेष्ठ समाज का आधार थी अतएव वैदिक ऋषि परमात्मा से यही प्रार्थना करते थे कि "हम अच्छे पुत्रों वाले बनें"।

विवेच्यकालीन अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन राजस्थान में गृहस्थ जीवन में पुत्र की प्राप्ति प्रमुख कर्तव्य थी। पुत्र की प्राप्ति जहाँ पितृ ऋण से मुक्ति का आधार थी वहीं सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वहन का विषय भी थी। विक्रम संवत् 428 के विजयगढ स्तम्भ लेख में विष्णु वर्धन के द्वारा आयुष्मान पुत्रत्व की स्थिति की प्राप्ति की कामना की गयी है।[56] गंगधार अभिलेख (ई० सन् 423) में [57] मयूराक्षक ने अपने पुत्र हरिभट्ट एवं विष्णुभट्ट के लिए अपने कुल के सभी कर्तव्यों का पालन किया। वि०सं० 847 के कोशवर्धन अभिलेख[58] में नाग वंशीय देवदत्त के गुणों का वर्णन करते हुए उसे कल्पवृक्ष के समान लोगों को आनन्दित करने वाला, सन्तति प्राप्त करने वाले उसे जगतार्थ गुणों की खान कहा गया है। वि०सं० 894 के जोधपुर के बाउक अभिलेख से विदित होता है कि विद्युतवत् जीवन की चंचलता को देखते हुए नागभट्ट के पुत्र तात ने अपने अनुज भोज को राज्य का शासन भार सौंप दिया तथा स्वयं मांडव्यपुर के आश्रम में शुद्धाचरण में प्रवृत्त हुआ तथापि उसने गृहस्थ धर्म का पालन किया जिससे यशोवर्धन नामक पुत्र का जन्म हुआ।[59] इससे स्पष्ट होता है कि पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ ऋण से मुक्ति मिलती है। अतः तात के द्वारा आध्यात्म का मार्ग अपना लिए जाने के बावजूद पिता के प्रति अपने दायित्व का निर्वहन किया गया । उक्त अभिलेख में ही श्री शिलुक के झोट नामक श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके द्वारा राज्य सुख का अनुभव कर गंगा नदी के तट पर निवास किया गया। वस्तुत श्रेष्ठ संतान श्रेष्ठ समाज का आधार थी। इस प्रकार अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन

राजस्थान में उत्तम सन्तति अर्थात् पुत्र की प्राप्ति गृहस्थ जीवन का मूलाधार थी। पुत्र प्राप्ति जहाँ पितृ ऋण से विमुक्ति का कारक मानी जाती थी वहीं पुत्र परिवार, कुल, समाज एवं राष्ट्र के भविष्य की आधारशिला भी थी।

पंच महायज्ञ

धर्मशास्त्रों में ऋणों से उऋण होने के लिए पंचमहायज्ञों का विधान रखा गया है। गृहस्थ के यज्ञ सम्बन्धी सामाजिक व सार्वजनिक कर्तव्यों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रतिदिन के यज्ञ और द्वितीय अवसर विशेष के यज्ञ ।प्रथम समूह में पंच महायज्ञों की गणना होती है और द्वितीय के अन्तर्गत पाक, हवि तथा सोम यज्ञ आते हैं। पी.वी. काणे के अनुसार यज्ञ की अवधारणा के पीछे भारतीय संस्कृति की उदात्त भावना का दिग्दर्शन होता है वस्तुत सम्पूर्ण जगत एक ही सृष्टि की रचना है, अतः जीओ और जीने दो की भावना अथवा आदान-प्रदान की भावना अवश्य होनी चाहिए। 'त्याग, कृतज्ञता, आदर, प्रिय-स्मृति, दयालुता एवं सहनशीलता की भावनाएं आर्यों में बहुत पहले से ही उद्भूत हो गई दिखती हैं इनका प्रतिविम्ब पंच महायज्ञों में छलकता है।[60] सृष्टि में अगणित जीव-जन्तु हैं ये मनुष्य के द्वारा जाने - अनजाने में ही मारे जाते हैं और मनुष्य पाप का भागी बन जाता है। अतः इस पाप से छुटकारा पाने हेतु पंच महायज्ञों का विधान किया गया। इन यज्ञों से मानव का जीवन विश्व के प्राणियों के साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध होता है एवं वे परस्पर एक दूसरे के प्रति सेवा और कर्त्तव्यों के बन्धन से जुड़े रहते हैं। सदाचार के भी मूल में यही धारणा है- 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो देवो बलिर्भीतो नृ यज्ञोअतिथि पूजनम्[61] अर्थात् पंचमहायज्ञों के नाम हैं -1. ब्रह्मयज्ञ 2. पितृयज्ञ 3. देवयज्ञ 4. भूतयज्ञ और 5. नृ यज्ञ । ये क्रमशः वेद का अध्ययन-अध्यापन करने से, हवन करने से, बलिवैश्यदेव करने से तथा अतिथियों का भोजन सत्कार करने से सम्पन्न होते हैं।

अध्ययनकालीन अभिलेखों का अध्ययन करने से विदित होता है कि प्राचीन राजस्थान में यज्ञ की महती परम्परा विद्यमान थी। 7वीं शताब्दी के एक ताम्रपत्र में पांच भाइयों गोपाध्याय, देभट, धाँध, गोपादित्य एवं गोपस्वामी को पंच महायज्ञों का सम्पादक कहा गया है।[62] राजाओं, सामन्तों एवं अन्य व्यक्तियों के द्वारा परिवार, यश, भोग, राज्य एवं आत्म कल्याणार्थ समय-समय पर यज्ञ करने के पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते हैं। राजस्थान से अनेक गोवर्धन- स्तम्भ लेख प्राप्त हुए हैं। जो कि गायों की रक्षा करते हुए मारे गये लोगों की स्मृति में स्थापित किये गये थे ।[63]

ई० सन् 11वीं शताब्दी के लगभग के रतनपुर अभिलेख [64] (नाडौल) में रानी गिरिजादेवी द्वारा प्रत्येक माह की एकादशी, चतुर्थदशी, अमावस एवं अन्य श्रेष्ठ तिथियों को जीवहिंसा रोकने की राजाज्ञा प्रसारित करने का उल्लेख मिलता है। आज्ञा का उल्लंघन करने वाले को 4 द्रम्म दण्ड का निर्धारण किया गया। इसी प्रकार 1152 ई0 के किराडू अभिलेख[65] में अल्हणदेव द्वारा शिवरात्रि मास के दोनों पक्षों की अष्टमी, एकादशी एवं चतुर्दशी के दिन पशु वध पर रोक की आज्ञा का उल्लेख मिलता है तथा आज्ञा का उल्लंघन करने पर दण्ड का उल्लेख भी मिलता है। इस प्रकार इन लेखों से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन राजस्थान में जीवों के रक्षण हेतु व्यक्ति कितने सजग थे। गायों (जीवों) की रक्षार्थ प्राणोत्सर्ग की घटनाऐं एवं जीवहिंसा को रोकने की राजाज्ञायें भूतयज्ञ की परम्परा के प्रचलन के उत्तम प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि प्राचीन राजस्थान के लोग भूतयज्ञ की परम्परा से अनुप्राणित एवं अभिप्रेरित थे।

इनके अतिरिक्त प्रारंभ से ही राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों से अभिलेखों की प्राप्ति होती है जिनमें यज्ञ सम्पादन के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ई० पूर्व द्वितीय प्रथम शताब्दी के नगरी अभिलेख [66] में पाराशरी के पुत्र राजा सर्वतात को अश्वमेध याजी कहा गया है। अश्वमेध यज्ञ एक वैदिक यज्ञ था जिसे चक्रवर्ती सम्राट बनने हेतु सम्पन्न किया जाता था । वि. सं. 282 के नान्दसा यूप लेख में मालव नेता श्री सोम द्वारा एक पष्टिरात्र सत्र सम्पादित करने का उल्लेख मिलता है। कृत् संवत् 284 के बर्नाला यूप लेख में चैत्र शुक्ल पक्ष की पंचदशी को पुण्य वर्धनार्थ सत्रयूप का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार कृत् संवत् 295 के बड़वा से प्राप्त चार पाषाण लेखों में फाल्गुन शुक्ल पंचमी के दिन महासेनापति मौखरी बल के पुत्रों (बलवर्द्धन, सोमदेव और बलसिंह) के द्वारा त्रिरात्र यज्ञ में हजार गायों की दक्षिणा का उल्लेख मिलता है। चतुर्थ लेख में हस्ती के पुत्र धनुत्रात के द्वारा आप्तोर्याम यज्ञ का यूप स्थापित कराने का उल्लेख मिलता है । कृत् संवत् 321 के बिचपुरिया लेख में धरक के पुत्र अहिशर्म द्वारा अग्निहोत्र कर पुण्यवृद्धि हेतु यूप स्थापित करवाने का उल्लेख मिलता है। कृत् संवत् 335 के बर्नाला यूप लेख में धर्म की वृद्धि एवं विष्णु की प्रसन्नता की कामना से भट्ट नामक ब्राह्मण द्वारा त्रिरात्र यज्ञ के सम्पादन का उल्लेख मिलता है । वि०स० 428 के विजयगढ स्तम्भ लेख में विष्णुवर्धन द्वारा यज्ञ, धर्म,कल्याण, समृद्धि, कीर्ति, परिवार, वंश, भाग्य तथा भोग की वृद्धि हेतु पुण्डरीक यज्ञ करने एवं याज्ञिक स्तम्भ स्थापित करने का उल्लेख मिलता है। मालव संवत् 480. के गंगधार लेख में राजा नरवर्म अनेक यज्ञों से देवताओं को आनन्दित करता है। इसी प्रकार चाटसू अभिलेख में गुहिल वंशी राजा भर्तृभट्ट यज्ञों से देवताओं को

आनन्दित करता हुआ वन्दनीय था। विoसo 900-1000 के डबोक शिलालेख में श्रीमान कक्क के राज्य क्षेत्र में प्रत्येक बसन्त ऋतु की समाप्ति पर ब्राह्मणों द्वारा यज्ञादि विधियों के योग से इन्द्र को बुलाया जाता था। इससे विदित होता है कि वर्षा हेतु उस समय यज्ञ किये जाते थे। वर्तमान में भी समाज में वर्षा के लिए यज्ञ विधान देखा जाता है।

वस्तुत यज्ञ कर्म (कर्तव्य) का ही पर्याय था। पंच महायज्ञ मात्र कर्मकाण्ड नहीं थे, बल्कि व्यक्ति को प्राणीमात्र के प्रति स्व कर्तव्य का बोध कराते थे तथा इनमें सफल जीवन के आदर्श निहित थे। ब्रह्मयज्ञ जहाँ व्यक्तित्व का निर्माणक था वहीं देवयज्ञ स्वस्थ रखते हुए कल्याणकारी विचारों का उत्पादक था। भूतयज्ञ दान और त्याग की भावना का विस्तारक था। पितृयज्ञ माता-पिता की सेवा भावना से अनुप्रणाणित था और नृ यज्ञ प्राणिमात्र के प्रति सेवा-भाव का जन्म दाता था। लेकिन दुर्भाग्य से बदलते हुए समय के साथ तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से इनका महत्व कम हो गया। फिर भी राजस्थान के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में इनके महत्व को अनदेखा नही किया जा सकता। ये यज्ञ प्रतिदिन न सही, लेकिन विभिन्न अवसरों पर प्रायः वर्तमान में भी इनको सम्पन्न किया जाता है।

संस्कार

राजस्थान में पारिवारिक जीवन के विशिष्ट लक्षणों में प्रत्येक व्यक्ति जीवन के विकास के मध्य आने वाली घटनाऐं जैसे- जन्म, विवाह, मृत्यु आदि से सम्बन्धित कुछ रीति-रिवाज हैं जिन्हें संस्कार कहा जाता है। मनुष्य का जीवन गर्भाधान से शुरू होता है और श्मशान में उसका अन्त होता है। अतः मनुष्य शरीर को स्वस्थ्य तथा दीर्घायु और मन को शुद्ध तथा अच्छे संस्कारों वाला बनाने के लिए गर्भाधान से लेकर अन्त्योष्टि तक सोलह संस्कारों की व्यवस्था की गई थी। भारतीय संस्कृति की परिकल्पना श्रेष्ठ मनुष्य की रही है क्योंकि श्रेष्ठ मानव ही श्रेष्ठ समाज, श्रेष्ठ राष्ट्र और श्रेष्ठ विश्व का निर्माणक है अतः हमारी संस्कृतिमें मनुष्य के शरीर और आत्मा को परिष्कृत कर उन्नयन की ओर अग्रसर करने हेतु संस्कारों का विधान किया गया है। जन्म से प्रत्येक मनुष्य शूद्र या असंस्कृत होता है किन्तु वह संस्कार से ही द्विज कहलाता है। इससे प्राणी मणि की भाँति देदीप्यमान हो जाता है उसका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, वैयक्तिक सामाजिक और धार्मिक जीवन भी उन्नत हो जाता है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन समय-समय पर होने वाले संस्कारों से आवृत रहता है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त समूचा जीवन संस्कारों से शुद्ध और

पवित्र होता रहा है। जीवन को विविध बाधाओं से दूर रखना संस्कारों के मूल में रहा है।

प्राचीन राजस्थान से प्राप्त बहुसंख्यक अभिलेखों का मुख्य उददेश्य सम्बन्धित व्यक्ति की प्रशस्ति है अतः अभिलेखों में संस्कारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। गर्भाधान प्रथम संस्कार था। ऋषियों ने गर्भाधान के पूर्व दम्पति के लिए उचित काल और आवश्यक धार्मिक क्रियाओं का उल्लेख किया है। लेकिन मध्यकाल तक आते-आते परिवार में नारी की स्थिति में गिरावट आ गई और पत्नी को केवल यौन तृप्ति का साधन समझा जाने लगा। अतः गर्भाधान से पूर्व उचित काल और धार्मिक क्रियाओं का महत्व समाप्त हो गया। गर्भस्थ शिशु को पुत्र रूप देने एवं गर्भ के रक्षण हेतु पुंसवन संस्कार का विधान था। इसमें देवताओं की स्तुति कर उनसे पुत्र प्राप्ति की कामना की जाती थी। वि.सं. 428 के विजयगढ स्तम्भलेख की चतुर्थ पंक्ति में दीर्घायु पुत्रत्व की स्थिति की प्राप्ति की कामना पुंसवन संस्कार का प्रतिरूप कहा जा सकता है। अभिलेखों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि राजस्थान में विद्यारम्भ संस्कार याज्ञिक विधि से होता था। वि०सं० 1043 के मांदकिला ताल अभिलेख में विद्यारम्भ के समय विहित होम (यज्ञ) से काली स्याही जैसे आकाश में ऊपर उठते हुए धुंध का वर्णन इस बात को पुष्ट करता है। वि.सं0 894 के बाउक अभिलेख में राजा कक्क का छन्द, व्याकरण, तर्क, ज्योतिष शास्त्र और कलाओं का विद्वान होना एवं 971 ई० की नाथ प्रशस्ति में प्रतिपक्षियों के कार्यों को भग्न करने में समर्थ प्रसिद्ध महिमा वाले वेदाङ्ग. मुनि एवं उनके शिष्य आदित्यनाग के पुत्र माम्र कवि का उल्लेख स्पष्ट करता है कि वेदारम्भ संस्कार का प्रचलन उस समय था ।भारतीय संस्कृति की भांति राजस्थान की संस्कृति में भी विवाह का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसे एक धार्मिक संस्कार के रूप में ग्रहण किया गया है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति पति-पत्नी दोनों के सहयोग से ही संभव है। गृहस्थ जीवन का आरम्भ ही विवाह से माना गया है। समाज में कोई भी धार्मिक कार्य पत्नी के बिना संभव नहीं होता इसलिए उसे धर्मपत्नी अथवा सहधर्मिणी कहा गया है। पुरुष और स्त्री के व्यक्तित्व का विकास, वंश का उत्थान और कुटुम्ब का संयोजन विवाह से ही संभव है। विवाह ही स्त्री और पुरूष की पूर्णता तथा उनकी सामाजिक और आध्यात्मिक अभिव्यंजना का आधार है। विवाह संस्कार विधि का उल्लेख यद्यपि अभिलेखों में नहीं मिलता है किन्तु पति-पत्नी द्वारा सम्पादित अनेक धार्मिक एवं लोक कल्याणकारी कार्यों का वर्णन विवाह संस्कार के महत्व का परिचायक है। मृतक संस्कार या अन्त्येष्टि संस्कार सोलह संस्कारों में अन्तिम संस्कार है। हिन्दू परिवार में किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसका जो अन्तिम संस्कार किया जाता है उसे अन्त्येष्टि संस्कार कहते हैं। अभिलेखों में यद्यपि अन्त्येष्टि संस्कार का पूर्णतः वर्णन उपलब्ध

नहीं होता है किन्तु तत्समय में शव के अग्नि दग्ध किये जाने की परम्परा हिन्दू संस्कृति में अनिवार्यतः विद्यमान थी। संवत् 1010 के लाडनूं लेख में पदमज का दौहित्र भोगांगति हुतः' कहा गया है। यह मृत्यु के उपरान्त शव के अग्नि दग्ध किये जाने का उल्लेख है। इसी प्रकार वि.सं. 703 के सामोली अभिलेख में जैंतक महत्तर का यमदूतों को आते हुए देख अग्नि में प्रवेश का उल्लेख शव दहन की परम्परा का सूचक है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राजस्थान में कुछ विशिष्ट संस्कारों का प्रचलन बदलते हुए रूप में प्राचीनकाल से अब तक चला आ रहा है।

इस प्रकार अभिलेखों के समग्र विवेचन से विदित होता है कि राजस्थान में संयुक्त परिवार प्रथा थी, जिसका मुखिया घर का सबसे ज्येष्ठ पुरुष होता था जिसे 'कुलपा' कहा जाता था। भारतीय संस्कृति के उच्चादर्शों का पालन परिवार के सभी सदस्यों का दायित्व था कुलपा के नेतृत्व में सभी परिवारीजन, वंश, परिवार, समाज एवं राष्ट्र हित के कार्यों में संलग्न रहते थे। समाज एवं संस्कृति की आधारशिला परिवार संस्था धार्मिक कृत्यों के सम्पादन की यज्ञवेदी थी जिसमें धर्मनिष्ठ पति-पत्नी गृहस्थ धर्म का सम्यक पालन करते हुए आत्मकल्याणार्थ लोकोपकारी कार्यों यथा- कूप, बावडी, तालाब, मन्दिर, नगर, उद्यान आदि निर्माण कार्यों के सम्पादक थे। धर्म, अर्थ एवं काम का सेवन करता हुआ गृहस्थ पंच से मुक्तयर्थ पंच महायज्ञों का सम्पादन कर्तव्य मानता था। समयानुरूप श्रम व्यवस्था परिवार में एवं समाज में गति एवं ऊर्जा का संचार करते हुए मोक्ष की ओर उन्मुख करने वाली थी। धर्मानुशासित जन-जीवन समाज एवं राष्ट्र का उन्नायक था।

सन्दर्भ-

1. कुमार, विजय, "पुरातत्व राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, पृ. 10-15
2. शर्मा, जी०एन०, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 19-20
3. ऋग्वेद 10.179.2-3
4. अल्तेकर, ए०एस०, "नान्दसा यूप इंशकिप्शन्स, एपिग्रैफिया इण्डिका वॉल्यूम 27, पृ.252-265
5. फ्लीट, जे०एफ०, भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड 3, पृ. 316-318
6. अल्तेकर, ए०एस०, पूर्व निर्दिष्ट
7. फ्लीट, जे०एफ०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 317
8. भण्डारकर, डी०आर०, 'घटियाला इंसक्रिप्शंस ऑफ कक्कुक': सम्वत् 918,एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 9, पृ. 280
9. वही, पृ. 281
10. करण, राम, बीजापुर इंशकिप्शन ऑफ धवल ऑफ हरितकुण्डी, वि०सं०1053 एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 10, पृ. 17-24
11. अल्लेकर, ए०एस०. श्री मॉखरी इंश्क्रिप्शंस ऑन यूपाजः कृत संवत् 295", एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 23, पृ. 42-52
12. कीलहर्न, एफ, हर्ष स्टोन इंशक्रिप्शन ऑफ दि चौहान विग्रहराज वि०सं० 1030, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 2, पृ. 116-130
13. बनर्जी, आर.डी., "दि बयाना इंशकिप्शन ऑफ चित्रलेखा वि०सं० 1012. एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 22, पृ. 120-127
14. फ्लीट जे०एफ०, पूर्व निर्दिष्ट
15. शर्मा, जी०एन०, राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ. 51-52
16. मिश्र, आर.एल., इंश्क्रिप्शन ऑफ राजस्थान, वॉल्यूम 1, पृ. 188-189
17. गीता, 3.5
18. फ्लीट, जे०एफ०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 90-97
19. अग्रवाल, आर०सी०. मारवाड़ की प्राचीन राजधानी- मण्डोर , नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 61 (1) सं 2013, पृ. 27

20. पुरोहित, एस.के., राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, पृ. 44-47
21. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू दि एजेज, भाग 1, पृ. 414
22. शर्मा, दशरथ, विश्वम्भरा, वर्ष 2 अंक 4, पृ. 17-18
23. सरकार डी.सी., सेलेक्ट इंशकिप्शंस, वॉल्यूम 2, पृ. 363-371
24. वही, पृ. 236-241
25. श्रीमाली, जी०एल०, राजस्थान के अभिलेख, भाग 1, पृ. 24-25
26. पुरोहित, एस० के०. राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, पृ. 122 123
27. वही, पृ. 130-131
28. कीलहर्न, एफ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 2, पृ. 116-130
29. करण, राम, बीजापुर इंशकिप्शंस ऑफ धवल ऑफ हस्तिकुण्डी वि०सं० 1053, एपिग्रेफिया इण्डिका, वाल्यूम 10. पृ. 17-24
30. मनुस्मृति, 6.90
31. अल्तेकर, ए०एस०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 27, पृ. 252-265
32. वही, पृ. 266-267
33. फ्लीट, जे. एफ., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 317
34. वही, पृ. 90-97
35. सरकार, डी०सी० खण्डेला इंसक्रिप्शन ऑफ ईयर 201. एपिग्रैफिया इण्डिका,वॉल्यूम 35, पृ.159-163
36. पुरोहित, एस0के0, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 121-126
37. करन, राम, किणसरिया इंशकिप्शन ऑफ दधीचिका (दहिया) चच्च (वि) सं० 1056 एपिग्रैफिया इण्डिका वॉल्यूम 12, पृ. 56-61
38. मजूमदार, आर०सी०, जोधपुर इशक्रिप्शन ऑफ प्रतिहार बाइक वि० सं० 894, एपिग्रैफिका इण्डिका , वॉल्यूम 18, पृ. 87-99
39. रामकरण, बीजापुर इंशक्रिप्शन ऑफ धवल ऑफ हस्तिकुण्डी , एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 10, पृ. 17-24
40. फ्लीट, जे०एफ०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 90-97
41. श्रीमाली, जी०एल०. राजस्थान के अभिलेख, भाग प्रथम, पृ. 6-7
42. भण्डारकर, डी०आर०,' चाटसू इंशक्रिप्शन ऑफ बालादित्य, एपिग्रैफिया इण्डिका,

वाल्यूम 12, पृ. 10-17

43. पुरोहित, एस०के०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 100-103

44. भण्डाकर, डी०आर० एपिग्फिया इण्डिका, वॉल्यूम 9, पृ. 277-281

45. कीलहर्न, एफ, उदयपुर इंशकिप्शन ऑफ अपराजित एपिग्रेफिया इण्डिका,वाल्यूम 4, पृ. 29-32

46. ब्यूलर, जी. टू ईशक्रिप्शंस फ्रॉम झालरापाटन:", इण्डियन एण्टीक्वेरी, वॉल्यूम 5, पृ. 180-183

47. श्यामदास, वीर विनोद भाग 1, पृ. 378-380

48. 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोगतो निवेशयेत् अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः मनुस्मृति, 6.35

49. अल्तेकर, ए०एस०, एपिग्रफिया इण्डिका, वॉल्यूम 27, पृ. 252-265

50. फ्लीट, जे0एफ0, भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग 3, पृ. 90-97

51. भण्डारकर, डी०आर० एपिग्रफिया इण्डिका, वॉल्यूम 12, पृ. 10-17

52. पुरोहित, एस०के० पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 100-103

53. रामकरण, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 10, पृ. 17-24

54. कीलहर्न, एफ. एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 2, पृ. 116-120

55. श्यामदास वीर विनोद भाग 1, पृ. 381-383

56. फ्लीट, जे०एफ०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 317

57. वही

58. पुरोहित, एस०के० पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 51-56

59. सरकार,डी०सी०,सेलेक्ट इंशकिप्शंस, वॉल्यूम 2, पृ.236 एवं आगे श्लोक संख्या 13-16

60. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग प्रथम, पृ .384

61. मनुस्मृति, 3.70

62. मिश्र, आर०एल० पूर्व निर्दिष्ट, वाल्यूम 1, पृ. 31

63. अग्रवाल, आर.सी., वरदा, वर्ष 6 अंक 2, पृ. 74-75

64. श्रीमाली, जी०एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 121-122

65. शर्मा, जी.एन., राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ. 86-87

66. त्रिगुणायत, एस०के० 'प्राचीन राजस्थान में वैष्णव- धर्म एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण,' पृ.85-90

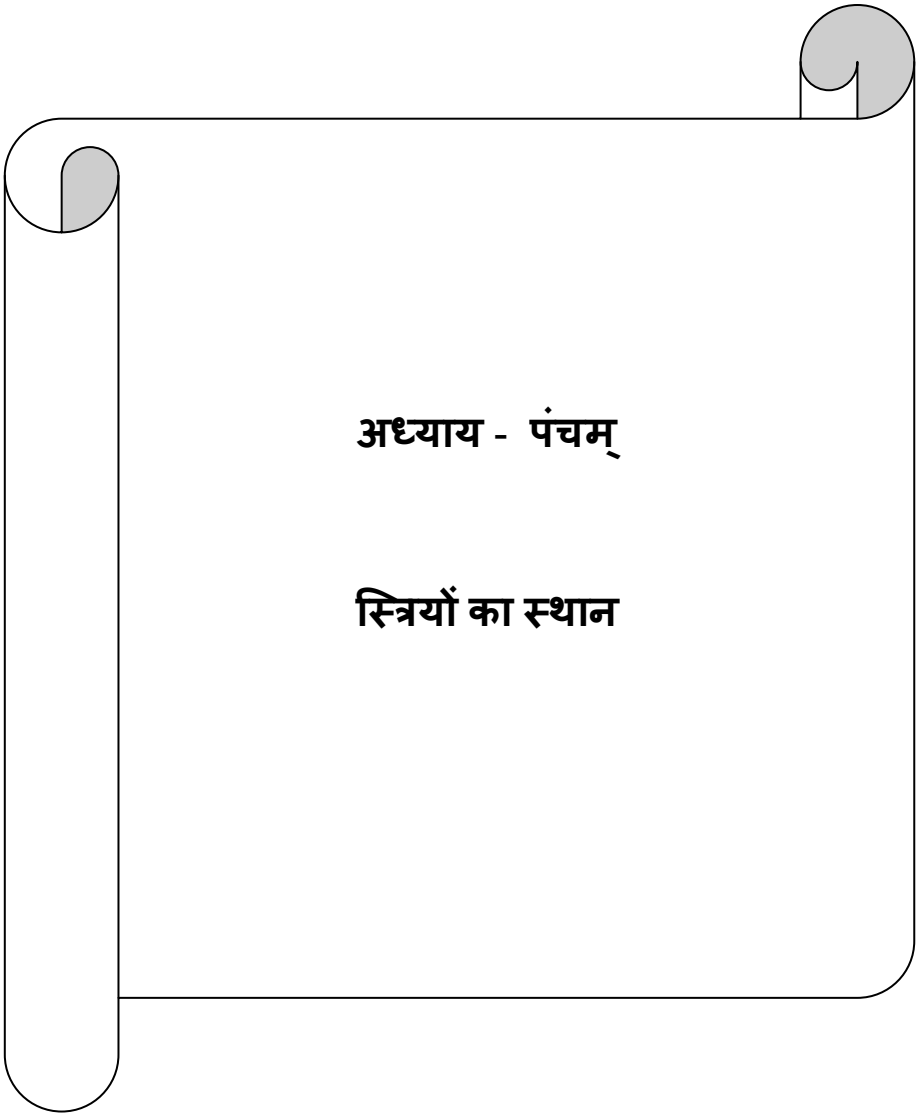

अध्याय - पंचम्

स्त्रियों का स्थान

अध्याय-पंचम्

स्त्रियों का स्थान

विश्व की सांस्कृतियों की आधारशिला नारी प्रत्येक युग के चिन्तकों, मनीषियों एवं अध्येताओं के अध्ययन का मुख्य विषय रही है। स्त्री के बिना सम्पूर्ण जगत का सृजन एवं अस्तित्व अकल्पनीय है। तदपि देश, काल एवं स्थिति से प्रभावित स्त्री की स्थिति बदलती रही है। किसी भी युग विशेष की संस्कृति एवं सामाजिक स्तर का उचित मूल्यांकन तत्कालीन समाज में स्त्री के जीवन स्तर के आधार पर भलीभांति किया जा सकता है। समाज में नारी की प्रतिष्ठा समाज की श्रेष्ठता का द्योतक है। इस दृष्टि से समाज में नारी की स्थिति तत्कालीन समाज की संस्कृति एवं स्तर को मापने का मापदण्ड होती हैं। यह एक ऐसा दर्पण है जिसमें समाज प्रतिबिम्बित होता है।

हिन्दू समाज में नारी का सम्मान और आदर प्राचीन काल से ही आदर्शात्मक एवं मर्यादायुक्त रहा। कन्या, पत्नी एवं माँ के रूप में हिन्दू परिवार एवं समाज में उनका आदरणीय स्थान था। भारतीय धर्मशास्त्रों में नारी को जहाँ सर्वशक्ति सम्पन्न माना गया वहीं उसे विद्या, शील, ममता, यश एवं सम्पत्ति का प्रतीक भी माना गया। गृह साम्राज्ञी के रूप में उसे प्रतिष्ठापित किया गया तथा घर के अन्य सदस्यों को उसके शासन में रहने के लिए निर्देशित भी किया गया।[1]

नारी की दशा में युगानुरूप परिवर्तन होते रहे हैं। वैदिक काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक हमें अनेक परिर्वतन दर्शित होते हैं। वैदिक काल में जहाँ उसकी दशा अत्यन्त उन्नत थी वहीं परवर्ती काल में उसकी दशा में परिवर्तन आया जो अवनति के रूप में बाद के काल तक चलता रहा। पुरुषों की तुलना में नारी को समाज में श्रेयस्कर स्थान प्राप्त नही हुआ, अपितु अपेक्षाकृत निम्न स्थान ही प्राप्त हुआ। सम्भवतः राजनीतिक अस्थिरता एवं सामाजिक संकीर्णता के कारण ऐसा हुआ। किन्तु भारतीय विचारकों ने नारी के प्रति आदर ही व्यक्त किया और उन्हें 'देवी' और 'श्री' का प्रतीक माना।

अद्यतन स्त्री विषयक अध्ययन प्रायः साहित्यिक साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में किया जाता हैं जिसकी प्रमाणिकता संदिग्ध हो सकती है। अतएव तत् पुष्ट्यर्थ पुरातात्त्विक साक्ष्यों का यथोचित आधार आवश्यक है। अभिलेखों में प्राप्त स्त्रियों का अंकन मुख्यतः राजकुल की नारियों से

सम्बन्धित है तदपि यत्र-तत्र सामान्य स्त्रियों की स्थिति का भी बोध होता है।

कन्या के रूप में

कन्या या पुत्री स्त्री जीवन की आधारशिला है। समाज के विकास में इसका वही महत्व है जो किसी सुन्दर सुदृढ भवन के निर्माण में नींव का होता है। वैदिक युग में पुत्री के रूप में कन्या का समादेश था और वह समाज में देवी के रूप में पूजनीय थी। पुत्री को माता-पिता का आभूषण माना जाता था। धर्मसूत्रों एवं धर्मशास्त्रों में कन्या के जन्म को कष्ट कारक माना जाने लगा। किन्तु इस युग में ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कन्या का समादर था। इस युग में विवाह में कन्या दान को पुण्य माना जाता था।[2] मनु ने कन्या का लालन-पालन सुन्दर ढंग से करने का विधान किया है। मनु के अनुसार यदि कोई पिता अथवा भाई धनधान्य की कामना करते हैं तो उनको चाहिये कि वे कन्या का आदर करें तथा उसे सदा अलंकृत रखें।[3] इनको दुखी करने से कुल का नाश होता हैं तथा इनके प्रसन्न रहने से सम्पन्नता में वृद्धि होती है।[4]

यद्यपि हिन्दू समाज में प्रारम्भ से ही पुत्र की महत्ता रही किन्तु स्नेह की दृष्टि से पुत्र एवं पुत्री में भेद नहीं किया गया। कन्या का जन्म वेदना का कारण होने पर भी माता-पिता उसे अगाध स्नेह किया करते थे। पुत्री वियोग भी पुत्र वियोगसम दुःखदायी था। विवाहोपरान्त पुत्री की विदाई ब्रह्मर्षि कण्व को भी रुला देती हैं। साधारण माता-पिता की पीडा तो निःसन्देह वर्णनातीत है।[5] पुराणों में शील सम्पन्न एक कन्या को दस पुत्रों के सामान सम्मानीय बताया गया है।[6] विवेच्ययुगीन राजस्थान के अभिलेखों में पुत्री के पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते हैं किन्तु ये उल्लेख मुख्य रूप से राजकन्याओं से सम्बन्धित हैं। वि०सं० 872 के बुचकला (जोधपुर) अभिलेख में जज्जक की पुत्री जायावली का उल्लेख मिलता है।[7] बालादित्य के चाटसू अभिलेख[8] में किसी पृथ्वीपालक राजा की पुत्री यज्जा का उल्लेख मिलता है जिसकी तुलना पार्वती से की गई है। इसी अभिलेख में वीरुक की पुत्री पुराशा का भी उल्लेख मिलता है। वि०सं० 1012 के बयाना के ऊषा मन्दिर से प्राप्त अभिलेख[9] में यशसकरी (माता का नाम) की पुत्री चित्रलेखा का उल्लेख मिलता है जिसे लेख में विनयशीला शास्त्रार्थ निपुणा एवं मधुरभाषिणी आदि गुणों से सम्पन्न बताया गया है। इसी प्रकार वि०सं० 1219 के ननाना (पाली) से प्राप्त कुमारपाल के सामन्त चौहान अल्हणदेव के शासनकालीन ताम्रपत्र में[10] वैद्यक कर्म के ज्ञाता राजा रुद्रपाल की प्राणप्रिया पुत्री देल्हणदेवी का उल्लेख मिलता है जो अपने शुद्धाचरण के लिये प्रसिद्ध थीं।

पत्नी के रूप में

हिन्दू विवाह संस्कार पद्धति के अनुसार कन्या का जब किसी पुरुष के साथ पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न करा दिया जाता है तब वह पत्नी बन जाती है तथा पिता का घर छोड़कर पति के घर में रहने को चली जाती है। वैदिक काल में पत्नी को कुलभूषण मानकर परिवार में उसे श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया। आगे चलकर उसकी स्थिति में परिवर्तन आया तथा उस पर अनेक प्रतिबन्ध भी लगाये गये। राजस्थान से प्राप्त हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में पत्नी के रूप में सामान्य स्त्रियों के उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु अभिलेखों में अनेक रानियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं यथा मालव संवत् 480 के गंगधार लेख[11] में मंत्री मयूराक्षक की पत्नी विपुल श्री का उल्लेख मिलता है। वि०सं० 718 के कुण्डेश्वर मन्दिर (उदयपुर) के शिलालेख[12] में राजा अपराजित के सेनापति बराहसिंह की पत्नी यशोमती का उल्लेख मिलता है। वि०सं० 847 के शेरगढ़ (कोटा) अभिलेख[13] में सर्वणांग की पत्नी महोदय का उल्लेख मिलता है। वि०सं० 872 के बुचकला (जोधपुर) अभिलेख[14] में भंभुक की पत्नी जायावली का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार वि०सं० 894 की बाउक प्रशस्ति[15] (जोधपुर) एवं वि०सं० 918 के घठियाला लेख[16] (जोधपुर) में प्रतिहार वंश के आदिपुरुष हरिश्चन्द्र की पत्नी भद्रा का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त बाउक प्रशस्ति में नागभट्ट की पत्नी जज्जिका, कक्क की पत्नी पद्मिनी का उल्लेख है जबकि घटियाला लेख में कक्क की पत्नी दुर्लभदेवी का उल्लेख मिलता है। वि०सं० 1003 के प्रतापगढ़ शिलालेख[17] में देवशक्ति की श्रीमती भूयिका देवी, वत्सराज की श्रीमती सुन्दरदेवी, नागभट्ट देव की श्रीमती ईसटा देवी, रामभद्र की श्रीमती अप्पा देवी, भोजदेव की श्रीमती चन्द्रभट्टारिका, महेन्द्रपाल देव की महादेवी एवं विनायक पालदेव की श्रीमती देवव्वाहि आदि रानियों / पत्नियों का उल्लेख मिलता है। वि०सं० 1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति[18] में महालक्ष्मी नामक रानी का उल्लेख मिलता है जिससे अल्लट उत्पन्न हुआ था। वि०सं० 1013 के ओसियों के महावीर मन्दिर अभिलेख[19] में जिन्दक वैश्य की पत्नी चदुहवरा का उल्लेख मिलता है। वि०सं० 1053 के हस्तिकुण्डी के धवल के बीजापुर अभिलेख[20] में हरिवर्मा एवं उसकी पत्नी रुचि का उल्लेख मिलता है। वि०सं० 1056 के चच्चदेव किणसरिया अभिलेख[21] में दधीचिक वंशीय मेघनाथ की पत्नी मसाटा एवं वैरिसिंह की पत्नी दुन्दा का उल्लेख मिलता है।

विवाह

भारत में विवाह को वैदिककाल से ही पवित्र एवं धार्मिक संस्कार माना जाता रहा है। अविवाहित पुरूष को अपूर्ण एवं अधार्मिक माना जाता था। विवाह से पूर्व कन्याएँ अपने माता-पिता के संरक्षण में रहती थी परन्तु विवाहोपरान्त पति ही उनका स्वामी तथा पतिगृह ही उनका वास रहता था। विवेच्यकालीन अभिलेखों में कन्या के विवाह की वय का उल्लेख नहीं मिलता है। धर्मसूत्रों में कन्या के रजस्वला होने से पूर्व विवाह का विधान मिलता है। मनु ने तो श्रेष्ठ, सुन्दर एवं योग्य वर मिलने पर अल्पायु की कन्या के भी विवाह का उल्लेख किया है।[22] गौतम के अनुसार युवती होने से पूर्व कन्या का विवाह कर देना चाहिये।[23] इस प्रकार प्राचीन काल में धर्मशास्त्रों के विधानानुसार बाल्यकाल में कन्या के विवाह का विधान था किन्तु यह सामान्य नियम नहीं था। विवेच्ययुगीन अभिलेखों में अल्प वय की कन्याओं के विवाह का उल्लेख नहीं मिलता है। अभिलेखों में आये वर्णन से ऐसा संकेत मिलता है कि कन्याओं के विवाह युवती होने पर ही किये जाते होंगे। चाटसू अभिलेख[24] में गुहिल वंशीय बालादित्य द्वारा चौहान वंश के शिवराज की पुत्री रट्टवा के साथ विवाह का उल्लेख है। लेख में रट्टवा को सुन्दररूप, सरलता एवं युवावस्था से युक्त बताया गया है।

इसी प्रकार वि0सं0 1012 के बयाना अभिलेख[25] में उल्लेखित चित्रलेखा भी विवाह के समय युवती ही थी। चौहान नरेश अर्णोराज की पुत्री जल्हणा विवाह के नमय लगभग 18 वर्ष की थी।[26] विवाह मुख्यरूप से अपनी जाति में ही किये जाते थे किन्तु अन्तर्जातीय विवाह विशेषकर अनुलोम विवाह (उच्च वर्ण का पुरूष एवं निम्न वर्ण की स्त्री) का भी प्रचलन था। बाउक के जोधपुर अभिलेख[27] में हरिश्चन्द्र की ब्राह्मण पत्नी के अतिरिक्त भद्रा नामक पत्नी का भी उल्लेख मिलता है जो क्षत्रिया थी।

ब्राह्मण कवि राजशेखर का विवाह चाहमान कन्या अवन्ति सुन्दरी के साथ हुआ।[28] इसी प्रकार नाडौल के चाहमान राज्य के संस्थापक लक्ष्मण की एक वैश्य रानी का भी उल्लेख मिलता है।[29] इसी प्रकार वि०सं० 1034 के आहाड़ के शक्तिकुमार के लेख में हूण राजा की पुत्री हरियादेवी का उल्लेख मिलता है, जिसका विवाह गुहिल नरेश अल्लट से हुआ था।[30] इस प्रकार के विवाह व्यवहार में कम ही थे। अभिलेखों में एक राजपूत परिवार के अन्य राजपूत परिवारों के विवाह के पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ वि०सं० 894 के जोधपुर से प्राप्त बाउक के लेख में कक्क की रानी पद्मिनी का उल्लेख है जो भट्टि वंश की थी। चाटसू अभिलेख में गुहिल की पत्नी रज्जा

परमार वंशीय तथा बालादित्य की पत्नी रट्टवा चौहान वंशीय थी। वि०सं० 1012 के बयाना अभिलेख में उल्लेखित चित्रलेखा की माता यशकरी परमार वंशीय थी। वि0सं0 1034 के शक्तिकुमार के आहाड़ लेख में अल्लट की माता महालक्ष्मी राठौड़ वंशीय थी। वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा सम्बन्धों को आपस में दृढ़ करने के उल्लेख भी हमें प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ चाहमान नरेश गूवक द्वितीय ने कान्यकुब्ज नरेश (सम्भवतः भोज प्रथम) से अपनी बहिन कलावती का विवाह कर चौहान-प्रतिहार सम्बन्धों को दृढ़ता प्रदान की गई थी।[31] वि०सं० 1226 के बिझोली अभिलेख[32] में चाहमान नरेश विग्रहराज तृतीय के साथ परमार नरेश उदयादित्य की पुत्री राजदेवी का विवाह का उल्लेख भी चाहमान- परमार सम्बन्धों को दृढ़ बनाने के लिए किया गया था।

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों के अनुशीलन से विदित होता है कि समाज में एक विवाह का प्रचलन था किन्तु राजपरिवारों मे बहुपत्नीत्व प्रथा के प्रचलन के भी प्रमाण अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। सामन्त, अन्य पदाधिकारियों एवं समाज के धनाढ्य वर्ग ने भी इस क्षेत्र में राजपरिवारों का अनुकरण किया। वि०सं० 894 के जोधपुर से प्राप्त बाउक के अभिलेख में प्रतिहार वंश के आदि पुरुष हरिश्चन्द्र की दो पत्नियों का उल्लेख मिलता है।[33] इसी अभिलेख में प्रतिहार नरेश कक्क की रानी दुर्लभ देवी का उल्लेख है जबकि वि०सं० 918 के घटियाला अभिलेख में कक्क की रानी का नाम पद्मिनी बताया गया है।[34] दोनों अभिलेखों में अलग-अलग रानियों के उल्लेख से यह संकेत मिलता है कि उसके दो रानियाँ रही होंगी। वि०सं० 1189 के बस्सी (नागौर) गांव से प्राप्त स्तम्भ लेख[35] में चौहान नरेश अजयपाल की तीन रानियों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार गोठ मांगलोद से प्राप्त 12वीं शताब्दी के दाहिमा क्षत्रिय स्मारक अभिलेख में क्षत्रिय रामसिंह की सात पत्नियों का उल्लेख मिलता है।[36] झाडोली के जैन मन्दिर से प्राप्त 12वीं शताब्दी के लेखों में परमार राजा धारावर्ष की दो रानियों-गीगा देवी एवं श्रृंगारदेवी का उल्लेख मिलता है। ये दोनों ही रानियां नाडौल के चौहान नरेश केल्हणदेव की पुत्रियाँ थीं।[37] चौहान नरेश रायपाल की भी दो रानियाँ पदमलादेवी एवं मानलदेवी थीं।[38] पृथ्वीराज तृतीय की भी अनेक रानियों का उल्लेख मिलता है।[39] तत्कालीन समय में स्वंयवर के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। पृथ्वीराज विजय में गूवक द्वितीय की बहिन कलावती द्वारा उसके चहेते 12 अन्य शासकों में से कन्नौज के राजा को वरण करने का उल्लेख मिलता है।[40] इसी प्रकार नाडोल के महेन्द्र की बहिन दुर्लभ देवी द्वारा स्वंयवर में पति वरण करने का भी उल्लेख मिलता है।[41] पृथ्वीराजरासो के अनुसार जयचन्द गहड़वाल ने

अपनी पुत्री संयोगिता के लिए उचित वर के लिए स्वयंवर आयोजित किया था। हमारे अध्ययनकालीन किसी भी अभिलेख मे स्वयंवर का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

राजपरिवारों के अन्तःपुर में रानियों को पर्याप्त सम्मान प्राप्त था तथा कतिपय रानियों का पर्याप्त प्रभाव था। वि0सं0 1003 के प्रतापगढ़ अभिलेख में उल्लेखित सभी रानियों के नाम के पूर्व सम्मानसूचक 'श्रीमती' शब्द का उल्लेख मिलता है।[42] चाटसू अभिलेख में बालादित्य की रानी रट्टवा द्वारा अपनी अन्य सोतों (उपपत्नियों) के सौभाग्य को जीतकर बालादित्य के हृदय में विशेष स्थान बनाने का उल्लेख मिलता है[43] संम्भवतः रट्टवा के इस विशिष्ट स्थान के कारण बालादित्य ने रट्टवा के परलोक गमन के बाद उसके प्रति स्नेह एवं कल्याण के निमित्त विष्णु के एक मन्दिर का भी निर्माण करवाया। चाहमान नरेश अजयराज की रानी सोमलदेवी का भी पर्याप्त प्रभाव था जिसकी पुष्टि उसके सिक्कों से होती है।[44] इसी प्रकार चन्दनराज की रानी रूद्राणी का भी पर्याप्त प्रभाव था जो अपनी यौगिक प्रतिभाओं के कारण आत्मप्रभा के नाम से प्रसिद्ध थी तथा पुष्कर में अपने आराध्यदेव महादेव के सम्मुख प्रतिदिन एक हजार दीपक जलाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[45] पृथ्वीराज विजय से विदित होता है कि पृथ्वीराज (तृतीय) के पिता सोमेश्वर की अल्पायु में मृत्यु हो जाने के कारण पृथ्वीराज (तृतीय) की माता कर्पूरदेवी द्वारा कुछ समय के लिए संरक्षिका के रूप में शासन करने का उल्लेख मिलता है।[46] अभिलेखों में भी प्रमुख स्त्रियों अथवा रानियों द्वारा शासन व्यवस्था में भाग लेने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वि0सं0 1057 के हस्तिमाता मन्दिर (उदयपुर) शिलालेख में चौलुक्यकुलीन सोडढक की पुत्री जो किसी राजा (राजा का नाम खंडित) की प्रिया थी, को राजकाज में चतुर बताया गया है।[47] वि०सं० 1178 के किष्किन्धा (केकीन्द) से प्राप्त पिप्पलराज के लेख में श्री राणक (गुहिल) पिप्पलराज एवं श्री राहामुसकदेवी के संयुक्त शासन का उल्लेख मिलता है।[48] वि०सं० 1200 के अश्वक के बाली (जिला पाली) पाषाण अभिलेख में बाली गाँव को रानी त्रिहुणक देवी के ग्रास या भुक्ति (उपभोग) में बताया गया है।[49] इसी प्रकार वि०सं० 1236 के सांडेराव (पाली) से प्राप्त लेख में रानी जाल्हण देवी के भुक्ति के गांव सांडेराव का उल्लेख मिलता है।[50] उपरोक्त सभी उल्लेख राजपरिवार की स्त्रियों के प्रशासनिक प्रभाव की ओर संकेत करते हैं।

अध्ययनकालीन अभिलेखों से विदित होता है कि राजपरिवार तथा धनाढ्य वर्ग की स्त्रियों परिवार एवं स्वयं के कल्याण के निमित्त धार्मिक, लोकोपकारी एवं दानादि कर्मों में विशेष रुचि रखती थीं। वे देवालयों, बावडियों, कूप तथा सरोवर आदि का निर्माण करवाती थीं जिससे एक ओर

जहाँ धर्म की सिद्धि होती वहीं दूसरी ओर सामाजिक हित का सम्पादन भी होता था। वि०सं० 718 के कुण्डेश्वर मन्दिर (उदयपुर) शिलालेख में गुहिल अपराजित के सेनापति बराहसिंह की पत्नी यशोमती द्वारा लक्ष्मी, यौवन तथा धन को क्षणिक मानकर संसार रूपी सागर को पार करने के लिए पोताकर (जहाजरूपी) कैटभरिपु (विष्णु) का मन्दिर बनवाने का उल्लेख मिलता है।[51] वि०सं० 872 के बुचकला (जोधपुर) अभिलेख में धंड्गक ग्राम में रानी जायावली द्वारा पुनरपि जन्मं पुनरपि मरणम् के दुःख का हरण करने के लिए 'परमेश्वर' का मन्दिर बनवाने का उल्लेख मिलता है।[52] इसी प्रकार बसन्तगढ (सिरोही) से प्राप्त वि0सं0 1099 की लाणबावड़ी प्रशस्ति में पूर्णपाल की विधवा अनुजा लाहिनी द्वारा सूर्य मन्दिर के जीर्णोद्धार तथा बटपुर (वशिष्ठपुर) में एक बावड़ी के निर्माण का उल्लेख मिलता हैं।[53] किराटकूप (किराडू) के सोमेश्वर मन्दिर से प्राप्त वि0सं0 1235 के अभिलेख में सामन्त मदन ब्रह्मदेव के पुत्र तेजपाल की पत्नी अनुपमा द्वारा तुरुष्कों द्वारा खंडित शिव मूर्ति पुनः निर्मित करवाकर स्थापित करवाने का उल्लेख मिलता है।[54] सिरोही के जैन मन्दिर से प्राप्त वि०सं० 1255 एवं बावड़ी से प्राप्त वि०सं० 1242 के लेख में धारावर्ष की रानी श्रृगांर देवी एवं पटरानी गीगादेवी द्वारा एक बावड़ी बनवाकर शान्तिनाथ के मन्दिर को भेंट करने का उल्लेख मिलता है।[55] अभिलेखों में राजपरिवार की महिलाओं के अतिरिक्त समाज के धनाढ्य एवं प्रभावशाली लोगों की महिलाओं द्वारा भी धार्मिक अनुष्ठानों का आयोजन करने एवं विभिन्न अनुदान प्रदान करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वि0सं0 1219 के लाडनू से प्राप्त लेख में श्रेष्ठी सर्वदेव की पत्नी विद्यादेवी द्वारा कल्याण के निमित्त तोरण निर्मित करवाने का उल्लेख मिलता है।[56] वि0सं0 1226 के लाडनू से प्राप्त ऋषभदेव की धातु प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख में माथुर संघ के आचार्य श्री अनन्त कीर्ति के भक्त श्रेष्ठी बहुदेव के तीन पुत्रों में से दामोदर की पत्नी शान्तिका एवं पुत्री जत्नी ने कल्याण के निमित्त 'जिन बिम्बों की शोभना करवाने का उल्लेख मिलता है।[57] वि०सं० 1237 के जूना (बाड़मेर) से प्राप्त अभिलेख मे उकेसगच्छ की सत्यशीला, क्षमागुणवती एवं विनयशील शिष्या सर्वदेवा द्वारा जन सामान्य के कल्याण के निमित्त सच्चिका माता की प्रतिमा का निर्माण करवाने का उल्लेख मिलता है।[58] इसी प्रकार ओसियाँ के महावीर मन्दिर से प्राप्त वि0सं0 1245 के स्तम्भ लेख में पाल्हिया श्री धीय देवचन्द्र वधु यशोधरा भार्या नामक श्राविका द्वारा आत्म कल्याण के निमित्त महावीर रथशाला के लिए अपना घर भेंट करने का उल्लेख मिलता है।[59]

रानियों, राजकुमारियों एवं अन्य महिलाओं के द्वारा जहाँ कूप, बावडी, मन्दिर निर्माण एवं दानादि का उल्लेख मिलता है वहीं अभिलेखों में कतिपय ऐसी राजाज्ञायें भी प्राप्त होती हैं जिनसे प्राणीमात्र के प्रति दया एवं पर्यावरण के प्रति सजगता परिलक्षित होती हैं। जहाँ प्राचीन राजस्थान में गायों के संरक्षण हेतु अपनी जान गंवाने वाले अनेकशः उदाहरण प्राप्त होते हैं वहीं ई० सन् 12वीं शताब्दी के महाराजा पूतनपक्ष देव एवं रानी गिरिजादेवी के रतनपुर अभिलेख में रानी गिरिजादेवी ने पशुवध निषेध की राजाज्ञा जारी की।[60] राजाज्ञानुसार एकादशी, चतुर्दशी, अमावस्या एवं अन्य श्रेष्ठ तिथियों को जीव हिंसा का निषेध किया गया तथा राजाज्ञा का उल्लंघन करने वाले पर चार द्रम्म दण्ड निर्धारित किया गया साथ ही उक्त श्रेष्ठ तिथियों में जीवों को छोड़ने के उपलक्ष्य में 'भू सहाय" के रूप में धर्मशासन पूर्वक भूमिदान भी देने का उल्लेख मिलता हैं। प्राचीन राजस्थान में पशु संरक्षणार्थ रानी की यह राजाज्ञा अनुपम एवं वर्तमान काल में प्रासंगिक एवं अनुकरणीय है।

माता के रूप में :-

प्रारम्भ से अद्यतन भारतीय संस्कृति में स्त्री का मातृरूप वंदनीय रहा है। राजस्थान भी इसका अपवाद नही हैं। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि समाज में माता का स्थान गौरवपूर्ण था। भारत में अधिकांशतया पुत्र एवं पुत्री के नाम को पिता के नाम से जाना जाता है जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था का एक अंग है किन्तु राजस्थान से प्राप्त एक अभिलेख में पुत्र के नाम को माता के नाम के साथ जोड़ा गया है। उदाहरणार्थ ई०पूर्व द्वितीय-प्रथम शताब्दी के नगरी (चित्तौड़) से प्राप्त लेख में पाराशरी के पुत्र भागवत राजा सर्वतात का उल्लेख मिलता है।[61] पाराशरी, सर्वतांत की माता प्रतीत होती हैं। वि0सं0 1010 की सारणेश्वर (उदयपुर) प्रशस्ति में अल्लट की माता रानी महालक्ष्मी का उल्लेख मिलता है।[62] पिता के नाम के स्थान पर माता के नाम का होना इस तथ्य का प्रतीक है कि तत्कालीन समाज में माता का स्थान परम आदरणीय था। अभिलेखों में माता-पिता के कल्याण, धर्म की वृद्धि एवं पुण्यार्जन हेतु दान दिये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ई० सन् 5वीं शताब्दी के एक लेख में औलिंकर वंशीय महाराज गौरी द्वारा अपनी दिवंगत माता हरिशूरा की पुण्य स्मृति में जलाशय, कूप तथा धर्मशालाओं के निर्माण का उल्लेख मिलता है।[63] हर्ष सं0 201 (ई0सन् 807) के खण्डेला अभिलेख में आदित्यनाग द्वारा अपने माता-पिता (नागजा एवं वोद्द) एवं स्वंय के पुण्य के निमित्त मन्दिर बनवाने का उल्लेख मिलता है।[64] इसी प्रकार वि०सं० 1145 के लाडनू के शांतिनाथ मन्दिर के प्रतिमा लेख में

सुरपाल द्वारा अपने माता-पिता तथा स्वयं के कल्याण के निमित्त देव प्रतिमा बनवाकर स्थापित करवाने का उल्लेख मिलता है।[65] वि०सं० 1003 के प्रतापगढ़ अभिलेख में माता-पिता के पुण्य, कर्म एवं यश की अभिवृद्धि के लिए ग्राम दान का उल्लेख मिलता है।[66] वि0सं0 1016 के राजोरगढ़ (अलवर) से प्राप्त मथनदेव के ताम्र पत्र में मथनदेव द्वारा अपनी माता लच्छुका के नाम से स्वयं एवं पितृगणों के कल्याण के निमित्त लच्छुकेश्वर महादेव के मन्दिर हेतु ग्राम दान का उल्लेख मिलता है।[67] उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि राजस्थान में माता का स्थान अग्रगण्य था।

स्त्री शिक्षा

जीवन के समस्त पहलुओं के सर्वांगीण विकास का माध्यम शिक्षा है। भारतीय संस्कृति के वैदिक काल की ओर दृष्टिपात करने पर शिक्षा के क्षेत्र में नारी की स्थिति को शिखर पर माना जा सकता है। वह पुरुषों की भांति बिना भेदभाव के शिक्षा प्राप्त करती थी तथा बुद्धि एवं ज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी थी। वैदिक काल के बाद स्त्री शिक्षा की स्थिति में एक परिवर्तन दर्शित होता है। वे शिक्षा की अधिकारिणी तो बनी रहीं किन्तु वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन का उनको अधिकार नहीं रहा। धीरे-धीरे उनके उपनयन का महत्व समाप्त होने लगा। मनु के समय स्त्रियों के उपनयन का केवल औपचारिक महत्व रह गया। इस समय बालिकाओं के उपनयन में वैदिक मंत्रों के वाचन को प्रतिबंधित कर दिया गया तथा स्त्रियों के विवाह को ही उनका उपनयन मान लिया गया।[68] मनु के परवर्ती स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने स्त्रियों के लिए उपनयन संस्कार का सर्वथा निषेध कर दिया।[69] उपनयन के अभाव में वह वैदिक शिक्षा की अधिकारिणी न रही तथा उसे शूद्रसम मान लिया गया।[70] तथापि प्राचीन भारतीय संस्कृत एवं बौद्ध साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजपरिवार तथा समाज के धनाढ्य वर्ग की स्त्रियों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाता था। उनकी शिक्षा में संगीत, गायन, वादन, नृत्य और चित्रकला आदि विषय सम्मिलित थे। बाण ने लिखा है कि राज्यश्री को बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा देने के लिए दिवाकर मित्र को नियुक्त किया गया था। बहुत सी स्त्रियाँ बौद्ध भिक्षुणियों भी होती थीं जो निश्चय ही बौद्ध सिद्धान्तों से भी भलीभांति परिचित रही होंगी। शंकराचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने वाली मंडन मिश्र की प्रकाण्ड विदुषी पत्नी के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसने शंकराचार्य को भी निरुत्तर कर दिया था। प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल एवं उसके पुत्र महीपाल के राजकवि राजशेखर की पत्नी चाहमान राजकुमारी अवन्ति सुन्दरी बहुत विदुषी तथा काव्य रचना में निपुण थी।[71] स्त्री शिक्षा के विषय में राजशेखर ने लिखा है कि पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी कवि हों। संस्कार तो आत्मा में होता है. वह स्त्री या पुरुष

के भेद की अपेक्षा नहीं करता। राजाओं और मंत्रियों की पुत्रियाँ, वेश्यायें, कौतुकियों की स्त्रियाँ, शास्त्रों में निष्णात बुद्धि वाली और कवयित्री देखी जाती हैं।[72] इस समय की अनेक संस्कृत कवियत्रियों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनमें इन्दुलेखा, मारूला, मोरिका, विज्जिका, शीला, सुभद्रा, पद्यश्री, मदालसा और लक्ष्मी आदि प्रमुख हैं। इस समय स्त्रियों को गणित की शिक्षा दिये जाने के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। भास्कराचार्य ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित का अध्ययन कराने के लिये 'लीलावती' नामक ग्रन्थ की रचना की।[73] चाहमान नरेश चन्दनराज की रानी रूद्राणी अथवा आत्मप्रभा एक 'योगिनी' के रूप में प्रसिद्ध थी।[74*] राजशेखर ने काव्यमीमांसा में शीला भट्टारिका का उल्लेख एक विदुषी महिला के रूप में किया है। पृथ्वीराज विजय में चाहमान नरेश गूवक द्वितीय की बहिन कलावती को 64 कलाओं में निष्णात बताया गया है।[75]

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में राजकुमारियों तथा धनाढ्य वर्ग की पुत्रियों की शिक्षा के पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते हैं। वि0सं0 1012 के बयाना अभिलेख में चित्रलेखा को शास्त्रों का ज्ञाता कहा गया है।[76] वि0सं0 1057 के हस्तिमाता मन्दिर (उदयपुर) शिलालेख में चौलुक्य कुल में उत्पन्न सोडढक की पुत्री जो राजा (नाम खीण्डत) की प्रिया (रानी) थी को राजकाज के चातुर्य एवं क्षमता को देखकर राजा द्वारा उसे प्रोत्साहन देने का उल्लेख है।[77] निश्चय ही सोडढक की यह पुत्री शिक्षित रही होगी। वि०सं० 1219 के लाडनूं के दिगम्बर जैन मन्दिर की सरस्वती प्रतिमा के पाद लेख में श्रेष्ठी बहुदेव की पत्नी आशा देवी द्वारा कुटुम्ब सहित विद्या की देवी सरस्वती को प्रणाम करने का उल्लेख मिलता है।[78] इस उल्लेख को स्त्री के शिक्षा के प्रति श्रद्धा एव जागरूकता का प्रतीक माना जा सकता हैं। अभिलेखों में यद्यपि सामान्य परिवार की स्त्रियों की शिक्षा का उल्लेख नहीं मिलता तदपि कतिपय उदाहरण इस तथ्य के पोषक हैं कि साधारण महिलायें भी अपनी कलाओं का प्रदर्शन कर आजीविका अर्जन करती थीं। वि०सं०1205 के अल्हणदेव के खण्डित ताम्रपत्र (नाडौल)[79] से विदित होता है कि नृत्य कला स्त्रियों की आजीविका का माध्यम भी थी। लेख में विलासिनी पद्मावती की पुत्री वजिला को नृत्यकला में निपुण बताया गया है जिसे अन्य नर्तकियों के साथ दान का 16 वाँ भाग दिया गया।

विधवा

हिन्दू समाज में पति की मृत्यु के बाद दो मुख्य कर्तव्य निर्देशित थे,जिनमें से किसी एक का अनुसरण करना विधवा के लिये वांछनीय था। प्रथम पति के साथ सहमरण या अनुमरण (सती), द्वितीय ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये शेष जीवन व्ययीत करना। शास्त्रकारों ने ऐसी

व्यवस्था इस लिये की ताकि विधवा का चरित्र एवं आचरण शुद्ध रह सके तथा समाज का नैतिक और सामाजिक स्तर श्रेष्ठ बना रहे। हमारे अध्ययन कालीन अभिलेखों में विधवा के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वि०सं० 1013 के ओसियाँ के महावीर मंदिर अभिलेख में वैश्य जिन्दक एवं उसकी पत्नी चदुहवरा के धर्मानुरागी पुत्र की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी द्वारा दुर्गा प्रतिमा की प्रतिष्ठा का उल्लेख मिलता है।[80] इसी प्रकार वि०सं० 1099 की बसन्तगढ लाणबावड़ी प्रशस्ति में परमार नरेश पूर्णपाल की अनुजा लाहिनी का उल्लेख मिलता है जो विधवा होने पर अपने भ्राता के यहाँ रह कर मंदिरों के जीर्णोद्धार एवं एक बावड़ी का निर्माण करवाती है।[81] पत्नी की मृत्यु पर पति द्वारा भी मन्दिर आदि के निर्माण का उल्लेख अभिलेखों में मिलता है। चाटसू अभिलेख[82] में गुहिल नरेश बालादित्य द्वारा अपनी रानी रट्टवा की मृत्यु के बाद उसके कल्याण के निमित्त विष्णु का मन्दिर निर्मित करवाने का उल्लेख मिलता है।

विधवा दाह (सती)

विधवा के लिए द्वितीय विकल्प अपने मृतपति के साथ चिता में जलकर मर जाना था। सती शब्द की अभिव्यक्ति के लिए प्राचीन साहित्य में अन्वारोहण, सहगमन, सहमरण एवं अनुमरण शब्दों का प्रयोग हुआ है। सती का शब्दिक अर्थ उत्तम स्त्री से है जो पति-पत्नी का अटूट और अविच्छेद सम्बन्ध व्यक्त करता है किन्तु जब से पत्नी का सर्वोच्च धर्म पति की चिता पर भस्म हो जाना माना जाने लगा तभी से ऐसी स्त्री को सती कहा जाने लगा। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से विदित होता है कि उस समय इस प्रथा का अस्तित्व नहीं था। धर्मशास्त्रों में इस प्रथा के विषय में अधिक विस्तार से उल्लेख नहीं मिलते हैं। विष्णुधर्म सूत्र में विधवा स्त्री के आत्मदाह अथवा आजीवन ब्रह्मचर्य में से किसी एक विकल्प को चुनने के लिए निर्देशित किया गया है।[83] इससे स्पष्ट है कि विधवा दाह कोई अनिवार्य नियम नहीं था। पूर्व मध्यकाल के आगमन तक इस प्रथा ने समाज में अपनी जड़ें अत्यन्त दृढ़ कर ली थीं। यथार्थ में सती प्रथा इस युग में वैधव्य दुःख से त्राण पाने का साधन बन चुकी थी। नियोग प्रथा का समाज में विलोप होने तथा पातिव्रत्य की उदात्त कल्पना के कारण विधवाओं के लिए सती जैसी क्रूर प्रथा का जन्म हुआ। पी०वी० काणे की यह मान्यता है कि जब सती प्रथा ने समाज में अपनी जड़ें जमा ली तब निबन्धकारों एवं टीकाकारों ने भी इस पर बल देकर सतियों के भविष्य के लिए भविष्य में मिलने वाले पुरस्कारों की चर्चा चला दीं।[84] कुछ स्मृतिकारों ने इस धारणा का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया कि जो विधवा स्त्री अपने पति की चिता पर भस्म हो जाती है वह स्वर्ग में सुख प्राप्त करती है। यह भी विश्वास दिलाया जाने

लगा कि सती होने के पश्चात पत्नी का पति से पुनर्मिलन होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सती प्रथा के पीछे आर्थिक कारण भी रहा होगा। विधवाओं के कुछ आर्थिक अधिकार भी थे जिसमें भरण-पोषण का अधिकार तो था ही साथ ही पुत्रहीन विधवा का आजीवन भरण पोषण का भार वहन करना अथवा सम्पत्ति में से हिस्सा देना भी आवश्यक था। विधवा स्त्री को सती होने के लिए प्रेरित करने से अथवा सती हो जाने से परिवार के लोग उक्त भार से मुक्त हो सकते थे।

पूर्वमध्ययुगीन साहित्य एवं अभिलेखों में सती प्रथा के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। हर्षचरित से विदित होता है कि जब प्रभाकर वर्द्धन के जीवन की आशा समाप्त हो गई तो यशोमती निराश होकर अग्नि में कूद कर सती हो गई। हर्ष की अनुजा राज्यश्री भी सती होने के लिए तैयार थी किन्तु हर्ष ने उसे बचाया। छठीं शताब्दी के एरण लेख में भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की पत्नी के सती होने का उल्लेख मिलता है।[85] अलबेरूनी ने लिखा है कि विधवायें या तो तपस्विनी का जीवन व्यतीत करती हैं या अग्नि में जल जाती हैं। राजाओं की स्त्रियाँ यदि वे वृद्ध न हों तो सती हो जाती हैं।[86]

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में भी सती प्रथा के पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते हैं। हरविलास शारदा ने राजपूताना म्यूजियम अजमेर में सुरक्षित ई०सन् 1830 के एक हस्तलिखित ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि पोकर (पुष्कर) के खूट मन्दिर के समीप संस्कृत भाषा में एक शिलालेख उत्कीर्ण है जिसमें संवत् 106 (49ई0) में गोविन्द ब्राह्मण की पत्नी जो व्यास विक्रम की पुत्री थी के सती होने का उल्लेख है।[87] यह लेख न केवल राजस्थान से प्राप्त होने वाले अभिलेखों में अपितु भारत से प्राप्त होने वाले अभिलेखों में इस शिलालेख को सती का उल्लेख करने वाला प्रथम अभिलेखीय साक्ष्य भी माना जा सकता है। वि०सं० 1070 के पोकरण के बालकनाथ मन्दिर से प्राप्त स्तम्भ लेख में परमार धिंधक की पत्नी महिमा के अपने पति के साथ सहगमन (सती) का उल्लेख मिलता है।[88] वि०सं० 1189 के बस्सी स्तम्भ लेख[89] (नागौर) में चौहान नरेश अजयपाल की मृत्यु एवं उसकी तीन रानियों-सोमल देवी, (वि) ष्ठलदेवी एवं श्रीदेवी के सती होने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार मारवाड़ क्षेत्र के वि0स0 1194 के एक अन्य सती स्मारक अभिलेख[90] में खींची लक्ष्मण के पुत्र की मृत्यु एवं पुत्रवधु के सती होने का उल्लेख प्राप्त होता है। पत्नी के अतिरिक्त माता के साथ पुत्र के सती होने के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ वि०सं० 1244 के पांचोट (सांभर) के माता-सती स्मारक लेख से विदित होता है[91] कि चाहमान

राल्हा सुत (पुत्र) साहणी (साहनी) वाछराज (वत्सराज) माता गोहिलणी वीसलदेवी के साथ स्वर्ग जाने (सती होने) का उल्लेख प्राप्त होता है।

पति की मृत्यु के बाद सती होना एक अनिवार्य नियम नहीं था। ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जब पति की मृत्यु के बाद पत्नी को समझा कर सती होने से रोका गया। हर्ष ने अपनी बहिन राज्यश्री को समझा कर सती होने से रोका था। वि०सं० 1239 के अभिलेख से विदित होता है कि पृथ्वी देव की मृत्यु के बाद रानी कैलच्च देवी को समझा कर ही सती होने से रोका गया था।[92] चाहमान नरेश सोमेश्वर की मृत्यु के बाद पृथ्वीराज तृतीय की माता कर्पूरदेवी भी सती नहीं हुई थी। पूर्व में वि0सं0 1013 के महावीर मन्दिर अभिलेख में उल्लेखित वैश्य जिन्दक एवं चदुहवरा की पुत्रवधु का उल्लेख किया जा चुका है जिसने अपने पति की मृत्यु के बाद दुर्गा की प्रतिमा स्थापित करवाई थी। इसी प्रकार परमार नरेश पूर्णपाल की अनुजा लाहिनी भी विधवा होने पर अपने भाई के पास रहने लगी थी तथा मन्दिरों का जीर्णोद्धार एवं बावड़ी का निर्माण करवाया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि सती एक अनिवार्य नियम नहीं था तथा सती न होने की स्थिति में विधवायें पारिवारिक संरक्षण में रहते हुए धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करते हुए जीवन यापन करती थीं।

गणिकायें

समाज में स्त्री के विविध रूप पाये जाते हैं। स्त्री माता, पत्नी, बहिन, पुत्री तो है ही किन्तु उसके अतिरिक्त कुछ ऐसे सम्बन्ध भी हैं जो विभिन्न युगों में पुरुष ने स्त्री के साथ स्थापित किये हैं। इनमें गणिका (वेश्या), रखैल (उपपत्नी) तथा दासी प्रमुख हैं। ऋग्वेद में आकाश में कभी चमकती, कभी कड़कती और कभी छुपती हुई विद्युत की तुलना मनुष्य की गुप्तरूप से रहने वाली उपपत्नी से की गई है तथा मरूत के विद्युत से उसी प्रकार संयुक्त होने का वर्णन है जिस प्रकार पुरुष, युवती वेश्या को बाहुपाश में लेता है।[93] इन नारियों के आदर्श और मर्यादायें कुलीन नारियों के आदर्श एवं मर्यादाओं से भिन्न मर्यादेतर नारियाँ माना जाता था। समाज में वेश्याओं के दो प्रकार थे- प्रथम रूपाजीवा, द्वितीय कलाजीवा। जो वेश्याएँ अपने रूप, यौवन एवं वेश से अपनी आजीविका चलाती थी उन्हें रूपाजीवा कहा जाता था। वेश्या शब्द से इन्हीं का बोध होता था। जो वेश्याएँ अपनी कला से आजीविका चलाती थीं उन्हें गणिका कहा जाता था। समाज में इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। रखैल या उपपत्नियों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। याज्ञवक्ल्य ने रखैल स्त्रियों के दो प्रकार बताये हैं[94]- प्रथम, अवरूद्धा एवं द्वितीय भुजिष्या। अवरूद्धा स्त्री घर

में रहने वाली तथा एक पुरूष की ही उपभोग्या होती थी। भुजिष्या घर से बाहर रहने वाली स्त्री होती थी तथा यह भी एक ही पुरूष की उपभोज्या होती थी।

नगर जीवन के आमोद-प्रमोद, आनन्द-उल्लास में गणिकाओं का महत्वपूर्ण स्थान होता था। गणिकायें शिक्षित, कला और कामशास्त्र में निपुण होती थीं। इन्हें समाज में सदैव हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में गणिकाओं एवं देवदासियों का उल्लेख मिलता है। वि०सं० 682 के बसन्तगढ़ अभिलेख[95] से विदित होता है कि मन्दिर के गोष्ठिकों की सूची में बूटा नामक गणिका (देवदासी) का नाम भी सम्मिलित था। लेख में बूटा को श्रीमाता कहा गया है। वि०सं० 1099 की बसन्तगढ़ की लाणबावडी -प्रशस्ति[96] में वटपुर नगर को पुराणपाठी ब्राह्मणों, गणिकाओं एवं सैनिकों से सुशोभित बताया गया है। वि०सं० 1205 के नाडौल से प्राप्त अल्हणदेव के ताम्रपत्र[97] में विलासनी पदमावती सुता वजिला को अन्य नर्तकियों के साथ दान का 16वाँ भाग दिये जाने का उल्लेख मिलता है। नाडौल के चाहमान नरेश जोजलदेव के वि0सं0 1147 के सादड़ी एवं नाडौल अभिलेख[98] में देवयात्राओं से सम्बन्धित आदेश में देवता विशेष की यात्रा के दिन गणिकाओं को भी सुन्दर वस्त्रों एवं अलंकारों से सुसज्जित होकर उपस्थित होने का आदेश दिया गया है। वि0सं0 1237 के जूना (बाड़मेर) से प्राप्त सच्चिका देवी की प्रतिमा के लेख[99] में उपकेशगच्छ की सत्यशीला, क्षमा गुणवती सर्वदेवा नामक विनयशीला गणिनी द्वारा परकल्याण के निमित्त सच्चिका माता की प्रतिमा निर्मित करवाने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि गणिकाओं को समाज का अभिन्न अंग माना जाता था तथा राज्य एवं धनाढ्य वर्ग से इनको सम्मान प्राप्त था।

इस प्रकार विवेच्ययुगीन अभिलेखों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन राजस्थान में स्त्री की स्थिति सन्तोषप्रद थी। पुत्री के रूप में उसे माता-पिता का संरक्षण एवं स्नेह प्राप्त था साथ ही उसके आवश्यक विकास हेतु शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध किया जाता था। राजकुमारियों, रानियों एवं धनाढ्य वर्ग की नारियों का समाज में महत्वपूर्ण स्थान था। समय-समय पर इनके द्वारा बनवाये जाने वाले कूप, जलाशय एवं मन्दिर आदि से स्पष्ट है कि स्त्रियां जनहित के कार्यों में निर्वाधरूप से धन व्यय कर सकती थीं जो उनकी आर्थिक निर्भरता का भी द्योतक है। रानी जायावली, राहमुसकदेवी, रानी सोमलदेवी, रानी जाल्हणदेवी, पृथ्वीराज तृतीय की माता कर्पूर देवी आदि के उदाहरण तत्कालीन समाज में राजनीति के क्षेत्र में स्त्री की सहभागिता के परिचायक हैं। माता के रूप में उसका महात्म्य उसकी मृत्यु के उपरान्त भी उतना ही था जितना उसके विद्यमान

रहने पर। महाराजा गौरी द्वारा अपनी माता की पुण्य स्मृति में जलाशय, कूप, नगरों एवं ग्रामों में धर्मशालाओं का निर्माण तथा महाराज श्री सावट के द्वारा स्वर्गीय माता की स्मृति में व्याघ्रवाटक ग्राम का दान इसके प्रभाव के रूप में है।

प्राचीन राजस्थान में सती प्रथा के प्रचलन से तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति दयनीय थी, ऐसा आरोपण किया जाता है। हमारी यह मान्यता है कि किसी भी प्रथा के प्रचलन के पीछे मुख्य तात्कालिक कारण होते हैं जो उन परिस्थतियों में समाज की मांग बन जाते हैं। निरन्तर बाह्य आक्रमणों, स्त्रियों के प्रति दुराचार सती प्रथा का पोषक एवं वर्धक रहा है। अतएव इस प्रथा के आधार पर यह कहना कि प्राचीन राजस्थान में स्त्रियों की स्थिति विशेषकर राजपूत काल में शोचनीय थी, अनुचित होगा। जहाँ राजनीति में उसका परामर्श स्वीकार्य रहा हो, शासन संचालन में जिसकी सहभागिता हो तथा जनहित के कार्य संचालित किये जा रहे हों वहाँ तत्कालीन परिस्थितियों की उपज एक कुप्रथा के आधार पर नारी का मूल्यांकन बेमानी होगा। यह प्रथा सर्वमान्य अथवा बाध्यकारी हो ऐसा नहीं था। अभिलेखों में विधवाओं के भी उल्लेख मिलते हैं जो अनेक पुण्यकार्यों की सम्पादिका रहीं हैं।

समाज में गणिका एवं देवदासियों का भी पर्याप्त सम्मान था। गणिका बूटा का नाम मन्दिर के गोष्ठिकों की सूची में होना, गणनी सर्वदेवा द्वारा माता की मूर्ति का निर्माण धार्मिक कृत्यों में उनकी सहभागिता का द्योतक है। मन्दिर में नर्तकी वजिला को दान का भाग एवं अन्य सहायिकाओं को पुरुषों के समान वित्त प्रदान किया जाना राजकीय संरक्षण एवं परिवर्धन का द्योतक है। गणिकायें राजकीय आय का प्रमुख स्रोत थी । अतः राज्य में इनकी स्थिति सम्मानीय थी वहीं इनको राज्य का संरक्षण भी प्राप्त था। गणिकाओं को आवश्यकतानुसार देवदण्ड कर से भी मुक्त कर दिया जाता था जो इस वर्ग के प्रति राज्य की सदाशयता का द्योतक है।

समग्ररूप से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन राजस्थान मे स्त्री की स्थिति सन्तोषप्रद थी। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में स्त्रियों का योगदान स्वीकार्य था।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद 10. 85, 46
2. पाण्डेय, राजबली, हिन्दू संस्कार , पृ. 94
3. पितृभिर्भातृभिश्चैताः, पतिभिदैवरैस्तथा। पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभि। मनुस्मृति 3.55
4. वही, 3.58
5. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, 4.6
6. दशपुत्र समाकन्या या न स्याच्छील वर्जिता। मत्स्य पुराण 154.157
7. भण्डारकर, डी०आर०, बुचकला इंशक्रिप्शन ऑफ नागभट्ट सं० 872, एपिग्रौफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ. 198-200
8. भण्डारकर, डी०आर०, 'चाटसू इंशक्रिप्शन ऑफ बालादित्य, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 12, पृ.10-17
9. बनर्जी, आर०डी०, दि बयाना इंशक्रिप्शंस ऑफ चित्रलेखा वि०सं० 1012, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 22, पृ. 120-127
10. विख्यात स्त्विह रूद्रपाल नृपतिः सद् वैद्य कार्म्मक्रमः तत्सारस्वत पुण्य भूतलपतेः प्राणप्रिया पुत्रिका.... नाम्ना देल्हणदेविकेति जगति प्रख्यात शीलाऽमला..... पंक्ति 23-24 श्रीमाली, जी०एल, राजस्थान के अभिलेख, भाग प्रथम, पृ. 149
11. फ्लीट, जे०एफ०, भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग 3, पृ. 90-95
12. कीलहर्न, एफ०, 'उदयपुर इंशक्रिप्शन ऑफ अपराजित', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 4, पृ. 29-32
13. पुरोहित, एस०के०, राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, पृ. 51-53
14. भण्डारकर, डी०आर०, बुचकला इंशक्रिप्शंस ऑफ नागभट्ट सं० 872. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृष्ठ, 198-200
15. सरकार, डी०सी०, सेलेक्ट इंशक्रिप्शंस, वाल्यूम 2, पृ. 236-241
16. श्रीमाली, जी०एल०, राजस्थान के अभिलेख, भाग प्रथम , पृ. 26
17. ओझा, जी०एच०, ओझा निबन्ध संग्रह, भाग चतुर्थ, पृ. 1-21
18. श्यामलदास, वीर विनोद, भाग प्रथम, पृष्ठ 381 एवं आगे

19. श्रीमाली, जी०एल०, पूर्व निर्दिष्ठ, पृ. 36-38
20. रामकरण, बीजापुर इंशक्रिप्शंस ऑफ धवल ऑफ हस्तिकुण्डी वि०सं० 1053,' एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम 10, पृ. 17-24
21. रामकरण, किणसरिया इंशक्रिप्शंस ऑफ दधीचिका (दहिया) चच्च वि०सं० 1056', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 12, पृ. 56-61
22. मनुस्मृति, 9.88
23. दृष्टव्य, काणे, पी०वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग प्रथम, पृ. 274
24. भण्डारकर, डी०आर०, 'चाटसू इंशक्रिप्शंस ऑफ बालादित्य', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 12, पृ. 10-17
25.बनर्जी, आर०डी०, 'दि बयाना इंशक्रिप्शन ऑफ चित्रलेखा वि०सं० 1012''. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 22, पृ. 120-127
26. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ. 2
27. मजूमदार, आर०सी०, 'जोधपुर इंशक्रिप्शन ऑफ प्रतिहार बाउक वि०सं० 894', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 18, पृ. 87-99
28. शर्मा, दशरथ, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 288
29. वही
30. शर्मा, जी०एन०, राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ. 67
31. व्यास, एस०पी०, राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 123
32 व्यास, अक्षयकीर्ति, 'बिझोली रॉक इंशक्रिप्शंस ऑफ चाहमान सोमेश्वर : वि०सं० 1226'',एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 26, पृ. 84-112
33. मजूमदार, आर०सी०, 'जोधपुर इंशक्रिप्शन ऑफ प्रतिहार बाउक : वि०सं० 894'', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 18, पृष्ठ 87-99
34. भण्डारकर, डी०आर०, 'घटियाला इंशक्रिप्शंस ऑफ कक्कुक एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ. 277-281
35. श्रीमाली, जी०एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 99
36. वही, पृ. 200
37. ओझा, जी०एच०, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 25
38. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीय, पृ. 151

39. वहीं, पृ. 291
40. शर्मा, दशरथ, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 287
41. वही
42. ओझा,जी०एच०, 'प्रतापगढ इंशक्रिप्शन ऑफ दि टाइम ऑफ (दि प्रतिहार) किंग महेन्द्रपाल II ऑफ महोदया, सं०1003",एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 14,पृ.176-188
43. भण्डारकर, डी०आर०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 12, पृ. 10-17
44. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय मुद्रायें, पृ. 175
45. त्रिगुणायत, सतीश, 'अभिलेखों के आलोक में पुष्कर, वैचारिकी, भाग 23 अंक2, पृ. 41
46. दृष्टव्य शर्मा, दशरथ, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 223
47. गहलोत, एस०एस०, राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, पृ. 172
48. श्रीमाली जी०एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 96
49. भण्डारकर, डी०आर०, 'बाली स्टोन इंशक्रिप्शन ऑफ अश्वक वि०सं० 1200", एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11, पृ. 33
50. भण्डारकर, डी०आर. 'साण्डेराव स्ओन इंशक्रिप्शन ऑफ केल्हणदेव वि०सं० 1236" एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11. पृ. 52
51. कीलहर्न, एफ, 'उदयपुर इंशक्रिप्शन ऑफ अपराजित एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 4, पृ. 29-32
52. भण्डारकर, डी०आर०, 'बुचकला इंशक्रिप्शन ऑफ नागभट्ट वि०सं० 872, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृष्ठ 198-200
53. ओझा जी०एच०, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 30
54. श्रीमाली, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 174-175
55. ओझा, जी०एच०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 25
56. श्रीमाली, जी०एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 145
57. वही, पृ. 162
58. वही, पृ. 182
59. वहीं, पृ. 196
60 श्रीमाली, जी०एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 121-122
61. भण्डारकर, डी०आर०, 'हाथीबाडा ब्राहमी इंशक्रिप्शंन एट नगरी', एपिग्रैफिया इण्डिका,

वाल्यूम 22, पृ. 198

62 श्यामलदास, वीरविनोद, भाग 1, पृ. 381 एवं आगे

63. सरकार, डी०सी०, 'टू इंशक्रिप्शन ऑफ गौरी" एपिग्रैफिया इण्डिका,वाल्यूम 30, पृ. 127

64. वही, वाल्यूम 34, पृ. 159-163

65. श्रीमाली, जी०एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 74

66. ओझा, जी०एच०, ओझा निबन्ध संग्रह, भाग 4, पृ. 1-21

67. कीलहर्न, एफ०, 'राजौर इंशक्रिप्शन ऑफ मथनदेव वि0सं0 1016", एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 3, पृ. 263-267

68. वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिक: स्मृतः। पतिसेवा गुरौ वासो गृहाथौअग्नि परिक्रिया ॥ मनुस्मृति 2.67

69. याज्ञवल्क्य स्मृति 1.13

70. अल्तेकर, ए०एस०, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ. 161

71. वर्मा, श्यामा, आचार्य राजशेखर, पृ. 17

72. ओझा, जी०एच०, मध्यकालीन संस्कृति, पृ. 57

73. वही, पृ. 57-58

74. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ. 31

75. वही, पृ. 287

76. बनर्जी, आर०डी०, पूर्व निर्दिष्ट

77. गहलोत, एस०एस०, राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, पृ. 171-173

78. श्रीमाली, जी०एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 144

79. वही, पृ. 118-121

80. वही, पृ. 36

81. ओझा, जी०एच०, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 28-32

82. भण्डारकर, डी०आर०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 12, पृ. 10-17

83. विष्णुधर्म सूत्र, 25.14

84. काणे, पी०वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग प्रथम, पृ. 350

85. फ्लीट, जे०एफ०, भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग 3, पृ. 313-314

86. अलबेरूनी वर्णित भारत, द्वितीय खण्ड, पृ. 157-158

87. शारदा हरविलास, अजमेर हिस्टोरिकल एण्ड डेस्क्रिपटिव, पृष्ठ 138, टिप्पणी- 1

88. श्रीमाली, जी०एल०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 59

89. वहीं, पृ. 99

90. वही, पृ. 100

91. वही, पृ. 195-196

92. दृष्टव्य व्यास, एस०पी०, राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 127

93. ऋग्वेद 1.167.4

94. याज्ञवल्क्य स्मृति 2.290

95. भण्डारकर, डी०आर० 'बसन्तगढ इंशक्रिप्शन ऑफ वर्मलाट', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ. 187-192

96. कीलहर्न, एफ०, 'बसन्तगढ इंशक्रिप्शन ऑफ पूर्णपाल, दि विक्रम ईयर 1099" एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ. 10-15

97. श्रीमाली, जी०एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 118-120

98. वही, पृ. 75-77

99. वही, पृ. 182

अध्याय - षष्टम्

शिक्षा, खान-पान, व्रत-उपवास, दान एवं आमोद प्रमोद

अध्याय-षष्टम्

शिक्षा, खान-पान, व्रत -उपवास, दान एवं आमोद प्रमोद

शिक्षा संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है- विद्या को ग्रहण करना । 'शिक्ष्यते विद्योपादीयतेऽनयेति शिक्षा ' अर्थात् प्राणी जिस साधन प्रणाली से ज्ञान उपार्जित करता है उसी का नाम शिक्षा है। सांसारिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति की कारक शिक्षा का प्राचीनकाल से ही महत्वपूर्ण स्थान है। महाकवि भर्तृहरि के निम्नांकित कथन से इसका महत्व अधिक स्पष्ट होता है-' साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात् पशु: पुच्छविषाण हीन: I ' अर्थात् साहित्य, संगीत, और कलाओं से विहीन व्यक्ति सींग, पूँछ से विहीन साक्षात् पशु है। मनुष्य और पशुओं की विभेदक रेखा वस्तुतः ज्ञान ही है। अतएव सम्पूर्ण जीवन का सर्वांगीण विकास सम्यक शिक्षा से ही सम्भव है। प्राचीन काल में मनुष्य जीवन को सार्थक और परिष्कृत बनाने के लिए शिक्षा के प्रमुख तत्वों यथा- गुरुशिष्य सम्बन्ध और शिक्षा के विषयों पर बल दिया जाता था।

प्राचीन समयक भारतीय शिक्षा पद्धति वत् राजस्थान में शिक्षा की दीर्घ परम्परा प्राप्त है। यह शिक्षा विशेष उद्देश्यों को लेकर दी जाती थी जिसमें न केवल आर्थिक वरन सामाजिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक तत्व प्रमुख थे । शिक्षा के आधायक विषयों का उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास कर मानवता की प्रतिष्ठा एवं परम पुरुषार्थ की प्राप्ति था। प्राचीन संस्कृत शिलालेखों में शिक्षा के स्तर का अध्ययन यहाँ हमारा मन्तव्य है । शिक्षा के स्तर का आंकलन हम गुरु -शिष्य सम्बन्ध और शिक्षा के विषय (पाठ्यक्रम) इन दो बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे -

गुरु -शिष्य सम्बन्ध [1]

अज्ञान के अंधकार को दूर कर ज्ञानालोक से जीवन को प्रकाशित करने वाले गुरू के बिना शिक्षा या ज्ञान प्राप्ति असम्भव है। बालक के प्रथम गुरू माता और पिता हैं तथा प्रथम पाठशाला घर है । बाल्यकाल से ही घर में रहकर वह सांसारिक जीवन जीने की कला एवं वंशपरम्परागत कार्यों में कौशल की शिक्षा ग्रहण करता रहा है। प्राचीन राजस्थान में बालक घर में रहते हुए पितृ विधि से कृषि, व्यापार, वाणिज्य, शिल्प एवं वास्तुकला आदि की बारीकियों को व्यावहारिक रूप से सीखते हुए उनमें दक्षता प्राप्त कर लेता था । उस समय के भित्तिचित्र, पट्टचित्र, भवन, प्रासाद,

मंदिर, विहार, स्तूप आदि उनकी दक्षता के प्रमाण हैं।

गृहशिक्षा के अतिरिक्त राजस्थान के गांवों, कस्बों तथा नगरों के निकट स्थित आश्रमों, मंदिरों, मठों, जैन उपाश्रयों, विहारों एवं स्तूपों आदि में भी धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं जीवनोपयोगी नैतिक शिक्षा निशुल्क दी जाती थी । आचार्यों और गुरुकुलों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन की व्यवस्था राजाओं और धनाढ्य व्यक्तियों द्वारा की जाती थी । एकलिंग महात्म्य में वर्णित सोम शर्मा नामक आचार्य के लिए प्रसिद्ध था कि वह अपने शिष्यों को वेदों तथा शास्त्रों में पारंगत बना देता था। ऐसे आचार्यों के निर्वाहार्थ राजा गाँव की सम्पूर्ण उपज अर्पित कर देता था जिससे निश्चिन्त होकर वे विद्या का वितरण सुपात्र शिष्यों में करते थे ।[2] प्रारम्भिक शिक्षा मुख्यतया मौखिक होती थी जिसमें पाठ को पुन : पुनः अभ्यास से कंठस्थ कराया जाता था। पढ़ने की उपेक्षा दण्डनीय थी ।[3]

यद्यपि अभिलेखों में मुख्य प्रतिपाद्य विषयों में गुरू - शिष्य सम्बन्ध अंकित नहीं है, तथापि अन्य विषयक अंकनों में गुरु शिष्य का भाव परिलक्षित है । लेखों के समग्र अध्ययन करने पर एक बात स्पष्ट है कि गुरू न केवल जन - सामान्य अपितु गणमान्य जनों ,राजा , महाराजा और प्रशासक वर्ग के द्वारा वन्दनीय एवं आदर प्राप्त था । शिक्षक निरपेक्ष भाव से बिना किसी पक्षपात के अध्ययनार्थ आए बालकों में राष्ट्र निर्माण के भावों का जनक रहा है । राष्ट्रोत्थान की धुरी होने के कारण राज्य में उसका उच्च आदर था।

प्राचीन साहित्य तथा अभिलेखों से अवगत होता है कि राज्य की ओर से शिक्षक हेतु भूमिदान की व्यवस्था थी। कुछ शासक विद्वान् ब्राह्मणों (चूंकि उस समय अध्यापन कार्य ब्राह्मण वर्ग द्वारा ही किया जाता था) को पूरा ग्राम दे देते थे, जिनको 'अग्रहार' के नाम से जाना जाता था। हर्ष संवत् 22 (628 ई.) के बांसखेड़ा [4] ताम्रपत्र में लेख है कि महाराजाधिराज श्री हर्ष ने भरद्वाज गोत्रीय बहुरिच छान्दोग्य शाखा के बालचन्द्र तथा भट्टा स्वामी को अग्रहार के रूप में दान दिया था । समीपवर्ती क्षेत्रों से विद्यार्थी भी आश्रमों में अध्ययन हेतु आते थे। गुरुओं द्वारा शिष्यों को ऐहिक तथा पारमार्थिक शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे योग्य नागरिक बनकर राष्ट्र और समाज का उत्थान कर सकें। ग्रामीण क्षेत्रों में मन्दिर बड़ी संख्या में शिक्षा के केन्द्र थे। निर्मल, आध्यात्मिक पावन वातावरण में शिक्षा प्राप्त कर शिष्यों के मन में पवित्र भावनाएँ जाग्रत् होती थीं। यह परम्परा आधुनिक युग में भी कुछ स्थलों पर देखी जा सकती है।

शिलालेखों से विदित होता है कि भारतवर्ष की भांति राजस्थानी धरा भी गुरु -शिष्य की पुनीत परम्परा से अभिषिक्त रही है । संवत् 703 के सामोली लेख[5] से ज्ञात होता है कि राजा शिलादित्य गुरूजनों को आनन्द देने वाले थे। लगभग दसवीं शताब्दी के चाटसू[6] अभिलेख से विदित होता है कि रानी रट्टवा के पुत्र श्री देवराज परम गुरू भक्त थे। प्रतिहार वंशीय राजा तात ने जीवन की असारता को देखते हुए राज्य शासन कार्य अपने अनुज को सौंप कर स्वयं ने नदी और झरनों से सुशोभित सुरम्य वातावरण से युक्त मांडव्य आश्रम में अध्यात्म का अवलम्बन किया । राजा कक्क छन्द, ,व्याकरण , तर्क , ज्योतिष शास्त्र और कलाओं के विद्वान एवं सर्व भाषाओं के ज्ञाता थे और सब बच्चों के लिए गुरू के समान आदरणीय , आचरणीय एवं वन्दनीय थे। संवत् 918 के घटियाला (जोधपुर) स्तम्भ लेख[7] में उल्लेख है कि राजा कक्कुक गुरू के प्रति पूर्ण भक्ति - भाव से परिपूर्ण थे उनके प्रति अमिट श्रद्धा एवं आदर का भाव था साथ ही अनुचित कार्य की संभावना होने पर अपने गुरुजनों से भयभीत होते थे।

चालुक्य वंशीय श्री मान् अवनिवर्मा भी मुनियों की भांति अतिशय प्रतिष्ठित थे । लेख में शैवागम परम्परा में शब्दशिव नामक गुरू काहुआ पुनः सुन्दर कर्म करने वाला ईश्वर शिव नामक शिष्य हुआ जिसकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर रानी ने ग्राम अग्रहार स्वरूप दिया ।इसी गुरू परम्परा में मुनीश्वर रुद्रशम्भु के मत्तमयूरनाथ नामक शिष्य ने अवन्ति नरेश की कलुषता को समाप्त कर उसे शिवानुयायी एवं शिवानुरक्त बनाया । इस प्रकार गुरू शिष्य की पुनीत परम्परा से राज्य सुदीर्घ काल तक प्रशस्त होता रहा है। संवत् 1030 के हर्ष[8] लेख से गुरू शिष्य के सहृदयी सहज सम्बन्धों का बोध होता है। लेख में उल्लेख है कि पञ्चार्थल वंश में औतरेश्वर पण्डित श्रीमान विश्वरूप नामक प्रकाण्ड गुरु हुए उनका प्रशस्त नामक शिवभक्त एवं पुण्यवान् शिष्य हुआ जिसने गुरू से दीक्षा लेकर वासना तथा अज्ञान रूपी मल का नाश कर ज्ञान के आलोक से स्वयं को और जग को आलोकित किया। उस प्रशस्त नामक शिष्य का गुरुभक्त वार्गटिका वंशीय द्विनामतोल्लट नामक शिष्य था। राणपल्ली (राणोली) के सांसारिक कुल से निसृत जन्मतः ब्रह्मचारी, संसार के मोह को त्यागने वाला, दिशाओं के समान निर्मल वस्त्रधारी, संयमी एवं तपस्वी अल्लट नामक गुरू थे जिनका नैष्ठिक स्वरूप पाशुपत व्रत से दीपित तीव्र तपस्या से पवित्र भावद्योत नामक शिष्य था जिसने अपने शुभचरितों से गुरू के चरित्र को प्रकाशित किया । वह गुरू की आज्ञा से प्राप्त समस्त कार्यों का कर्ता था । जीवों के प्रति दयालुता के कारण उसने जन कल्याणार्थ कुआ, वाटिका, गायों के पानी पीने के लिए प्याऊ का निर्माण करवाया था। संवत् 1053

के हस्तिकुण्डी[9] के लेख से ज्ञात होता है कि विदग्धराज का वासुदेव नामक गुरू एवं उपदेशक था जिसने राजकुमार को धार्मिक शिक्षा प्रदान की और हथूण्डी में एक जैन मन्दिर बनवाने के लिए कहा था। राजकुमार की धार्मिक शिक्षा के पूर्ण होने के उपरान्त उसके भारतुल्य स्वर्ण तोलकर उसका 2 / 3 भाग जिन मंदिर एवं शेष भाग गुरू वासुदेव को समर्पित किया गया था। 'सूरि' वासुदेव के गुरू और विदग्धराज के धर्मोपदेशक गुरू थे। ऋषभनाथ जैन मंदिर का निर्माण विदग्धराज ने अपने गुरू बालभद्र के लिए किया था तथा विदग्धराज ने अपने भार के तुल्य स्वर्ण तुलवाकर मंदिर को भेंट किया था। गुरू भक्ति से कृतकृत्य विदग्धराज ने ज्ञान की इस परम्परा को बनाए रखने के लिए स्थायी दान का विधान किया था जिसे उनके वंशजों ने तत् निमित्त दान कार्य को आगे भी जारी रखा था । दान का 2 / 3 भाग जिन को एवं । /3 भाग गुरु बालभद्र को उनके अद्वितीय ज्ञान के विद्या धन के रूप में दिया जाता था । यह परम्परा केशवदेव सूरि की संतान को चिरकाल तक जारी रखने का प्रावधान किया था जिससे शिक्षा का निरन्तर प्रवाह होता रहे ।

यह कहना अनुचित नहीं होगा कि शिक्षा की गुरूकुल पद्धति में गुरु और शिष्य का साक्षात् अहर्निश सम्पर्क बना रहता है किन्तु आज यह आंशिक रूप से ही व्यवहृत है । मेरा यह मानना है कि राष्ट्र के अभ्युदय हेतु धीरे -धीरे प्राचीन शिक्षण की ओर लौटना चाहिए जहाँ सभी छात्र समान रूप से शिक्षा प्राप्त करें एवं एक दूसरे के वैभव से स्वयं को हीन नहीं समझें । भारतवर्ष का उद्धार पाश्चात्य पद्धतियों के अन्धानुकरण से नहीं अपितु अपनी प्राचीन संस्थाओं के उदात्त गुणों को पुनः आत्मसात करने से सम्भव है। आज प्राचीन गुरु - शिष्य सम्बन्ध को पुनः दृढ़ भूमि पर स्थापित करने की आवश्यकता है।

शिक्षण केन्द्र एवं अध्ययन के विषय

प्राचीन राजस्थान में गुरुकुल, मठ - मंदिर, विहारों के अतिरिक्त अध्ययन स्थलों में चित्तौड़, भिन्नमाल (भीनमाल), अजमेर, जालौर, आबू, चन्द्रावती, भडानक (बयाना), मालवनगर और चाटसू आदि नगर विद्या के प्रमुख केन्द्र थे जहाँ विद्या के प्रचार -प्रसार को बढ़ावा मिलता था । ये विद्या के केन्द्र जिनभट्ट, हरिभद्र, रोलाचार्य, जिनवल्लभ सूरि, ब्रह्मदत्त जैसे ज्योतिषाचार्य और माघ जैसे उद्भट कवि जनों से विभूषित थे। इनमें सभाऐं, व्याख्यान, वार्तालाप के माध्यम से लौकिक पारलौकिक विषयों की ग्रंथियां सुलझाई जाती थी। संवत्1013 के ओसियाँ महावीर मंदिर से प्राप्त लेख[10] से विदित होता है कि उपकेशपुर नगर के तपनेश्वर मंदिर

के भवन में धर्म की विविध शाखा - प्रशाखाओं पर प्रवचन होते रहते थे। संवत्1028 की नाथ प्रशस्ति[11] से भी इस बात की पुष्टि होती है कि लुकुली वेश्म में वैदिक याज्ञिकों के द्वारा जैन एवं बुद्ध के गर्वों का भेदन करने वाले वज्र के समान आघात करने वाले विविध वाद - विवाद निरन्तर चलते रहते थे। वहाँ के प्रसिद्ध श्रीमान वेदाङ्ग मुनि प्रतिपक्षियों के कार्यों को तर्क वितर्क से ध्वस्त कर देते थे।[12] राजस्थान में सभा एवं गोष्ठियों के आयोजन भी होते थे, जिनका उल्लेख पृथ्वीराज विजय में उपलब्ध है। ऐसे आयोजनों से सम्पूर्ण समाज लाभान्वित होता था और संस्कृति के महत्वपूर्ण अंगों से साधारण जन -समाज अवगत होता रहता था। संवत्1024 के दियाना[13] के शान्तिनाथ मंदिर के अभिलेख में वर्धमान के सुन्दर रूप से समन्वित एक गोष्ठी गृह बनवाने उल्लेख इसका साक्ष्य है। विद्वानों के एकत्रित होने के कारण ये केन्द्र सांस्कृतिक एकता के भी संवाहक थे।

प्राचीन शिलालेखों तथा अन्य ग्रंथों से प्रतीत होता है कि विद्यारम्भ 5 वर्ष से प्रारम्भ हो जाता था और गुरु शिष्य की योग्यता, सदाचार, विनम्रता आदि के आधार पर उसका चयन करता था। विद्यारम्भ के अवसर पर देवताओं का विधिवत् पूजन, गुरु को भेंट एवं आगंतुकों को भोज की व्यवस्था होती थी ।

शिक्षा का मुख्य प्रयोजन मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा का सर्वांगीण विकास, उन्नति एवं संस्करण था। तत् प्राप्त्यर्थ शास्त्रों में 18 विद्याएं और 64 कलाएं शिक्षणीय रही हैं। 4 वेद,6 वेदाङ्ग, पुराण साहित्य, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और 4 उपवेद इन विद्याओं के भण्डार हैं-

पुराणः न्याय मीमांसा - धर्म शास्त्राङ्ग मिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥
उपवेद सहिता ह्येता विद्या ह्यष्टादश स्मृताः।[14]

पठन पाठन के विषयों में वेद, वेदाङ्ग, गणित, नाट्यशास्त्र, रामायण महाभारत, धर्मशास्त्र, दर्शन, न्याय शास्त्र, साहित्य के साथ चित्रकला, संगीत, नृत्य, चिकित्सा आदि विषयों को उचित स्थान प्राप्त था। राजकुमारों को सैन्य एवं राजनीति के साथ धार्मिक शिक्षा भी दी जाती थी। उच्च शिक्षा प्राप्त बालकों को पण्डित, आचार्य, उपाध्याय, महामहोपाध्याय आदि उपाधियाँ दी जाती थी जिनका समाज में उच्च स्थान था।[15]

संवत् 894 के बाउक लेख[16] के अनुसार प्रतिहार वंश के आदि पुरुष श्रीमान हरिश्चन्द्र वेद

और शास्त्रो में निष्णात थे। संवत् 1001 के भर्तृपट्ट के शासनकालीन आहाड़ अभिलेख[17] में आदिवराह मंदिर में सामगान करते भ्रमरों का उल्लेख इस बात का परिचायक है कि वेदों का अध्ययन और सामवेद का गायन शिक्षा में मुख्य विषय थे। लाण प्रशस्ति[18] के अनुसार वदनगर में ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि का अध्ययन होता था । वदनगर में निवास करने वाले ब्राह्मण वेद रूपी सागर को भलीभांति पार किए हुए आत्म ज्ञान से परब्रह्म के साक्षात्कार कर्ता थे। संवत्1028 की नाथप्रशस्ति[19] से वैदिक याज्ञिक शिक्षा की महत्ता स्पष्ट प्रतीत होती है लकुली वेश्म में बुद्ध और जैन के गर्व रूपी पर्वत का भेदन करने वाले श्रीमान वेदाङ्ग मुनि प्रतिपक्षियों के कार्यों के भग्न करने में समर्थ थे।प्रशस्तिकार म्राम कवि छंद एवं व्याकरण के अच्छे ज्ञाता थे ,उन्होंने सुन्दर पद विन्यास , वाक्य प्रबन्ध एवं छंदों से युक्त उत्तम काव्य का सृजन किया । प्रतिहार वंशी राजा कक्क छन्द, व्याकरण, तर्क, ज्योतिष शास्त्र और सर्व कलाविद एवं समस्त भाषाओं में कविता करते थे।[20] घटियाला स्तम्भ लेख[21] से गायन, वादन के साथ रत्न शास्त्र की शिक्षा पर भी प्रकाश पड़ता है। राजा कक्कुक को वीणा और काकली गीत के साथ - साथ सज्जनों की गोष्ठी एवं नय - शास्त्र के अनुसार आचरण प्रिय था । लेख के लेखक के दादा भट्टगणेश्वर एवं पिता भवगुप्त रत्नशास्त्र के अर्थ के ज्ञाता थे।[21] राजाओं की बुद्धि राजलक्ष्मी के वैभव से दूषित न हो इसलिए शास्त्रों का अधययन आवश्यक था जिससे उनकी निर्मल बुद्धि प्रजा कल्याण में निरत रहे । मालव संवत् 480 के गंगधार लेख[22] के राजा विश्ववर्मा शास्त्रों से शुद्ध बुद्धि वाले थे कुशल सैन्य संचालक एवं खड्ग विद्या में निपुण थे। संवत् 746 के झालरापाटन लेख में नरेन्द्र प्रमुख दुर्गगण भूत तथा समस्त आश्चर्य युक्त कलाओं का पण्डित था । प्रशस्तिकार अच्युत का पुत्र बुद्धिमान सुर्व्वर काव्य सृजन के अतिरिक्त पूर्वविज्ञान में भी चतुर था । शिवाग्राम (दौलतपुरा) से प्राप्त हर्ष संवत् 100 के प्रतिहार राजा भोजदेव के ताम्रपत्र[23] से विदित होता है कि उन्होंने पूर्वजों द्वारा प्रदत्त अग्रहार को वैदिक शाखानुयायी ऋग्वेदी अध्येयता भट्टविष्णु के वंशजों को पुनः अनुमोदित किया था । तिथि विहीन भीनमाल से प्राप्त ताम्रशासनादेश में दानप्राप्त कर्ता विप्र श्रेष्ठ संधीरण यजुर्वेद शाखानुयायी,माध्यंदिन, तैत्तिरीय, कण्वायन आदि का अध्येता था ।[24]

संवत् 1067 के क्षत्रियपद्र गाँव से प्राप्त महाराज दुर्लभराज समयक ताम्रपत्र [25]में वर्णित भीनमाल का निवासी गोविन्द पुत्र नन्नक ब्राह्मण वाजिमाध्यंदिन शाखा का अध्यायी था। वेदों के अध्ययन अध्यापन में रुचि रखने वाले विद्वानों को राजा गण उनके निर्वाहार्थ गाँव आदि दान देते रहे हैं जिससे वे निर्बाध गति से वैदिक शिक्षा का प्रचार प्रसार कर सकें। संवत्1092 के ताम्रपत्र

में उल्लेख मिलता है कि परमार चच्चुक ने वेदाध्ययन में निष्ठा वाले विप्र ईश्वरदेव के लिए महिलणक गाँव प्रदान किया था।[26] इसी प्रकार राजा पूर्णपाल ने भारद्वाज, अंगिरस, ब्राहस्पर्त्य शाखानुयायी ब्राहयण रुद्र को आखा नामक खेत दिया था ।[27]

संवत्1167 के पृथ्वीपाल के ताम्रपत्र से इस बात की पुष्टि होती है कि उस समय यज्ञ विधि विधान की शिक्षा, युद्ध कला के तहत हस्ति संचालन विद्या, अश्व संचालन विद्या , धनुष विद्या, खड्ग विद्या आदि की विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी ।[28] संवत्1176 के रत्नपाल के ताम्रपत्र[29] में उल्लेख है कि महाराज श्री पृथ्वीपाल के पुत्र रत्नपाल ने पूर्वजों द्वारा प्रदत्त गुंदकूर्चा यज्ञादि षट्कर्म, इतिहास, पुराण, रामायण, पदवाक्य (प्रमाणज्ञः) याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों, षट्दर्शन, होत्राग्निष्टोम यज्ञकर्ता, चातुर्मास्यादि यजुक्रिया में संलग्न, कल्मषग्रंथों के भेदक वेद वेदाङ्गों से विस्तीर्ण बुद्धि वाले, सुन्दर श्लोकों से युक्त प्रशंसनीय ब्राहमणों को प्रदत्त किया था। नौ परिवहन की शिक्षा भी दी जाती थी । संवत् 770 के मानमौरी लेख में उल्लिखित अवन्तीपुर के राजा भीम नाविकों को शिक्षा देने में कुशल थे।[30] संवत्1003 के प्रतापगढ़ लेख में महाराजाधिराज श्री शक्ति देव के सेना शिविरो को नौकाओं, हाथियों, घोड़ों, रथों और पदातियों से सम्पन्न बताया है ।[31]

प्राचीन काल के मंदिर, महल, बाबडी, कूप, किले आदि उस समय की स्थापत्य शिक्षा के बेजोड़ नमूने हैं। संवत्1172 के सेवाड़ी लेख [32]के अनुसार यशोदेव का पुत्र बाहड विद्वानों की सभा में विश्वकर्मा की भांति सम्मानित होता था । नाट्य, नृत्, नृत्य आदि की शिक्षा का समावेश भी प्राप्त होता है। गुहिल के पुत्र सुमन्त्रमट्ट नाट्यशास्त्र के प्रवर्तक भरतमुनि में प्रेम रखने वाले एवं नृत्यकला में दक्ष थे।[33] सोगियों का नेता सोम नर्तन कला का विशेषज्ञ था।[34] महाराजा जोजल देव द्वारा प्रचारित लक्ष्मण देव आदि की रथयात्राओं में नृत्यकारों,संगीतकारों, वाद्यकारों का उल्लेख उक्त शिक्षाओं की महत्ता का ही द्योतक है।[35] सामाज में समानता और न्याय की स्थापना हेतु नयशास्त्र (नीतिशास्त्र] और धार्मिक शिक्षा भी राजकुमारों के दी जाती थी । संवत्1056 के किणसरिया लेख में उल्लेख है कि वाक्पतिराज का पुत्र सिंहराज नय सूत्र का ज्ञाता था।[36] विदग्धराज राज के गुरु वासुदेव द्वारा राजकुमार के धार्मिक शिक्षा देने का उल्लेख हस्तिकुण्डी से प्राप्त शिलालेख में मिलता है।[37] अध्ययन कालीन शिलालेखों से स्त्री शिक्षा पर भी प्रकाश पड़ता है जिसका अध्ययन हम पूर्व में नारी की स्थिति नामक अध्याय में कर चुके हैं।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों

प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। उस समय के संस्कृत ,प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में प्राप्त प्रभूत लेख, ताम्रपत्रादि एवं माहुक का हरिमेखला (प्राकृत), माघ का शिशुपाल वध (संस्कृत), हरिभद्रसूरि की समराइच्छ कहा, धूर्ताख्यान, कथाकोश आदि, हरि भद्र के शिष्य उद्योतन सूरि की कुवलयमाला (प्राकृत), राजशेखर की काव्यमीमांसा जैसे उत्कृष्ट ग्रंथों से सिद्ध होता है कि शिक्षा का व्यापक प्रचार प्रसार था क्योंकि शिक्षा के विकास का प्रमुख मापदण्ड साहित्य सृजन है।

खान पान

भोजन मनुष्य की प्रथम और प्रमुख आवश्यकता है। आहार के बिना उसका जीवन असम्भव है। मनुष्य का भोजन भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। जिस देश की जैसी जलवायु होती है वहाँ के निवासियों का भोजना तदनुरूप होता है। हमारे देश में भौगोलिक भिन्नता के कारण एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश के आहार में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगत होता है। प्राचीनकालीन आहार को निम्नांकित बिन्दुओं में विभक्त किया जा सकता है -

1. शाकाहार
2. मांसाहार
3. पेय पदार्थ

राजस्थान की भोजन प्रणाली प्रारम्भ से ही प्राकृतिक वस्तुओं पर अवलम्बित रही है। प्रस्तरकाल से ही कन्द, मूल, फल, मांस तथा वन में उपजने वाली वस्तुओं का उपयोग भोजन के लिए होता रहा है। कृषि के ज्ञान ने उसके भोजन में यव, गेहूँ, चावल आदि को सम्मिलित कर दिया।

हमारे अध्ययन अपेक्षित शिलालेखों में भोज्य पदार्थों के प्रचुर उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं फिर भी जो उल्लेख प्राप्त होते हैं उनके आधार पर तत्कालीन खाद्य पदार्थों के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। संवत्1306 के भीनमाल से प्राप्त उदयसिंह देव के शिलालेख में गोधूम (गेहूँ), घी, मूंग, एवं चोषां (चावल) का उल्लेख है एवं इसी लेख में नैवेद्य हेतु दो सेर आटा और आठ कलश (एक माप) घी की आवश्यकता होती थी । घी एवं तेल[38] का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया जाता था । क्योंकि भोजन के अलावा मंदिरों में दीप प्रज्ज्वलनार्थ भी इनका प्रयोग किया जाता था। संवत् 1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति[39] में मंदिर के निर्वहन हेतु अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त तेल भी कर के रूप में लिया जाता था। एवमेव संवत्1053 के हस्तिकुण्डी के धवल के बीजापुर

अभिलेख[40] में ऋषभनाथ के जैन मंदिर को प्रदत्त दान में प्रत्येक घानी से एक कर्ष तेल लिए जाने का उल्लेख मिलता है।

गेहूँ, चावल, जौ, के अलावा जवहारक (ज्वार) एवं मूंग का भी वर्णन अभिलेखों में अंकित है । संवत् 1167 के सेवाड़ी लेख[41] में धर्मनाथ देव की पूजा हेतु जवहारक दान में देने का उल्लेख मिलता है। संवत् 1236 के ओसियाँ सच्चिका माता मंदिर से प्राप्त अभिलेख[42] में भोजक को दो अंजलि मूंग और एक कर्ष घी दिए जाने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार संवत् 1003 के प्रतापगढ़ लेख[43] में अनाज का दान, संवत्1181 के गिरवर के पाटनारायण मन्दिर अभिलेख[44] में धान्य एवं जौ का उल्लेख प्राप्त है। दूध एवं दूध से बने पद्वार्थों का प्रयोग भी किया जाता था । संवत्1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति में हलवाइयों की दुकानों का वर्णन है जिनसे मंदिर के लिए एक घड़िया (दूध का छोटा बर्तन) देने के लिए कहा गया है।[45] संवत् 918 के घटियाला शिलालेख[46] में गोधन एवं संवत्1143 के झालरापाटन लेख[47] में मोदक का उल्लेख प्राप्त है। संवत् 918 के घटियाला लेख[48] में इक्षुपर्णों (गन्ना) का वर्णन गुड़ एवं शक्कर के प्रयोग को सिद्ध करता है। गन्ने के अतिरिक्त शहद का भी प्रयोग तत् समय किया जाता था। संवत् 770 के मानमोरी शिलालेख में मानसरोवर तालाब के तट पर मधुमक्खियों से ढंके हुए मधुवृक्षों का वर्णन किया गया है।[49] शिलालेखों में विविध फलदार वृक्षों का उल्लेख खाद्य पदार्थों में फलों के सेवन को सिद्ध करता है। संवत्1001 के भर्तृपट्ट द्वितीय के आहाड़ प्रस्तरलेख[50] में फलयुक्त वृक्षों का वर्णन प्राप्त है। संवत् 898 के धौलपुर के चण्डमहासेन के शिलालेख[51] एवं संवत् 1063 के धनौप अभिलेख[52] में भी आम्रवृक्ष का उल्लेख मिलता है। संवत् 1067 के भीनमाल के क्षत्रियपद गाँव से प्राप्त चालुक्य दुर्लभराज समयक ताम्रपत्र में फल, मूल, शाक एवं दधि से राजकीय कर की प्राप्ति के उल्लेख मिलते हैं।[53]

शिलालेखों में विविध मसालों का अंकन इस बात का परिचायक है कि भोजन को रुचिकर बनाने के लिए विभिन्न मसालों का प्रयोग किया जाता था। संवत् 557 के चारचौमा (कोटा) के शिवमंदिर लेख[54] में हींग, प्रियंगु (केसर एवं जाफरान) का उल्लेख है। संवत् 1053 के हस्तिकुण्डी के घवल के बीजापुर अभिलेख[55] में दान स्वरूप दी गई वस्तुओं में नमक भी वर्णित है। किष्किन्धा के गुहिल नरेश कदाचि समयक (ई.सन् 8 वीं शताब्दी) के कल्याणपुर अभिलेख[56] में एला (इलायची), लवंग (लौंग), एवं भीमदेव द्वितीय के आबू अभिलेख में हींग, जायफल, जावित्री, मेथी, आँवला, हरड़, कालीमिर्च, बहेड़ा आदि मसालों के अलावा गुड़, खाण्ड, महुआ, नारियल एवं दालों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है।[57] अभिलेखों में उक्त सामग्री के उल्लेख इस बात के साक्षी हैं

कि तत्कालीन समय में मसालों के रूप में इनका प्रयोग बहुतायत से होता रहा होगा। मसालों के अलावा तत्कालीन समाज में पान का प्रयोग भी होता था। डबोक अभिलेख में ताम्बूल से रक्तिम ओष्ठों का वर्णन पान खाने के प्रचलन का सूचक है।[58] रतनपुर अभिलेख[59] एवं संवत् 1209 के किराडू अभिलेख[60] में तंबोली शब्द का उल्लेख भी पान की खेती अथवा व्यवसाय करने वालों का बोधक है। शिलालेखों में मांसाहार के भी अप्रत्यक्ष उदाहरण प्राप्त होते हैं। संवत् 1209 के अल्हणदेव के किराडू लेख में[61] माह के दोनों पक्षों की अष्टमी, एकादशी एवं चतुर्दशी तिथियों में पशुवध रोकने एवं आज्ञा का उल्लंघन करने वाले को अर्थदण्ड से दण्डित करने का अंकन तत्कालीन समाज में मांसाहार की ओर संकेत करता है । उपरोक्त आधार पर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि प्राचीन समाज में शाकाहार के साथ - साथ मांसाहार का भी प्रचलन था।

पेय पद्वार्थ

मनुष्य जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं में भोजन की भांति पेय भी आवश्यक है। पेयों में सर्वप्रथम स्थान जल का है। 'जल ही जीवन है' कहावत के अनुसार जल को जीवन का पर्यायि माना गया है। सृष्टि के प्रारम्भकाल से ही जीवधारियों के लिए जल की आवश्यकता रही है। अन्य पेय पद्वार्थों में दूध, दही, फलों एवं पौधों का रस साधारणतः सदैव प्रचलित रहा है । इनके अतिरिक्त मदिरा का सेवन भी प्रारंभ से होता रहा है।

हमारे अध्ययनसापेक्ष शिलालेखों में जल के लिए कूप, तड़ाग एवं बावड़ियों के निर्माण के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। मालव संवत्480 के गंगधार लेखानुसार मयूराक्षक ने सुस्वादु, शीतल, विशुद्ध जल वाले कुए का निर्माण करवाया था।[62] संवत्742 के मण्डोर की बावड़ी से प्राप्त लेख में मीठे एवं विपुल जलवाली वापी निर्माण का उल्लेख मिलता है।[63] संवत् 770 के चित्तौड़ के मानमोरी शिलालेख में अतल जल वाले सागर वत् तालाब के निर्माण का वर्णन मिलता है ।[64] चाटसू के लेख में गंगा जल एवं यमुना जल को सम्पूर्ण पापों का निवारक बताया है।[65] संवत् 894 के बाउक को जोधपुर लेख से विदित होता है कि शिलुक द्वारा त्रेता तीर्थ में बावडी का निर्माण करवाया गया ।[66] इसी प्रकार संवत्1030 के हर्षनाथ लेख[67] में कुआ, एवं गायों हेतु प्याऊ की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। संवत् 1053 के हस्तिकुण्डी के धवल के बीजापुर अभिलेख[68] में मंदिर हेतु एक कूप भेंट का अंकन है। संवत्1099 की लाण प्रशस्ति[69] में लाहिनी द्वारा एक सुंदर बाबड़ी के निर्माण का वर्णन है। इसी प्रकार संवत् 1102 के भडूंद लेख[70] में जनकल्याणार्थ

सोपानयुक्त कूप (बावडी) एवं संवत् 1143 के झालरापाटन लेख[71] में भी बावड़ी के निर्माण का उल्लेख मिलता है।

उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है कि जल के महत्व को देखते हुये तत्कालीन समाज में जल प्रबन्धन की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया । पूर्व में आए हलवाइयों एवं गोधन के उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में दुग्ध की गणना प्रमुख पेय पद्वार्थों में की जाती थी ।

संवत् 894 के जोधपुर अभिलेख में भद्रा से उत्पन्न प्रतिहारों को मधुपायी (शराब पीने वाले) कहा गया है।[72] इस उल्लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि सुरापान भी तत्कालीन समाज में प्रचलित था।

वस्त्राभूषण

संस्कृति की प्रगति के साथ ही वस्त्राभूषण का महत्व शरीर को आवृत्त करने एवं सजाने की दिशा में विशेष रूप से दिखायी देता है। वस्त्र - विन्यास द्वारा सुन्दर दिखने की इच्छा मानव के मन में अत्यंत प्राचीनकाल से ही रही है। सौन्दर्य की हष्टि से रंग -बिरंगे, चित्रित, रत्नजड़ित, विविध प्रकार के बेशकीमती वस्त्रों की विशेषता रही है। ऐसे वस्त्र मानव की अपनी वैभव सम्पन्नता और सुरुचि का अन्य लोगों के मन को प्रभावित करने के माध्यम भी रहे हैं। लोगों के मन में यह धारणा प्रचलित है कि स्वच्छ वस्त्र धारण करने से सौन्दर्य, यश और आयु बढ़ती है तथा सभासदों में बैठने की योग्यता विकासत होती है। मैले कुचैले फटे वस्त्र धारण नहीं करने चाहिए अपितु वस्त्रों से मनुष्य का सौन्दर्य झलकना चाहिए ।

किसी भी देश का परिधान वहाँ की जलवायु पर निर्भर करता है। भारतीय जलवायु सापेक्षतः कठोर नहीं रही है । ऐसी परिस्थिति में प्रकृति की ओर से अधिक मात्रा में वस्त्र धारण करने की आवश्यकता नहीं रही। जहाँ तक शरीर को सुसज्जित करने का सम्बन्ध है, पुराकाल से ही अभूषण प्रियता के कारण उन्हीं से शरीर का अर्धभाग आच्छादित हो जाता था फिर आभूषणों को यदि कपड़ों से ढक दिया जाए तो वह निरर्थक ही होता । अतः स्वाभाविक था कि ऐसी स्थिति में वस्त्रों को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया जा सकताथा । तथापि स्वेच्छानुसार विविध प्रकार के सुरुचिपूर्ण वस्त्र -विन्यास को लोगों ने अपनाया ।

कालीबंगा, आहाड, बैराट, रंगमहल आदि स्थलों के उत्खनन से प्राप्त सामग्री, विभिन्न खिलौनों तथा राजस्थान के विभिन्न स्थानों से प्राप्त प्रतिमाओं से वस्त्राभूषणों की जानकारी मिलती है। सूती वस्त्रों का प्रचलन अधिक था। लोग अधोवस्त्र (धोती) तथा उत्तरीय वस्त्र जो कंधे के ऊपर से होकर दाहिने हाथ के नीचे से जाता था, प्रयुक्त करते थे । स्त्रियाँ अधोभाग को ढंकने के लिए छोटी साड़ी का प्रयोग करती थीं। इसी को कटि प्रदेश में मेखला से बाँध लिया जाता था बाद में स्त्रियाँ साड़ी को कर्धनी से बाँधने लगीं और ऊपर तक सिर ढकने का प्रचलन देखने को मिलता है । वक्षस्थल को कपड़े से आवृत्त कर उसे पीठ पर गाँठ आदि लगाकर बाँधा जाता था। यक्षी प्रतिमाओं में सिर ओढ़नी से ढका हुआ मिलता है और साड़ी घुटनों तक पहनी हुयी है | पूर्व मध्यकाल में स्त्रियाँ प्रायः लहंगे का प्रयोग करने लगीं जो राजस्थान में 'घाघरा' के नाम से जाना जाता है। स्त्रियों की वेशभूषा में अलंकरण, छपाई एवं कसीदे का कार्य भी पूर्व मध्यकाल में प्रचलित हो गया था।[73]

हमारे अध्ययन सापेक्ष शिलालेखों में वस्त्र - विन्यास के उल्लेख प्राप्त नहीं हैं । मालव सं . 480 के गंगधार शिलालेख में सुन्दर परिधानों से सुसज्जित नववधु का उल्लेख प्राप्त होता है।[74] 8 वीं शताब्दी के कामां अभिलेख में 'लोल चीनांशुक ' (रेशमी वस्त्र) का अंकन किया गया है ।[75] संवत्1012 के बयाना लेख[76] में वस्त्राभूषणों से सुसज्जित प्रजा का उल्लेख एवं संवत्1028 की नाथ प्रशस्ति[77] में वृक्षों के वल्कल धारी पाशुपताचार्यों का वर्णन किया गया है। संवत्1030 के हर्षनाथ शिलालेख में विजित राजा द्वारा अन्य वस्तुओं के अलावा सुन्दर वस्त्र भी प्रदान करने का उल्लेख है।[78] इसी प्रकार संवत्1147 के जोजलदेव के सादड़ी अभिलेख में देव यात्रा मेंअतिथियों, राजकर्मचारियों, विद्वानों एवं नागरिकों को सुन्दर वस्त्र एवं अलंकृत होकर भाग लेने का आदेश दिया गया है।[79]

भारत के अन्यान्य अंचलों के समान राजस्थान का निवासी भी सौन्दर्य प्रेमी रहा है । शरीर को आकर्षक बनाने हेतु विशेष रूप से स्त्रियाँ शरीर के भिन्न -2 अंगों पर विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करती थीं। लेखों में इनका आंशिक रूप से उल्लेख प्राप्त है। चाटसू अभिलेख में स्त्रियों द्वारा मुख सज्जा का उल्लेख है तथा सुमंत्रभट्ट को केयूरादि आभूषणों से सुसज्जित बताया है।[80] । पूर्वोक्त बयाना अभिलेख मे विष्णु के शोभा विधान में अंशुक (रेशमी वस्त्र) केयूर, हार, मणि, नुपुर एवं स्वर्णवलयादि का अंकन किया है।[81] इसी प्रकार पूर्वोक्त नाथ प्रशस्ति में कायावरोहण नामक नगर के निवासी ललाट प्रदेश पर अलिक रेखा, कपोल एवं वक्षस्थल पर

पत्रभंग की रचना करते थे तथा नितम्ब प्रदेश पर मालाओं एवं मोतियों की मेखला (करधनी) धारण करते थे। इसी लेख में चन्द्रमुखी नारियों द्वारा मस्तक को पाटल पुष्पों की कलियों द्वारा सुशोभित करने का वर्णन मिलता है।[82] हर्षनाथ शिलालेख[83] में मुक्ताहार (मोतियों का हार) एवं सुन्दर वस्त्रों का और संवत् 770 के मानमोरी शिलालेख में भी मुक्ताहार का उल्लेख किया है।[84] इसी प्रकार संवत् 1057 के हस्तिमाता अभिलेख में मोतियों द्वारा अलंकरण का वर्णन मिलता है।[85]

व्रत उपवास एवं दान

इनका विवेचन हम अध्याय दो में पूर्व में कर चुके हैं।

मनोरंजन के साधन

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में मनोरंजन और आमोद प्रमोद का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मनुष्य के द्विविध मानसिक एवं शारीरिक विकास हेतु मनोरंजन अत्यन्त आवश्यक है। अनेकविध खेलकूद, आखेट, घुड़दौड आदि तत्कालीन समाज में प्रचलित थे। मुख्यतया मनोविनोद के साधनों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है - शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक । शरीर को स्वस्थ और मजबूत बनाए रखने हेतु दौड़, कुश्ती, नाना प्रकार के खेलकूद एवं आखेट इत्यादि की रचना हुई । मानसिक शक्तियों के विकासार्थ नृत्य, संगीत, नाटक - अभिनय, कविता पाठ, कथा,आख्यान आदि की प्रथा तथा कतिपय बौद्धिक खेल यथा - चौपड़, शतरंज, अक्खरिका आदि का आविष्कार हुआ । आध्यात्मिक शक्ति की अभिवृद्धि हेतु क्रमशः यज्ञ -हवन, पूजा- पाठ, स्नान - दर्शन, यात्रा - विहार आदि का प्रचलन हुआ । मनोरंजन के उपर्युक्त साधनों का यदि विश्लेषण किया जाये तो यह प्रतीत होता है कि सभी का ध्येय कुछ समय के लिए थके मांदे मन को वास्तविक जहान के अभाव अभियोगों से परे कल्पना के लोक में विचरण कराने का है, जिससे क्षणिक परिवर्तन के द्वारा उत्साह भरा मन लेकर पुनः संसार सागर को पार करने में जुट जाए।

जिस प्रकार भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही आमोद -प्रमोद का विशेष स्थान रहा है उसी प्रकार राजस्थान में भी प्रत्येक युग में उसका महत्व दर्शित होता है। कालीबंगा, आहाड, रंगमहल, बालाथल आदि के उत्खनन से अवगत होता है कि मिट्टी के खिलौने, जिनमें चकरी, गाड़ी, गुड़ियाऐं, गोलियाँ आदि बच्चों के खेलने के प्रमुख साधन थे। संभवतया इसी कारण इन्हें प्रचुर मात्रा में बनाया गया था। यद्यपि आखेट को उदरपोषण से सम्बन्धित माना जा सकता है तथापि

यह मनोरंजन का साधन भी अवश्य रहा होगा | आगे चलकर नृत्य, संगीत आदि अनेक साधन इनमें सम्मिलित हो गए ।

यद्यपि हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में मनोरंजन तथा आमोद - प्रमोद सम्बन्धी उल्लेखों की बहुलता नहीं है तदपि जो उल्लेख प्राप्त होते हैं उनसे तत्कालीन मनोविनोद के साधनों का परिज्ञान अवश्य होता है। संवत् 898 के चण्डमहासेन के धौलपुर अभिलेख[86] में सघन वन, विभिन्न पशुओं एवं आखेट का उल्लेख मिलता है। संवत् 1056 के किनसरिया अभिलेख में चच्च को तुरंग नाट्य (अश्व को नृत्य कराना) में प्रवीण बताया गया है।[87] तत्समय में गायन, वादन, नृत्य एवं नाटक प्रचलित मनोरंजन के साधन थे। चाटसू अभिलेख में सुमंत्रभट्ट को नाट्यशास्त्र के प्रवर्तक भरतमुनि में प्रेम रखने वाला तथा नृत्यकला में प्रवीण बताया है।[88] इसी प्रकार बाउक के संवत्894 के लेख में राजा कक्क को सर्वभाषाओं में कविता करने में दक्ष बताया है।[89] संवत् 918 के घटियाला के चतुर्थ स्तम्भ लेख में कम्कुक की प्रिय बातों में वीणा एवं काकली गीत का भी उल्लेख किया गया है।[90] संवत्703 के सामोली लेख[91] में वैतालिकों (स्तुति गायकों) का अंकन और पूर्वोक्त बयाना अभिलेख में उत्सवगीतों से आनन्दित प्रजा का वर्णन प्राप्त है।[92] द्यूत (जुआ) को प्राचीनकाल से ही लोकप्रिय मनोरंजन के रूप में मान्यता रही है। हमारे विवेच्याधीन अभिलेखों में जुआ पर 'कर' लगाए जाने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। संवत्746 के झालरापाटन के शिवमंदिर से मिले अभिलेख में देव के अग्रज वोप्पक का समृद्ध कोश वाले राजाओं की द्यूत सभाओं में आदर का उल्लेख मिलता है।[93] संवत्1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति में विष्णु मंदिर की व्यवस्थार्थ जुआरियों से भी एक पेटक (एक दाव की जीत का भाग) लेने का उल्लेख मिलता है ।[94] संवत् 1053 के हस्तिकुण्डी के धवल के बीजापुर अभिलेख में भी जुआरियों से कर लिए जाने का अंकन है।[95] इसी प्रकार संवत् 1036 के अर्थूणा के शिलालेख से विदित होता है कि परमार नरेश चामुण्डराय ने जुआ घर पर कर आरोपित किया था।[96] उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि उस समय द्यूत (जुआ) काफी लोकप्रिय था। हमारे अध्ययन कालीन लेखों में गणिकाओं के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं, ये विविध काम कलाओं में निपुण होती थी । नगरीय जीवन के आमोद - प्रमोद एवं आनन्दोल्लास में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी । संवत् 682 के बसंतगढ़ अभिलेख में बूटा नामक गणिका (देवदासी) का उल्लेख है ।[97] संवत्1099 की बसन्तगढ़ की लाण बावड़ी प्रशस्ति में वटपुर नगर को विद्वान ब्राह्मणों और सैनिकों के साथ - 2 गणिकाओं से भी सुशोभित बताया गया है।[98] सवत्1205 के अल्हणदेव के नाडौल ताम्रपत्र में विलासिनी पद्मावती सुता वजिला का

उल्लेख मिलता है।[99] प्रत्येक समाज में पर्व एवं उत्सव भी लोकप्रिय रहे हैं।ये एक ओर परलोक के साधक थे वहीं इहलोक में मनुष्य के जीवन में आनन्द एवं उल्लास का संचार कर मनोरंजन में अभिवृद्धि करते थे। पूर्व के आध्याय 2 में हम इनका अध्ययन कर चुके हैं।

इस प्रकार अभिलेखों के पर्यालोचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन राजस्थान में शिक्षा का व्यापक प्रचार प्रसार था । घर में माता - पिता द्वारा पितृविधि से एवं गुरुकुल आदि में गुरु द्वारा शिक्षा देने का प्रचलन था। गुरुकुल, मठ, मंदिर, विहार आदि शिक्षा के प्रसार केन्द्र थे। राजस्थान के चित्तौड़, भिन्नमाल (भीनमाल), अजमेर, जालौर, आबू, चन्द्रावती, भड़ानक (बयाना), मालवनगर और चाटसू आदि नगर विद्या के प्रमुख केन्द्र थे। ये विद्या के केन्द्र जिनभट्ट, हरिभद्र, रोलाचार्य, जिनवल्लभ सूरि, ब्रह्मदत्त जैसे ज्योतिषाचार्य एवं माघ जैसे उद्भट्ट कवियों से विभूषित थे।जहां गुरु द्वारा इहलोक एवं परलोक साधिका शिक्षा दी जाती थी ।पठन - पाठन के विषयों में वेद, वेदाङ्ग, गणित, नाट्यशास्त्र, रामायण महाभारत, धर्मशास्त्र, दर्शन, न्याय शास्त्र, साहित्य के साथ चित्रकला, संगीत, नृत्य, चिकित्सा आदि विषयों को उचित स्थान प्राप्त था। राजकुमारों को सैन्य एवं राजनीति के साथ धार्मिक शिक्षा भी दी जाती थी। गुरु के प्रति अत्यंत आदर था क्योंकि उसके बिना शिक्षा की पूर्णता असंभव थी । प्रशासन द्वारा शिक्षकों को विविध सुविधाओं के साथ अग्रहार रूप में जमीन दी जाती थी जिससे वे निश्चिंत होकर सुयोग्य और श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण कर सकें। यहाँ के खान पान में शाकाहार एवं मांसाहार दोनों का प्रचलन था तथापि अधिकांशतः व्यक्ति शाकाहार प्रिय थे। भोजन में मुख्य रूप से गेहूँ, जौ, चावल, गुड, दूध, दही, घी, तेल, हरड़, बहेड़ा, इलाइची, मेथी आदि विविध मसालों का भी उपयोग किया जाता था। प्राचीन राजस्थानी आभूषण प्रिय थे। सोने, चाँदी, मोती और रत्नादि जडित हार, केयूर, नुपुर, वलय, मेखला आदि आभूषण स्त्री - पुरुषों दोनों के प्रिय थे। अलंकार प्रियता उस समय के समाज की सौन्दर्य अभिरुचि एवं कलाबोध के साथ -साथ आर्थिक वैभव के भी परिचायक हैं । मनुष्य के त्रिविध (शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक) विकास में मनोरंजन के साधन यथा - आखेट, द्यूत, अश्वनृत्य, संगीत, पर्व तथा उत्सवादि प्राचीन कालीन राजस्थान में प्रचलित थे। सामाजिकसमरसता एवं सास्कृतिक उन्नयन के परिचायक ये साधन जहाँ समाज को कठिन परिश्रम के उपरान्त विश्राम प्रदान करते है, वहीं व्यक्तियों को सर्वदा स्वस्थ और स्फूर्तिवान बनाए रखते हैं।

संदर्भ

1.शर्मा, रेखा देवी,'अभिलेखों के आलोक में गुरू- शिष्य सम्बन्ध (प्राचीन राजस्थान के विशेष संदर्भ में), विद्यावार्ता, अक्टूबर - दिसम्बर 2023 Vol.4, Issue 48, पृ. 121-125

2.शर्मा, जी.एन, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1989), पृ.114

3. राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ.515

4. वाजपेयी , के .डी ., अग्रवाल, के.डी., वाजपेयी एस., ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख (जयपुर 1992) पृ.222-223

5.नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग 1 (सं 1977) पृ.311-324, इ.आई.भाग 20 नं. 9 पृ.97-99

6.गहलोत,एस.,पुरोहित,एस.,शर्मा,एन.,' राजस्थान के प्रमुख अभिलेख' (जोधपुर,1988) श्लोक 35, पृ. 66

7.श्रीमाली, जी. एल.,राजस्थान के अभिलेख (खण्ड- प्रथम) (जोधपुर 2000), पृ. 21एवं आगे

8.कीलहर्न, एफ, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 2, पृष्ठ 116-130

9.रामकरण, , एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 10, पृष्ठ 17-24

10. मिश्रा, आर. एल.,इंशक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, वाल्यूम 2,नई दिल्ली 2006, पृ.19-20

11 .श्यामलदास, वीर विनोद भाग 1, पृष्ठ 381 एवं आगे

12. वही,

13.गहलोत, एस., पुरोहित, एस., शर्मा, एन.,' राजस्थान के प्रमुख अभिलेख' (जोधपुर, 1988) पृ.133

14. याज्ञवल्क्यस्मृति,1/1/3

16. मजूमदार, आर.सी., एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 18, पृ.87-99

17. अग्रवाल, आर.सी., जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, वॉल्यूम35(1)1957, पृ.355-358

18. ओझा, जी.एच., सिरोही राज्य का इतिहास, पृ.28-32

19.भण्डारकर, डी०आर०, जर्नल ऑफ दि बॉम्बे ब्रांच ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, वॉल्यूम 22, पृ. 151

20.मजूमदार, आर.सी., एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 18, पृ.87-99

21.भण्डारकर, डी०आर०,एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 9, पृष्ठ 280

22. फ्लीट, जे. , भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग 3, पृ.90-97

23. श्रीमाली, जी. एल ., राजस्थान के अभिलेख, भाग-1, पृ.16-17

24. वही, पृ.

25 वही, पृ.57

26. वही, पृ.62-64

27. वही, पृ.79-80

28. वही, पृ .82-84

29. वही, पृ.93-95

30.श्यामलदास, पूर्वनिर्दिष्ट

31.ओझा, जी.एच .,एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 14, पृ.176-180

32.श्रीमाली, जी. एल ., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 87-88

33.भण्डारकर, डी०आर०,' एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 12, पृ.10-17

34.अल्तेकर, ए.एस.,एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 27 (1948), पृ.252-267

35.कीलहर्न, एफ, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 9, पृ.158-159

36. रामकरण, एपिग्रैफिया इण्डिका ,वॉल्यूम12, पृ.56-61

37.रामकरण ,एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 10, पृ.17-20

38. भण्डारकर, डी . आर., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11, पृ.55-57

39. श्यामलदास, पूर्वनिर्दिष्ट

40.रामकरण, पूर्वनिर्दिष्ट

41. शर्मा, जी.एन., राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ. 77

42. श्रीमाली, जी.एल., राजस्थान के अभिलेख, भाग-1, पृ. 179-180

43. ओझा, जी.एच .पूर्वनिर्दिष्ट

44. शर्मा, दशरथ,' पाटनारायण मंदिर गिरवर का वि . सं.1181 का शिलालेख', मरुभारती 9(4) 1962, पृ.63-67

45. श्यामलदास ,पूर्वनिर्दिष्ट

46.भण्डारकर, डी०आर०,पूर्वनिर्दिष्ट

47.शर्मा, जी.एन.,पूर्वनिर्दिष्ट

48.भण्डारकर, डी०आर०,पूर्वनिर्दिष्ट

49.श्यामलदास ,पूर्वनिर्दिष्ट

50.अग्रवाल, आर.सी.,पूर्वनिर्दिष्ट

51. मिश्रा, आर . एल., पूर्वनिर्दिष्ट, वॉल्यूम3, पृ.191-192

52. पुरोहित, एस. के ., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.174-176

53.श्रीमाली, जी.एल.,पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.56-58

54.पुरोहित, एस. के ., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.34

55. रामकरण, पूर्वनिर्दिष्ट

56. सरकार, डी.सी. दि गुहिल्स ऑफ किष्किन्धा, पृ.77

57. उद्घृत व्यास, एस.पी., राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ.134

58. पुरोहित, एस. के ., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.100-103

59.श्रीमाली, जी.एल.,पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.122

60. वही, पृ.128

61.शर्मा, जी.एन.,पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.86-87

62.फ्लीट, जे. ,पूर्वनिर्दिष्ट

63. अग्रवाल, आर०सी०, 'मारवाड़ की प्राचीन राजधानी-मण्डोर नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 61 (1),संवत् 2013, पृ० 27

64. शर्मा, जी०एन०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 51-52

65. भण्डारकर, डी० आर०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 12, पृ० 10-17

66. मजूमदार, आर०सी०,' एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 18, पृ.87-99

67. कीलहर्न, एफ०,पूर्व निर्दिष्ट

68. रामकरण, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 10, पृ० 17-24

69. ओझा जी०एच०, पूर्वनिर्दिष्ट

70. रामकरण, 'भाडूंद इंशक्रिप्शन ऑफ परमार पूर्णपाल ऑफ वि०सं० 1102,' जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, वाल्यूम 23,पृ०75-80

71. जैन, के०सी०, एन्सेंट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ० 131

72. मजूमदार, आर०सी०, पूर्व निर्दिष्ट

73. शर्मा, जी०एन०, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 81

74. फ्लीट, जे०एफ०, पूर्व निर्दिष्ट
75. इन्द्रजी, भगवानलाल, इण्डियन एण्टीक्वेरी, वाल्यूम 10, पृ० 34-36
76. बनर्जी, आर०डी०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 22, पृ० 120-127
77. भण्डारकर, डी०आर, जर्नल ऑफ बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, वाल्यूम 22, पृ० 151
78. कीलहर्न, एफ०, पूर्व निर्दिष्ट
79. कीलहर्न, एफ०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ० 158-159
80. भण्डारकर, डी०आर०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 12, पृ० 10-17
81. बनर्जी, आर०डी०, पूर्व निर्दिष्ट
82. भण्डारकर, डी०आर०, जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, वाल्यूम 22, पृ० 151
83. कीलहर्न, एफ०, पूर्व निर्दिष्ट
84. गहलोत, एस० एस०, राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, पृ० 48-50
85. श्यामलदास, वीर विनोद, भाग 1, पृ० 381
86. मिश्र, आर०एल० पूर्व निर्दिष्ट, वाल्यूम 3, पृ० 191-192
87. रामकरण, एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम 12. पृ० 56-61
88. भण्डारकर, डी०आर०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 12. पृ० 10-17
89. मजूमदार, आर०सी०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 18, पृ० 87-99
90. भण्डारकर, डी०आर०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ० 281
91. हलदर, आर०आर०, एपिग्रफिया इण्डिका, वाल्यूम 20, पृ० 97-99
92. बनर्जी, आर०डी०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 22, पृ० 120-127
93. ब्यूलर, जी, 'टू इंशक्रिप्शंस फ्रॉम झालरापाटन' इण्डियन एण्टीक्वेरी, वाल्यूम 5, पृ०180-183
94. श्यामलदास, वीर विनोद, भाग 1, पृ० 381 एवं आगे
95. रामकरण, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 10, पृ० 17-24
96. बर्नेट, डी०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 14, पृ० 309
97. भण्डारकर, डी०आर०, वाल्यूम 9, पृ० 97-99
98. ओझा, जी०एच०, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ० 28-32
99. श्रीमाली, जी०एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 118-121

अध्याय – सप्तम्

आर्थिक संरचना - कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं वाणिज्य

अध्याय-सप्तम्

आर्थिक संरचना - कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं वाणिज्य

प्राचीन राजस्थान की आर्थिक संरचना का अध्ययन इसकी भौगोलिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात किए बिना असंभव एवं अपूर्ण है। यहाँ की पर्वत श्रृंखला, नदियों, मैदानों, पठारों और जंगलों ने आर्थिक संरचना को पर्याप्त प्रभावित किया। विभिन्न युगों में होने वाले अनेकानेक आर्थिक परिवर्तनों-विशेषतः विभिन्न नदियों के या तो सूख जाने अथवा उनके मार्ग परिवर्तन,जंगलों के विनाश और पर्यावरण सम्बन्धी विभिन्न उलटफेरों के कारण यहाँ के आर्थिक स्वरूप में कभी त्वरित गति से तो कभी मन्द गति से परिवर्तन होते रहे।

यहाँ की अरावली पर्वत श्रृंखला इस प्रदेश की रीढ़ की तरह है जो इसे दो विशिष्ट भौगोलिक भागों में विभक्त करती है। इसके पश्चिमी भाग में गंगानगर, हनुमानगढ़, चूरू, बीकानेर, जैसलमेर, जोधपुर, बाड़मेर एवं जालौर तथा पूर्वी भाग में डूंगरपुर, बाँसवाड़ा, कोटा, बूँदी, झालावाड़, जयपुर, भरतपुर एवं धौलपुर आदि का क्षेत्र सम्मिलित है। पूर्वी भाग पर्याप्त वर्षा के कारण जंगलों, वनस्पतियों तथा प्राकृतिक सम्पदा से वैभवयुक्त होने के कारण कृषि एवं व्यापार दोनों ही दृष्टि से थार रेगिस्तान के नाम से जाना जाता है। शुष्क एवं रेतीला होने के कारण आर्थिक दृष्टि से यह भाग पिछड़ा एवं अविकसित रहा है। वर्तमान में सरकारी प्रयासों से कई उद्यमों का विकास, पर्यटन को प्रोत्साहन एवं सिंचाई हेतु नहरों की व्यवस्था से पश्चिम का यह भाग विकास की ओर अग्रसर है।

राजस्थान में वर्षभर बहने वाली नदियों का अभाव है। वैदिक काल में दक्षिण-पश्चिमी पंजाब और उत्तर-पश्चिमी राजस्थान से होकर बहने वाली सरस्वती निश्चय ही इस भू-भाग की सर्वप्रमुख नदी थी।[1] इसके तटीय क्षेत्रों पर समय-समय पर हड़प्पा एवं रंगमहल की सभ्यताओं के लोगों ने निवास किया। यह नदी बाद में विलुप्त हो गई। सरस्वती की प्रधान शाखा दृषद्वती का भी यही हाल हुआ। विलुप्त होने से पूर्व ये राजपूताने से होकर या तो अरब सागर में स्वयं गिरती थीं अथवा सिन्धु की सहायक बन जाती थीं। सिन्धु-सरस्वती सभ्यता (हड़प्पा सभ्यता) की बस्तियाँ दृषद्वती नदी के किनारे पाई गई हैं। पुनः सरस्वती के कांठों में चित्रित धूसर मृदभाण्डों की प्राप्ति हुई है जो

लगभग 800-700 ई.पू. के माने जाते हैं। इन मृदभाण्डों के इस युग के लगभग 1000 वर्ष बाद वहाँ रंगमहल की संस्कृति पनपी। इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन काल में राजस्थानी मरुस्थल न तो संस्कृति विहीन था और न ही जल के लिए तरसने वाला क्षेत्र।

राजस्थान में मानव जीवन की कहानी पूर्व पाषाण काल से प्रारम्भ होती है। उस समय के पाषाण उपकरण विभिन्न नदियों जैसे गम्भीरी, बेड़च, चम्बल, वामनी, रूपारेल, वागन और सानवा आदि की घाटियों से पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुए हैं।[2] इन पाषाण उपकरणों के माध्यम से मानव शिकार करता था। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि तत्कालीन आर्थिक जीवन के ये महत्वपूर्ण आधार थे। राजस्थान में मानव विकास का द्वितीय चरण मध्य पाषाण काल में दर्शित हाेता है। जब शताब्दियों के अनुभव के बाद मनुष्य ने अपेक्षया अधिक परिष्कृत, ओपदार एवं तीखे तथा छोटे आकार के पाषाण उपकरणों का निर्माण किया। इस प्रकार के उपकरण पश्चिमी राजस्थान में लूनी तथा उसकी सहायक नदियों की घाटियों तथा दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में बेड़च, वागन, कदमली आदि नदियों की घाटियों से पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुए हैं। मेवाड़ क्षेत्र में भीलवाड़ा जिले में बागोर तथा मारवाड़ क्षेत्र में तिलवाड़ा (बाड़मेर) से मध्य पाषाण कालीन मानव के ऊपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यहाँ से प्राप्त पाषाण उपकरणों, जंगली एवं पालतू पशुओं की हड्डी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यहाँ के लोगों का आर्थिक जीवन जंगली पशुओं के शिकार तथा पशुपालन पर आधारित था।[3] धीरे-धीरे उसके उपकरणों का स्वरूप आखेट से भोजन एकत्र करने की सीमाओं से आगे बढ़कर भोजन उत्पन्न करने और कृषि जैसे कार्यों की ओर प्रवृत्त हुआ तथा बुद्धि-विवेक का परिचय देते हुए अपनी सुरक्षा के लिए शिला-कुटीरों का उपयोग भी किया।[4]

कालीबंगा और आहाड़ की खोजों ने आद्य ऐतिहासिक या ताम्रकालीन सभ्यता के दो ऐसे भिन्न केन्द्रों को प्रस्तुत किया जिनसे राजस्थान के समृद्ध अतीत का परिचय मिलता है। कालीबंगा से प्राक् सैन्धव संस्कृति के भी अवशेष प्राप्त हुए जिनमें सबसे महत्वपूर्ण बस्ती के दक्षिण-पूर्व की ओर गढ़ी के बाहर स्थित क्षेत्र में एक जुते हुए खेत के चिह्न हैं।[5] उक्त खेत में दोनों तरफ से जुताई के फलस्वरूप हराइयों के निशान एक वर्ग

जालक के रूप में हैं। ऐसा लगता है कि संभवतः एक खेत में दो फसलों को एक साथ बोने के कारण इस प्रकार के निशान पड़े हों।

सरस्वती एवं दृषद्वती के आस-पास के क्षेत्रों से उपलब्ध अवशेष जहाँ ताम्राश्मकालीन सिन्धु-सरस्वती सभ्यता के उत्तरी राजस्थान में अस्तित्व का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, वहीं दक्षिणी राजस्थान में उदयपुर के निकट आहाड़, बालाथल, चित्तौड़ क्षेत्र में बनास की घाटी में गिलूण्ड एवं ओझियाना (भीलवाड़ा) आदि से ताम्राश्मकालीन एक ऐसी सभ्यता के अवशेष पाए गए जिनके निर्माता ताम्र उपकरणों के अतिरिक्त चाक से निर्मित मृदभाण्ड, धातु शोधन का ज्ञान तथा भवनों के निर्माण में दक्ष थे। ये सभी उनके आर्थिक जीवन के आधार थे।

कालीबंगा से प्राप्त रेडियो कार्बन डेटिंग के आधार पर उत्तरी राजस्थान में सिन्धु-सरस्वती सभ्यता का समय ई.पू.2300 से ई.पू.1700 निर्धारित किया जाता है।[6] उत्तरी राजस्थान में सिन्धु-सरस्वती सभ्यता के अवसान के बाद जिस नवीन सभ्यता का उदय हुआ। उसके भौतिक उपादानों में चित्रित धूसर पात्र परम्परा (PGW) के निर्माताओं की बस्तियों के अवशेष सरस्वती एवं दृषद्वती की घाटी में अनेक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। उत्तरी राजस्थान में इसकी प्राचीनतम सीमा रेखा ई.पू.1200 के लगभग निर्धारित की जा सकती है। इसके बाद वैदिक युग में भी इस क्षेत्र की भौगोलिक विशिष्टता का ज्ञान ऋग्वैदिक आर्यों को भी था। मरू शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में ही प्राप्त होता है।[7] महाभारत के वन पर्व में जहाँ मरू शब्द की चर्चा है, वहीं पाण्डवों द्वारा अज्ञातवास बैराट (विराट नगर) में व्यतीत करने का उल्लेख प्राप्त होता है। रामायण से भी विदित होता है कि दक्षिण सागर ने जब अपने ऊपर सेतु बँधवाना स्वीकार किया तब श्रीराम ने उसको भयभीत करने के उद्देश्य से खींचा हुआ अमोघ बाण इस दिशा में चलाया जिससे यहाँ समुद्र के स्थान पर मरूकान्तार का निर्माण हो गया।[8]

ई.पू. 6वीं शताब्दी में उत्तर भारत में 16 महाजनपदों का उदय हुआ इनमें से मत्स्य एवं शूरसेन जनपद में राजस्थान का भाग सम्मिलित था। ई.पू. 6वीं शताब्दी से लेकर ई. सन् प्रथम शताब्दी के मध्य भारत में आहत सिक्कों का प्रचलन रहा। चाँदी अथवा ताँबे के इन चौकोर/गोल सिक्कों पर कोई लेख उपलब्ध नहीं होता है, केवल चिह्न बने हुए हैं। ऐसा लगता है कि इस प्रकार के सिक्कों का प्रचलन व्यापारियों, व्यापारिक

श्रेणियों और नगर निगमों ने किया होगा। राजस्थान से इस प्रकार के सिक्के पुष्कर, बैराट, नगर, नगरी, साँभर एवं झालरापाटन से प्राप्त हुए हैं।[9] मौर्योत्तर काल में पंजाब से राजस्थान में कई आयुधजीवी जातियों का संक्रमण हुआ जिनमें शिवि, मालव, यौधेय, आर्जुनायन आदि प्रमुख हैं। इन सभी के सिक्के इनके अधिकार क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। ये सिक्के जहाँ इनकी सम्प्रभुता के प्रतीक हैं, वहीं आर्थिक जीवन के आधार भी हैं। व्यापार एवं वाणिज्य के विकास के कारण सिक्कों की महती आवश्यकता थी। वास्तव में आगरा-मथुरा से होकर पश्चिमी समुद्र के किनारों में गुजरात तक अत्यन्त प्राचीनकाल से मध्यकाल के अन्त तक पूरी तरह प्रयुक्त व्यापारिक मार्ग विद्यमान थे, जो बड़े ही आर्थिक महत्व के समझे जाते थे। ये पश्चिम में सिन्धु-सौवीर तक तथा मालवा-उज्जयनि होते हुए कच्छ-काठियावाड़ एवं भरूच-कल्याण तक जाते थे और विदेशी व्यापार की नलिकाओं का काम करते थे। यही कारण था कि मौर्यों के समय से लेकर मुगलों के समय तक इन व्यापारिक मार्गों के नियंत्रण हेतु दक्षिणी राजस्थान, मालवा और गुजरात को सभी बड़ी शक्तियों-मौर्य, सातवाहन, गुप्तों, हर्ष, पुल्केशी द्वितीय, प्रतीहार, राष्ट्रकूटों, प्रमुख सुल्तानों एवं मुगल बादशाहों ने अपने अधिकार में बनाए रखने का कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने दिया।

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों से प्राचीन राजस्थान के आर्थिक जीवन पर प्रकाश डाला जा सकता है। विशेषकर दान शासनों से प्राचीन राजस्थान के कृषि, व्यापार एवं वाणिज्य को जाना जा सकता है। अभिलेखों से विदित होता है तत्कालीन समय में मुख्य आर्थिक आधार कृषि तथा तत्सम्बन्धी उद्योग थे। अतः सर्वप्रथम कृषि एवं भूमि व्यवस्था पर विचार करेंगे।

कृषि

भारतवर्ष जैसे कृषि प्रधान देश में भूमि का महत्व यहाँ के निवासियों द्वारा प्रारम्भ में ही समझ लिया गया। यद्यपि, पूर्व वैदिक युग का प्रधान व्यवसाय पशुपालन एवं गौचारण था फिर भी कृषि कर्म उस समय पर्याप्त प्रचलित हो चुका था। ऋग्वेद में अश्विन देवताओं द्वारा मनु को हल चलाना एवं जौ की खेती करने का उल्लेख है।[10] दसवे मण्डल में जंगल साफ करने,[11] भूमि जोतकर बीज बोने,[12] हसिया से फसल काटकर

घर ले जाने,[13] खलिहान पर फसल से अनाज अलग करने आदि का वर्णन मिलता है। अथर्ववेद का पृथ्वीसूक्त[14] भूमि के महत्व को स्पष्ट करने वाला कदाचित प्रथम सन्दर्भ है जहाँ ऋषि अपने को पृथ्वी का पुत्र और भूमि को अपनी माता कहता है।

हमारे अध्ययनकाल में भूस्वामित्व का क्या स्वरूप था, इस प्रश्न पर विद्वानों मे मतभेद दिखाई देते हैं। विन्सेण्ट स्मिथ, विल्सन और जेम्स मिल जैसे अंग्रेज साम्राज्य वादी विद्वानों की यह मान्यता है कि समस्त भूमि राजा अथवा राज्य के स्वामित्व में होती थी।[15] भूमि के बदले प्रतिकर देकर ही कोई उसे जोत-बो सकता था। इन विद्वानों के मत का आधार अर्थशास्त्र में उल्लिखित ऐसे सन्दर्भ और व्यवस्थाएँ थीं, जिनके अनुसार मछली पकड़ने, नाव द्वारा आवागमन, शाक-सब्जी का व्यापार, तटाक, झील, खानों एवं जंगलों पर राजकीय अधिकार होता था। अर्थशास्त्र के टीकाकार भट्ट स्वामी का यह कथन है कि जो शास्त्रों के ज्ञाता हैं, वे यह मानते हैं कि राजा भूमि ओर उदक (पानी) दोनों का ही स्वामी है और जनस्वामित्व इनके अतिरिक्त वस्तुओं पर ही है। किन्तु जैमिनी के आधार पर बेडेन पावेल, ब्रिग्स, सर जॉन कैम्पबेल जैसे विद्वान प्राचीन भारत में भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के पक्षधर थे। के.पी. जायसवाल एवं पी.एन. बनर्जी ने भी भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व के सिद्घान्त को माना है।[16] किन्तु वर्तमान में ऐसे अनेक अध्ययन सामने आ चुके हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि ये दोनों ही मान्यताएँ अतिवादी हैं।[17] साहित्य एवं अभिलेखों में ऐसे बहुत से संदर्भ प्राप्त हैं जो भूमि पर सामुदायिक, व्यक्तिगत एवं राजकीय इन तीनों ही प्रकार के स्वामित्व के प्रमाण उपस्थित करते हैं।

प्रारंभिक वैदिक युग में आर्य जनों के रूप में विभाजित थे। इस समय समाज व्यक्तिपरक न होकर कुलपरक था, अतः उस समय सामुदायिक भूस्वामित्व की प्रथा रही होगी। साथ ही प्रकृति द्वारा प्रदत्त पर्वत, नदी, तडाग, सोते-झरने, वन-बाग, रास्ते, चारागाह आदि सभी का लोग समान रूप से उपयोग करते थे। सामुदायिक स्वत्व का बोध यहीं से प्रारंभ हुआ होगा। जैमिनी के मीमांसा सूत्र[18] के अनुसार भूमि पर सामूहिक अधिकार होता था। आगे चलकर राज्य संस्था के पूर्ण रूप से विकसित हो जाने पर यह बोध पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ। किन्तु जैसे-जैसे राज्य शक्तिशाली होता गया, वैसे-वैसे उसका हस्तक्षेप बढ़ता गया। कालान्तर में वह प्रकृति द्वारा प्रदत्त सभी सुविधाओं का

मालिक बन बैठा। बृहस्पति-स्मृति के अनुसार राजा से यह अपेक्षा रहती थी कि भूमि दान करते समय वह चारों वेदों के ज्ञाताओं, व्यापारियों, महतरों, समस्त ग्रामवासियों एवं राज्याधिकारियों को सूचित करे। राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों से बृहस्पति स्मृति के उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। वि.सं.900 के भोजदेव के ताम्रपत्र[19] में भट्टहर्षुक के निवेदन पर डीडवाना क्षेत्र के सिवाग्राम का पूर्व प्रदत्त अग्रहार (ब्राह्मणों को दान में प्राप्त भूमि) ब्राह्मणों को पुनः प्रदान करने का महाराजाधिराज भोजदेव (प्रथम) द्वारा अनुमोदन किया गया है जिसकी सूचना क्षेत्र में नियुक्त सभी राज्याधिकारियों और पड़ोसी नागरिकों को इस राजाज्ञा के पालन का साग्रह आदेश दिया गया है। वि.सं.1069 के रोपी ताम्रपत्र[20] में परमार नरेश देवराज द्वारा चन्द्रग्रहण के अवसर पर सिद्घेश्वर देवस्थान के आचार्य चण्ड शिवाचार्य के पुत्र आउकाचार्य को जो भूमि दान में दी गई, उसके पूर्व में गोविन्द ब्राह्मण, पश्चिम में महासामन्त पूर्णचन्द, उत्तर में श्रीधर ब्राह्मण तथा दक्षिण में दुल्लर्भसु (त) की भू-सीमा स्थित है। इस भूमि दान में देवराज के गुरु मत्वाक (मातृक) एवं पूर्णचन्द को साक्षी रूप में उल्लिखित किया गया है। इसी प्रकार वि.सं.1076 के परमार नरेश भोज के समय के दानपत्र[21] में राजकीय अधिकारियों, ब्राह्मणों तथा ग्रामवासियों को सूचित करते हुए लिखा गया है कि कोंकण विजय के उत्सव पर वशिष्ठ गोत्री ब्राह्मण वामन के पुत्र भायल को व्याघ्रदोरक के वटपद्रक गाँव में 100 निवर्तन (बीघा) भूमि दान में दी गई। वि.सं. 1220 के केल्हण देव के शासन काल के बामनेरा ताम्रपत्र[22] में महाराज पुत्र कुमार सिंह के पुत्र अजय सिंह द्वारा जो डोहलिका (भूमिदान) दिया, उस दानपत्र पर महाराज श्री केल्हण के अनुज कीर्तिपाल के हस्ताक्षर तथा दूतक (प्रतिनिधि) चामुण्डराज की स्वीकृति एवं हस्ताक्षर हैं।

राजस्थान में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध ताम्रपत्रों का सम्बन्ध मन्दिरों एवं ब्राह्मणों को प्रदान की गई भूमि से है। ब्राह्मण, मन्दिर को प्रदत्त भूमि का उपयोग समुदाय के नाम पर करते थे। मन्दिरों में जो प्रसाद अर्पित किया जाता था, उसे सभी भक्तजनों में वितरित किया जाता था। राजस्थान में धौलपुर की सीमा से लगे हुए ग्वालियर से प्राप्त अभिलेख[23] में मन्दिर को ऐसी भूमि दान में देने का उल्लेख है, जिस पर सभी नगरवासियों का अधिकार था।

जब सामाजिक जीवन में वैयक्तिक भावना को प्रधानता दी जाने लगी, तब राजा के

भूस्वामित्व के सिद्घान्त के साथ निजी स्वामित्व का सिद्घान्त भी प्रतिपादित किया जाने लगा। प्रारंभिक धर्मसूत्र और बाद में लिखी जाने वाली स्मृतियाँ सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्घान्त को पूरी तरह स्वीकार करती हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[24] के अनुसार कोई व्यक्ति जमीन की उपज का कुछ निश्चित भाग लेने के बदले अपनी भूमि किसी अन्य को जोतने-बोने को दे सकता है। कौटिल्य[25] ने राजकीय भूमि और प्रजाजनों की व्यक्तिगत भूमि में स्पष्ट अन्तर किया है। नारद की व्यवस्था के अनुसार राजा को व्यक्तियों के घर एवं खेत के ऊपर स्वामित्व की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।[26]अल्तेकर[27] ने पतंजलि के महाभाष्य के आधार पर जोत की भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का उल्लेख किया है। बौद्घ साहित्य में अनाथपिण्डक द्वारा बौद्घ संघ को भूमिदान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[28] उपरोक्त उद्घरण भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की पुष्टि करते हैं। धर्मशास्त्रों अथवा निबन्ध ग्रन्थों में ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं, जहाँ कहा गया है कि क्या सार्वभौम राजा अथवा अन्य छोटे-बड़े शासक अपने राज्याधीन समस्त भूमि का दान कर सकते हैं अथवा नहीं ? धर्मशास्त्रों में ही इसका उत्तर भी प्राप्त होता है, जहाँ कहा गया है कि यद्यपि राजा उस क्षेत्र के स्वत्वाधिकारी नहीं हैं, वे उसका मनमाना और स्वतंत्र विनियोग अथवा दान नहीं कर सकते।[29] राजा सम्पूर्ण राज्य का रक्षक होने के कारण वह भूमि पर कर लगा सकता था, इस अधिकार से राजा का कृषि भूमि पर स्वामित्व सिद्घ नहीं होता। प्रजा को अपनी भूमि बेचने, दान देने तथा बन्धक के रूप में रखने का अधिकार था।

राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों से भी कृषि योग्य भूमि और बाग-बगीचों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्घान्त की भली-भाँति पुष्टि होती है। ऐसे अनेक व्यक्तिगत अभिलेख प्राप्त होते हैं जिनमें भूमि दान की चर्चा मिलती है। ये दान जहाँ एक ओर राजाओं के अतिरिक्त व्यक्तिगत लाेगों और सामुदायिक संस्थाओं द्वारा भी दिए जाते थे, उनमें दानग्रहीता या तो कोई ब्राह्मण विद्वान् या पुरोहित अथवा जैन संघ या बौद्घ संघ अथवा कोई मन्दिर जैसी सांस्कृतिक-सामाजिक संस्था होती थी। इन दानों का उद्देश्य दानकर्त्ता द्वारा अपने दान कार्य से पुण्य लाभ की कामना था और दान प्राप्तकर्त्ता नित्यप्रति के व्ययों को चलाने पर केन्द्रित था। कृत संवत् 282 (225 ई.) के नांदसायूप लेख में मालव गणपति द्वारा ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, महर्षियों एवं विष्णु के मन्दिर के

लिए स्थान (भूमि) प्रदान करने का उल्लेख है।[30] इसी प्रकार वि.सं. 982 एवं 994 के पुष्कर अभिलेखों से विदित होता है कि भट्ट के पुत्र मल्हण ने एक खेत क्रय करके विष्णु मन्दिर के निमित्त दान दिया था। इस दान की पुष्टि राजा दुर्गराज द्वारा की गई है।[31] वि.सं.1067 के भीनमाल मण्डल के क्षत्रियपद्र ग्राम से प्राप्त ताम्रपत्र से विदित होता है कि तंत्रपाल क्षेमराज ने भीनमाल मण्डल में स्थित क्षत्रियपद्र नामक गाँव नाणक नामक ब्राह्मण को दान में दिया। लेख में इस क्षेत्र को "स्वभूमि" के अंतर्गत बताया है।[32] वि.सं.1236 पाली के सांडेराव गाँव से प्राप्त लेख में थाथासुत राल्हाक द्वारा अपना घर दान में देने एवं किसी के द्वारा उसमें रहने का किराया द्रम्म 4 एला प्रतिवर्ष लेने की व्यवस्था गोष्ठिकों से करवाने का उल्लेख है।[33] इसी प्रकार वि.सं.1245 ओसियाँ के महावीर मंदिर से प्राप्त अभिलेख में यशोधरा नामक श्राविका द्वारा आत्म कल्याण के लिए महावीर रथशाला के निमित्त अपना घर भेंट करने का उल्लेख मिलता है।[34] उपरोक्त उल्लेखों से सिद्घ होता है कि भूमि एवं भवनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता था।

व्यक्तिगत स्वामित्व के अतिरिक्त भूमि-भवन आदि पर राजा अथवा राज्य के अधिकार की पुष्टि के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। वि.सं.1003 के प्रतापगढ़ शिलालेख से विदित होता है कि प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल ने धनशूर की प्रार्थना पर खरपरद्रक नामक गाँव को सभी राजकीय अधिकारों सहित वटयक्षिणी देवी के मंदिर के लिए समर्पित किया गया।[35] इसी लेख के द्वितीय अनुदान में तंत्रपाल महासामन्त दण्डनायक माधव द्वारा चौहान वंश के महासामन्त दुर्लभराज के पुत्र इन्द्रराज की प्रार्थना पर धारापद्रक नामक गाँव वृक्षपंक्तियों, लकडियों, गोचर भूमि, जलस्थल से युक्त सम्पूर्ण भूभाग, स्वर्ण आदि राजकीय भागों सहित सूर्य मंदिर को देने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी लेख के तृतीय अनुदानपत्र में संवत् 999 को गुहिल नरेश खोम्माण के पुत्र भर्तृपट्ट द्वारा अपने माता-पिता एवं स्वयं के धर्म की वृद्धि हेतु नन्धा नदी के समीप पल्लासकूपिका नामक गाँव में बब्बूलिका नामक खेत इन्द्रादित्यदेव को दान में देने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी प्रकार वि.सं.1016 के राजोर अभिलेख से विदित होता है कि महाराजाधिराज मथनदेव ने व्याघ्रवाटक नामक गाँव अपने तथा अपने माता-पिता के कल्याण के निमित्त लच्छुकेश्वर महादेव के मंदिर के निर्वाह के लिए दान में दिया, साथ ही व्याघ्रपाटक गाँव की गोचर

भूमि, घास एवं वृक्ष इत्यादि पर भी मंदिर के अधिकार की घोषणा की गई।[36] इसके अतिरिक्त गाँव से होने वाली समस्त आय यथा उद्रंग (उपरिकर-अतिरिक्त कर), भोग (समसामयिक भेंट के बदले), खलभिक्षक (भाग के अतिरिक्त अनाज का कुछ भाग जो खलिहान पर लिया जाता था), प्रस्थक (प्रत्येक परिवार से एक प्रस्थ कर के रूप में), स्कन्धक (एक कन्धे पर ढोया जाने वाला भार), मरगणक (गाँवों पर लगाया जाने वाला परोपकार कर), दशापराध (दस अपराधों से प्राप्त), मंदिर के लिए घोषित की गई।

वि.सं.1030 के हर्षनाथ (सीकर) से प्राप्त लेख[37] में चौहान नरेश सिंहराज, श्रीवत्सराज, विग्रहराज, चन्द्रराज एवं गोविन्दराज एवं एक पदाधिकारी धन्धुक द्वारा हर्षगिरी के शिव मंदिर को अनेक गाँव दान में देने का उल्लेख प्राप्त होता है। साँभर के नमक व्यापारियों प्रत्येक ढेर पर एक विंशोपक (मुद्रा विशेष) तथा उत्तरापथ के अश्व व्यापारियों द्वारा प्रत्येक घोड़े पर एक द्रम्म दान का उल्लेख हर्षदेव के मंदिर को देने का उल्लेख भी अभिलेख में प्राप्त होता है। इसी प्रकार वि.सं.1051 वरणक (बालेरा) ताम्रपत्र में चालुक्य नरेश मूलराज प्रथम द्वारा चन्द्रग्रहण के अवसर पर अपने पूर्वजों के पुण्य व यशवृद्धि हेतु वरणक गाँव दीर्घाचार्य नामक ब्राह्मण को देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[38]

वि.सं.1067 के चालुक्य नरेश दुर्भराज के समय के ताम्रपत्र[39] में तंत्रपाल क्षेमराज द्वारा भीनमाल मण्डल क्षत्रियपद्र गाँव को चन्द्रग्रहण के अवसर पर भीनमाल निवासी ब्राह्मण गोविन्द के पुत्र नन्नुक को स्वामी के माता-पिता और स्वयं स्वामी के पुण्य व यश की वृद्धि के लिए लकड़ी, तिनके, गोचर, भोग एवं दशापराध आदि से होने वाली आय सहित दान में देने का उल्लेख है। परमार चच्चुक के वि.सं.1092 के ताम्रपत्र[40] में आत्मकल्याण के निमित्त संक्रान्ति पर्व पर महिलाणक गाँव को आनन्दपुर से जीविकार्थ निकले हुए वेदाध्ययनी की निष्ठा से युक्त ब्राह्मण ईश्वर देव को वृक्षमाला, दशापराध एवं सीमा सहित प्रदान किया। साथ ही सभी ग्रामवासियों को आदेशित किया वे दानी (भूमि कर) और भोग (फल, मूल शाकादि) इस दान के पात्र ब्राह्मण को देते रहे। वि.सं.1160 के एक अन्य ताम्रपत्र[41] में परमार शासक पूर्णराज द्वारा चन्द्रग्रहण के अवसर पर माता-पिता एवं स्वयं के कल्याण के लिए भारद्वाज गोत्रीय मादासुत रूद्र को बांधणवाड़ा गाँव के उत्तरी भाग में आखा नामक खेत का आधा भाग सूर्य-चन्द्र के अस्तित्व रहने तक दान में दिया। वि.सं.1165 के परमार नरेश विजयराज के ताम्रपत्र[42]

में श्रीमाल नगर (भीनमाल) निवासी शांडिल्य गोत्रीय किसी ब्राह्मण को भूमि दान में देने का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.1176 के चौहान नरेश रत्नपाल के ताम्रपत्र[43] से विदित होता है कि चौहान पृथ्वीपाल के पुत्र रत्नपाल द्वारा गून्दकूर्च्चा (गुन्दोज) नामक गाँव ब्राह्मणों को पुनः दान में लिखने का उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि समय-समय पर प्रदत्त दान भूमि को समय-समय पर शासकों द्वारा पुनः अनुमोदन किया जाता रहा होगा। ऐसा ही उल्लेख वि.सं.900 के गुर्जर प्रतिहार भोजदेव के ताम्रपत्र में मिलता है जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। समय-समय पर राजाओं द्वारा दिए गए धर्मशासन का उल्लेख भी अभिलेखों में प्राप्त होते हैं जिसमें इस निषेधाज्ञा का भी उल्लेख मिलता था कि उनके वंशज उसका उल्लंघन न करें। वि.सं.1210 के विजयसिंह के जासौल लेख[44] में इस निषेधाज्ञा का वर्णन मिलता है कि खेड में जो भी राणा होगा, वह अगर धर्मशासन में प्रदत्त भूमि पर किसी प्रकार का कर आरोपित करता है तो वह कुश्चित पापाचरण का भागी होगा और उसकाे हमारी ओर से गर्दभोत्तरा गाली है। वि.सं.1220 के कुमारपाल के सामन्त चौहान अल्हणदेव के ताम्रपत्र[45] में त्रिपुरुष देव के लिए चांबोडी गाँव की भूमि में से वीझडाई डूँगर के पश्चिमी भाग में तीन हल की भूमि स्व सीमा पर्यन्त प्रदान की।

उपर्युक्त अभिलेखों से स्पष्ट है कि राजा के भू-स्वामित्व संबंधी अधिकार अत्यन्त व्यापक थे। इन अभिलेखों से यह भी स्पष्ट होता है कि राज्य के भू-स्वामित्व एवं राजा के भू-स्वामित्व में स्पष्ट अन्तर था। राजा भूमि दान देते समय अपने तथा अपने माता-पिता के पुण्य व यश की कामना करता था न कि राज्य के कल्याण व यश की। व्यक्तिगत व राजकीय भू-स्वामित्व के सिद्घान्तों ने सामुदायिक भूस्वत्वों को निर्बल बना दिया था। सामुदायिक भूमि को निजी सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति लोकप्रिय हो चली थी। राजकीय पदाधिकारियों को राजसेवा के बदले वेतन के स्थान पर भूमि दी जाती थी। वे इसके उपयोग में स्वतंत्र थे। वे भूमि के भाग को दान दे सकते थे। यद्यपि, इसके लिए उन्हें कभी-कभी राजा से स्वीकृति भी लेनी होती थी। राजा सर्वोच्च भूपति था, उसके अधीन सामन्त के रूप में अन्य अनेक भूपति थे। इसे सामन्तीय विकेन्द्रीकरण की संज्ञा दी जा सकती है।[46]

भू-मापन

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि बड़े पैमाने पर भूमि दान दिया गया। भूमि को दान देते समय दानकर्त्ता के लिए क्षेत्र की सीमा तथा उसके माप का स्पष्ट उल्लेख करना आवश्यक था। जिस भू-भाग को दानग्राही स्वीकार करता है। उस पर उसका पूर्ण स्वामित्व था। भूमि के क्षेत्रफल से वह कर ग्रहण कर सकता था तथा आवश्यकता पड़ने पर उसे बंधक भी रख सकता था। इसी कारण खेत को माप कर दान में दिया जाता था। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में माप के दो रूपों का उल्लेख मिलता है। प्रथम श्रेणी में खेत की लम्बाई-चौड़ाई तथा नापने के साधन का उल्लेख है यथा-हल, पादावर्त, हाथ, निर्वतन, नल अथवा नालक। द्वितीय श्रेणी में पैमाइश के उन साधनों का उल्लेख है जो बीज बोने के माप के लिए प्रयुक्त किए जाते थे यथा-पाटक, द्रोण, मणि, कुल्यवाप आदि। इन मापों का उपयोग कर भूमिदान में दी जाती थी।

हल

हल शब्द से अभिप्राय है कि एक हल से जितनी भूमि जोती जा सकती हो। इस प्रकार एक हल से जोती गई भूमि को हल माप की संज्ञा दी गई। डी.आर. भण्डारकर ने इसका अर्थ एक दिन जोती जाने वाली भूमि से लगाया है[47] वहीं दीक्षित एवं सरकार[48] की यह मान्यता है कि "हल" का वास्तविक भू-माप क्षेत्र निर्धारित करना कठिन है, परन्तु अभिलेखों के विवरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कृषि योग्य भूमि की एक हल द्वारा पूरे वर्ष तक जोती गई सम्पूर्ण भूमि का माप एक हल भूमि से लगाया जा सकता है।

कामाँ से प्राप्त लेख में जिसमें वर्ष 180 से 299 तक का उल्लेख है, में उन्तट नामक व्यक्ति द्वारा तीन हल भूमि दान में देने का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.1181 के गिरवर के पाटनारायण मन्दिर अभिलेख[49] में विष्णु मन्दिर के जीर्णोद्धार एवं मन्दिर की व्यवस्था के लिए वर्षाकाल के प्रत्येक हल के हिसाब से 4 सेती धान्य देने का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.1220 के कुमारपाल के सामन्त चौहान अल्हणदेव के ताम्रपत्र[50] में त्रिपुरूषदेव के लिये तीन हल भूमि स्व सीमा पर्यन्त प्रदान करने का विवरण प्राप्त होता है। वि.सं.1220 के बामनेरा ताम्रपत्र[51] में केल्हणदेव के शासन काल में महाराज पुत्र

कुमार सिंह के पुत्र अजयसिंह द्वारा "डोहलिका" (भूमिदान) दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। ताम्रपत्र में उल्लिखित "डोहलिका" देशज शब्द है जिसका अर्थ द्विहलिका (दो हल) से हो सकता है। वि.सं.1221 के सांडेराव महावीर मन्दिर अभिलेख[52] में महाराज कल्हणदेव की मातुश्री आनलदेवी द्वारा महावीर देव के लिए होने वाले कल्याणिक उत्सव के निमित्त युगंधर्या (ज्वार) "हाएलएक" प्रदान करने का उल्लेख है। वि.सं.1229 के राणक काक के शिव मन्दिर अभिलेख[53] में सोनपाल के पुत्र राणक काक द्वारा कामेश्वर के मन्दिर को प्रत्येक हल (हलं प्रति) एक द्रम्म दान का उल्लेख है। भोजदेव के संवत् 1076 के बाँसवाड़ा ताम्रपत्र में[54] में कोंकण विजय की वर्षी के अवसर पर वशिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण भाइल को सौ निवर्तन भूमि दान में देने का उल्लेख प्राप्त होता है। पी.एन. विद्यालंकार ने निवर्तन लगभग एक एकड़ के बराबर माना है।[55] अभिलेखों में "हारक" शब्द का भी उल्लेख हुआ है जो एक विशेष नाप की टोकरी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वि.सं.1167 के सेवाड़ी अभिलेख[56] में कतिपय गाँवों का उल्लेख है जिनके प्रत्येक रहट से एक हारक यव दान में लिये जाने का उल्लेख है। इसी प्रकार वि.सं.1233 के लालराई से प्राप्त लेख[57] में कीर्तिपाल के पुत्रों व रानी महिदेवी द्वारा ग्राम पंचों के समक्ष शांतिनाथ देव की रथयात्रा उत्सव के निमित्त भादियाउव गाँव के उरहारि रहट्ट से एक हारक यव प्रदान किये जाने का उल्लेख है। वि.सं.1003 के प्रतापगढ़ अभिलेख[58] में उतनी भूमि दान में दिये जाने का वर्णन है जो दसमाणि बीज से बोई जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है माणि (मन) को भी क्षेत्रमाप के लिये प्रयुक्त किया जाता होगा। सामान्यतः एक माणि (मन) बीज से एक बीघा खेत बोया जाता है। अतः उक्त दान में 10 मन बीज बोये जाने योग्य भूमि दान में दी गई। इसी अभिलेख में कोशवाह (चरस-एक प्रकार का चमड़े के बैग से सिंचित भूमि) भूमि का भी उल्लेख हुआ है।

प्रमुख फसलें

भारतवर्ष प्रारम्भ से ही कृषि प्रधान देश रहा है। राजस्थान भी इसका अपवाद नहीं था। अध्याय के प्रारंभ में कालीबंगा से प्राप्त प्राक्सैंधव संस्कृति युगीन जुते हुए खेत का उललेख किया जा चुका है। उक्त खेत में दोनों ओर से जुताई के फलस्वरूप हराइयों के निशान जालक के रूप में हैं। पूर्व से पश्चिम की ओर कूंड से कूंड का फासला लगभग 30 से.मी. और उत्तर से दक्षिण लगभग 1.80 मीटर है। सम्भवतः एक खेत में दो फसलों

को एक साथ बोने के कारण इस प्रकार के निशान पड़े हों।[59] प्राचीन राजस्थान के प्रमुख स्थलों के उत्खनन, अभिलेखों एवं साहित्यिक साक्ष्यों से विदित होता है कि यहाँ कृषि उत्पादों में मुख्य रूप से ज्वार, बाजरा, मूँग, जौ, गेहूँ, मोंठ की पैदावार होती थी। इसके अतिरिक्त राज्य के कुछ भाग में गन्ना, पान, कपास तथा चावल की भी खेती की जाती थी। आहाड़ के उत्खनन से प्राप्त पात्र खण्डों में धान के कार्बनीकृत (अधजले) दानों, भूसी एवं पुआल की छापें प्राप्त हुई हैं।[60] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आहाड़ के लोग धान की खेती निश्चित रूप से करते थे। बालाथल से धान, चना, मूँग, जौ और गेहूँ की कृषि के प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त हुए हैं। आहाड़ एवं बालाथल से मकानों के अन्दर चूल्हों के अस्तित्व के साक्ष्यों के अतिरिक्त खाद्य पदार्थों को पीसने के काम आने वाली सिल एवं लोढ़े रसोईघर में चूल्हों के पास से ही प्राप्त हुए हैं।[61] सभी प्रकार के अन्न तथा फल यहाँ पैदा होते थे जिनके नाम अभिलेखों के अतिरिक्त यहाँ के साहित्य में भी प्राप्त होते हैं।

विभिन्न अनाजों एवं दालों के अतिरिक्त ग्राम्य अर्थव्यवस्था में घी-दूध एवं ऊन का भी महत्वपूर्ण स्थान था। कुवलयमाला में फसल को काटकर खलिहान में रखने तथा दायें करके फसल में से अनाज निकालने का वर्णन आया है। फसल में तिल, समा, चावल, कोदों तथा मूँग का उल्लेख प्राप्त होता है।[62] नमक साँभर एवं डीडवाना से प्राप्त होता था जो आय का एक प्रमुख साधन था। मांडलगढ़, आहाड़, रेढ़, बैराट, गणेश्वर, खेतड़ी आदि स्थानों से ताँबा प्राप्त होता था।

ऊपर उल्लिखित विभिन्न फसलों एवं उत्पादों का वर्णन हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में भी प्राप्त होता है। वि.सं.1236 के महाराज पृथ्वीदेव चौहान के शासनकाल के फलौदी से प्राप्त अभिलेख[63] में उन्हालु (रवि की फसल) एवं स्यालु (खरीफ की फसल) का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.1053 हस्तिकुण्डी के धवल के बीजापुर अभिलेख[64] में प्रत्येक रहट से एक आढक गेहूँ तथा प्रत्येक द्रोण से एक माणक गेहूँ, मूँग, ज्वार तथा प्रत्येक भारवाहक गाड़ी जिसमें कपास, ताँबा, कुमकुम, गोंद, मजीठ आदि लदा होता था, से 10 पल्लिका एवं प्रत्येक घाणी से एक कर्षा तेल कर ऋषभनाथ जैन मन्दिर की व्यवस्था के लिए, लिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.1181 के पाटनारायण मन्दिर अभिलेख[65] में मन्दिर के लिए वर्षाकाल के प्रत्येक हल के हिसाब से चार सेती

धान्य और प्रत्येक रहट से आठ सेती जौ देने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी लेख में दो कर्ष तेल का भी उल्लेख हुआ है। वि.सं.996 के एक लेख[66] में गोधूम (गेहूँ) एवं यव (जौ) का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.1236 के ओसियाँ के सच्चिकामाता मन्दिर से प्राप्त अभिलेख[67] में सच्चिकादेवी के कोठार से प्रतिदिन 2 अंजलि मूँग और एक कर्ष घृत (घी) देने का उल्लेख हुआ है। वि.सं.918 के घटियाला अभिलेख[68] में प्रतिहार नरेश कक्कुक द्वारा वट्टनानक (बेडानाणा) दुर्गम पहाड़ के परिमण्डल में बसाये गये गाँव की भूमि को आम के वृक्षों तथा इक्षुपर्णों (गन्ना) से आच्छादित करने का वर्णन प्राप्त होता है। वि.सं.1167 के अश्वराज के सेवाड़ी अभिलेख[69] में पद्राडा, मेद्रचा, छेछडिया तथा मद्दडी गाँव के प्रत्येक रहट से एक हारक (डलिया) जव (जौ) श्री धर्मनाथ देव के मन्दिर को लिये जाने का वर्णन प्राप्त होता है। इसी प्रकार वि.सं.1233 लालराई अभिलेख[70] शांतिदेव की यात्रा के लिये 4 गूजरी जव (गेहूँ मिश्रित अन्न) देने का उल्लेख है। इसी समय के एक अन्य अभिलेख जो कि लालराई से ही प्राप्त हुआ है, में भडियाउव अरघट्टे के उरहारि (उपज या भोग) में से तीन हारक नाप गुज्जी जव (गेहूँ मिश्रित अनाज) देने का उल्लेख है।[71] हमारे अध्ययनकाल में कपास की खेती के भी संकेत मिलते हैं। हस्तिकुण्डी के बीजापुर अभिलेख में जैन मंदिर के लिये प्रत्येक भारवाहक गाड़ी से जिसमें कपास, ताँबा, कुमकुम, गोंद एवं मजीठ आदि लदा होता था, से 10 पल्लिका लिये जाने का उल्लेख मिलता है।[72] श्रृंगारमंजरी कथा में भी कपास के विस्तृत खेतों का वर्णन प्राप्त होता है।[73] हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में तेल एवं नमक का भी उल्लेख मिलता है। घाणक (घाणी) का उल्लेख कई अभिलेखों में प्राप्त हाता है जिनसे दान में तेल लिया जाता था। वि.सं.1189 के नाडलाई अभिलेख तथा एक अन्य अभिलेख से एक घाणक से दो पल्लिका तेल लेने का उल्लेख प्राप्त होता है।

साँभर, डीडवाना एवं पचपद्रा की झाीलों से पर्याप्त मात्रा में नमक उत्पन्न होता था। वि.सं.1030 के हर्षनाथ अभिलेख[74] में नमक के प्रत्येक कूटक पर मन्दिर के लिये एक विंशोपक दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। हस्तिकुण्डी के राष्ट्रकूट धवल के बीजापुर अभिलेख के द्वितीय भाग[75] में मन्दिर की व्यवस्था के लिए जिन वस्तुओं पर कर लगाया गया, उनमें नमक का भी उल्लेख है। इसी प्रकार वि.सं.1200 के रायपाल देव के नाडलाई अभिलेख[76] में नाडलाई के महावीर चैत्य के लिए महाजनों एवं ग्रामीण जनता

द्वारा अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त लवण (नमक) पर भी प्रति द्रोण 1 देने का उल्लेख हुआ है।

राजस्थान अत्यन्त प्राचीनकाल से ही अपनी प्राकृत सम्पदा एवं खनिजों के लिए प्रसिद्ध रहा है। प्रारम्भ से ही खेतड़ी, सिंघाना तथा गणेश्वर ताम्र धातु की खानों के लिए प्रसिद्ध रहा। इसी प्रकार जावर के निकट अरण्यगिरि में ताँबे और जस्ते की खाने थी। वर्तमान में जावर माता का मन्दिर जो उस समय अरण्यवासिनी के मन्दिर नाम से प्रसिद्ध था।[77] वि.सं.703 के सामोली अभिलेख[78] से विदित होता है कि शीलादित्य के समय यह क्षेत्र खनन उद्योग के लिए प्रसिद्ध था। खनिज सम्पदा कूपगिरी (चाँदी और जस्ता) के अतिरिक्त राजस्थान में वन सम्पदा भी पर्याप्त थी। अनेक अभिलेखों में विभिन्न वृक्षों, फलों आदि का उल्लेख मिलता है। नान्दसायूप लेख[79] में शाल्मलि वृक्ष का उल्लेख प्राप्त है। मालव सम्वत 480 के गंगधार शिलालेख[80] में अरण्य प्रान्त, कुमुदवन, वाटिका एवं उपवन का उल्लेख मिलता है। वि.सं.557 के चारचौमा शिव मंदिर अभिलेख[81] में चन्दन तुल्य शतपुष्पा वाटिका, कडुआ हींग, मौलसिरी के सुगन्धित फूल, केसर, जाफरान एवं वरुण वृक्ष का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.770 के चित्तौड़ के मानमौरी शिलालेख[82] में मधुमक्खियों से ढके हुए वृक्ष, परिजात कदम्ब आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.918 के घटियाला अभिलेख[83] में नीलोत्पल, आम्र व मधुक वृक्ष तथा इक्षुपर्णों (गन्ना) का उल्लेख हुआ है। वि.सं.1136 के अथूर्णा के शिव मंदिर अभिलेख[84] में खांड, गुड़, मजिष्ठ, सूत, कपास नालिकेर (नारियल) लवण (नमक), पूग (सुपारी) आदि का उल्लेख है।

पशुपालन

कृषि के अतिरिक्त पशुपालन भी जीविका का मुख्य साधन था। कृषि के लिये पशुओं की आवश्यकता थी। कृषि में कार्य के अतिरिक्त घी, दूध एवं ऊन के लिये भी पशु पाले जाते थे। अनेक अभिलेखों में दक्षिणा स्वरूप गाय दान करने के उल्लेख हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। कृत सम्वत् 282 के नांदसा यूप लेख,[85] कृत् सम्वत् 295 के बड़वा यूप लेख,[86] कृत् सम्वत् 335 के बर्नाला यूप लेख[87] में गायों को दान में देने का वर्णन प्राप्त होता है। वि.सं.1030 के हर्षनाथ शिलालेख[88] में गायों के

लिये पानी की प्याऊ का उल्लेख प्राप्त होता है। पशुओं के लिये हाट-बाजार लगता था जहाँ पशुओं का क्रय-विक्रय किया जाता था। कामाँ के 8वीं शताब्दी के लेख[89] में (कम्बली हट्ट पशु हाट) का उल्लेख प्राप्त होता है। हस्तिकुण्डी के धवल के बीजापुर अभिलेख[90] में ऊँट के भार तथा बिक्री पर एक रुपया कर के रूप में लिये जाने का वर्णन प्राप्त होता है। कतिपय अभिलेखों में शासकों द्वारा चारागाह (गोचर भूमि) के लिए भूमिदान का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.1003 के प्रतापगढ़ शिलालेख[91] में महेन्द्रपाल द्वारा गोचर भूमिदान में देने का उल्लेख प्राप्त होता है। परमारों की आबू शाखा के शासक धारावर्ष के वि.सं.1237 के हाथल ताम्रपत्र[92] में गोचर का उल्लेख हुआ है जो स्पष्टतः चारागाह का द्याेतक है। गायों की रक्षा करने के लिये अपने प्राणोत्सर्ग की परम्परा राजस्थान में रही। गायों की रक्षा करते समय अपने प्राणों की आहूति देने वालों की स्मृति में गोवर्धन स्तम्भ स्थापित किये गये। लोद्रावा (जैसलमेर) का वि.सं.970 का लेख,[93] बीठन के तालाब से प्राप्त वि.सं.1002 के तीन लेख[94] एवं वि.सं.1070 के बालकनाथ मन्दिर से प्राप्त स्तम्भ[95] लेख इसी प्रकार के गोवर्धन स्तम्भ लेख हैं जो उन लोगों की स्मृति में स्थापित किये गये थे जिन्होंने गायों की रक्षा करते हुए अपने प्राणों का उत्सर्ग किया।

अन्य व्यवसाय

कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त अभिलेखों में कतिपय अन्य व्यवसायों यथा- कुम्भकार, स्वर्णकार, लुहार एवं फूल माला बनाने वाले (माली) का भी उल्लेख प्राप्त होता है। मिट्टी के बर्तनों का निर्माण कुम्भकार (कुम्हार) करते थे। कामाँ के 9वीं शताब्दी के लेख[96] में कुम्भकार एवं मालियों की श्रेणी का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.1053 के हस्तिकुण्डी के धवल के बीजापुर अभिलेख[97] में कुम्हारों के व्यवसाय पर कर का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.1202 से वि.सं.1207 के मध्य के रानी गिरिजादेवी के रतनपुर अभिलेख[98] में कुम्भकारों द्वारा भाड़ जलाने की निषेधाज्ञा का उल्लेख प्राप्त होता है। फूलों एवं मालाओं का व्यापार करने वाले मालियों का व्यवसाय समुन्नत अवस्था में था। पूर्व में कामाँ के 9वीं शताब्दी के लेख का उल्लेख किया जा चुका है जिसमें मालियों की श्रेणी का उल्लेख मिलता है। लेख के चतुर्थ प्रलेख में कामाँ में निवास करने वाले मालियों की श्रेणी को कुछ राशि देने का उल्लेख है जिसमें 60 मालाओं में से 34 विष्णु के मन्दिर को तथा शेष चामुण्डा के मन्दिर को देने का वर्णन है। इसी प्रकार वि.सं.1010

की सारणेश्वर नाथ प्रशस्ति[99] में भगवान विष्णु के मन्दिर हेतु मालियों से प्रतिदिन एक माला देने की व्यवस्था का उल्लेख है।

आभूषणों के निर्माण का कार्य स्वर्णकार किया करते थे। स्त्री एवं पुरुष दोनों ही आभूषण प्रेमी होने के कारण यह समुन्नत था तथा इनकी भी श्रेणी होती थी। तत्कालीन मूर्तिकला में आभूषणों का सुन्दर चित्रण मिलता है। आभूषण निर्माण के अतिरिक्त स्वर्णकार अभिलेखों के उत्कीर्णक भी होते थे। किष्किन्धा के गुहिल नरेश कदाची के समय के ई. सन् 7वीं शताब्दी के शिलालेख[100] का उत्कीर्णक हेमकार नागादित्य था। हर्ष संवत् 282 के (ई.सन् 788) के तसई (अलवर) अभिलेख[101] का उत्कीर्णक स्वर्णकार शर था। इसी प्रकार वि.सं.894 के बाउक के जोधपुर शिलालेख का उत्कीर्णक विष्णु रवि का पुत्र कृष्णेश्वर था।[102] वि.सं.918 घटियाला के द्वितीय स्तम्भलेख[103] का उत्कीर्णक भी कृष्णेश्वर को बताया गया है। इसी प्रकार वि.सं.1012 के बयाना अभिलेख[104] में लेख को उत्कीर्ण करने का श्रेय स्वर्णकार श्रीपाल को दिया गया है।

इनके अतिरिक्त वि.सं.1200 के साँभर अभिलेख[105] में कूपादे कृत्यकार (कुआँ बनाने का कार्य करने वाले), वि.सं.1202 गिरिजादेवी के रतनपुर अभिलेख में तंबोलियों (पान का व्यवसाय करने वाले) एवं वि.सं.1209 के किराडू अभिलेख[106] में "तांबूलिक" शब्द भी पान से संबंधित ही है।

सिंचाई व्यवस्था

वैदिककाल से ही कृषि, औषधि आदि के लिये देवों से जल वर्षण की कामना, विविध यज्ञ-विधानादि कार्य जल के प्रबन्धन एवं संरक्षणवादी सोच के ही द्योतक हैं। ऋग्वेद के आप सूक्त[107] में जल को पृथ्वीलोक वासियों का रक्षक बताया गया है। साथ ही जल के राजा वरुण से कामना करते हुए कहा गया है कि मधुर दीप्ति से युक्त और पवित्र जल रस के धारक आप इस दिव्य गुणों से सम्पन्न जल को पृथ्वीलोक की रक्षार्थ प्रदान करें।[108]

भूमि की सिंचाई सामान्यतया वर्षा के जल से ही होती थी किन्तु राज्य द्वारा भूमि को सिंचित करने के लिये नहर, कूप, तड़ाग, वापी आदि का निर्माण करवाया जाता था। प्राचीन भारत में मौर्यकाल से ही शासक वर्ग द्वारा जल प्रबन्धन करके सिंचाई की

व्यवस्था की जाती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य ने गिरनार पर्वत की तलहटी में सुदर्शन झील का निर्माण करवाया जिसकी उपयोगिता इतनी अधिक थी कि आगामी 400 वर्षों तक उसकी मरम्मत कर उस पर बाँधों का निर्माण किया गया।[109] ई.सन् 150 के रूद्रदामन के जूनागढ़ लेख में सुदर्शन झील का विस्तृत वर्णन मिलता है।[110] आगे चलकर गुप्त नरेश स्कन्दगुप्त ने भी इस झील की मरम्मत करवाई।[111] खारबेल के हाथीगुम्फा लेख[112] से विदित होता है कि उसने एक नहर का निर्माण करवाया। इसी प्रकार सातवाहन नरेश पुलुमावि के राज्यकाल में सिंचाई हेतु तालाब निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है।[113]

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों से विदित होता है कि प्राचीन राजस्थान में जल प्रबन्धन कर सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी। कृत सम्वत् 282 के नान्दसा यूप लेख[114] से विदित होता है कि मालव नेता श्री सोम ने तालाब एवं कूप खुदवाये। वि.सं.742 के मण्डोर वापी अभिलेख[115] में इखरक नामक व्यक्ति द्वारा विपुल जल वाली बावड़ी का निर्माण करवाया। मालव सम्वत् 480 के गंगधार अभिलेख[116] में मयूराक्ष द्वारा कूप निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.770 के मानमौरी शिलालेख[117] में मानमौरी द्वारा विशाल सरोवर के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.894 के बाउक अभिलेख[118] में प्रतिहार नरेश शिलुक द्वारा पुष्करिणी (छोटा तालाब) निर्माण का उल्लेख है।

जल के प्राकृतिक एवं कृत्रिम संसाधनों के रख-रखाब एवं देखभाल की समुचित व्यवस्था प्राचीन राजस्थान में विद्यमान थी, तथापि समय पर वर्षा होना भी आवश्यक था। विविध याज्ञिक विधि-विधानों से इन्द्रादि देवों को प्रसन्न कर वर्षा की कामना अत्यन्त प्राचीनकाल से रही है। डबोक से प्राप्त एक शिलालेख में राजा कक्क के राज्य में बसन्त ऋतु के अन्त में ब्राह्मणों द्वारा यज्ञादि विधियों के योग से इन्द्र को बुलाने का वर्णन प्राप्त होता है।[119] वि.सं.1003 के प्रतापगढ़ अभिलेख[120] में अरहट से युक्त कच्छक दान में दिये जाने का विवरण मिलता है। कच्छक का अर्थ जल से सटी हुई भूमि से है जो अमरकोष में वर्णित बारह प्रकार की भूमि में से एक का प्रतिनिधित्व करती है। अरहट से तात्पर्य कुए से पानी निकालने के एक यंत्र से है जिसमें काठ का एक बड़ा चक्कर होता है। इसी लेख में बंबूलिका नामक कच्छ जिसके उत्तर में नन्दया नदी स्थित

थी, दान में देने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी लेख में "कोसवाह" (चमड़े का चरस) का उल्लेख है जिससे कुएँ से पानी निकाला जाता था।

हमारे अध्ययनकालीन अन्य अभिलेखों में भी कूप,तालाब एवं बावडियों का उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.1053 के धवल के बीजापुर अभिलेख[121] में कूप, धनौप के वि.सं.1063 के अभिलेख,[122] वि.सं.1099 की बसन्तगढ़ की लाण प्रशास्ति[123] तथा वि.सं.1102 के भाडूंद अभिलेख[124] तथा वि.सं.1143 के झालरापाटन अभिलेख[125] में बावड़ी के निर्माण के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

पूर्व के विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में सिंचाई के लिए झीलों के निर्माण की जो परम्परा रही, वह परम्परा राजस्थान में भी दर्शित होती है। चित्तौड़ के शासक मानमोरी द्वारा चित्तौड़ में "मानसरोवर झील" के निर्माण का पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। इसी प्रकार चौहान नरेश अर्णोराज द्वारा अजयमेरू में "अन्नासागर",[126] वीसलदेव द्वारा "विशालसर"[127] तथा परमार भोज द्वारा "भोजसर" के निर्माण का उल्लेख तत्कालीन साहित्य एवं अभिलेखों में मिलता है।

नगर एवं ग्राम

राजस्थान के प्रारंभिक नगरों में कालीबंगा, बैराट, आहाड़, लोथल, पुष्कर, नगरी, रेढ़, रंगमहल, नगर एवं श्रीपथ (बयाना), मण्डोर आदि महत्वपूर्ण थे। ये स्थान एक ओर जहाँ प्रारंभिक सभ्यता के केन्द्र थे, वहीं इन नगरों के अतिरिक्त अन्य नगर धार्मिक, व्यापार, वाणिज्य एवं राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में अनेक नगरों एवं ग्रामों का उल्लेख प्राप्त होता है। ई.पू. पाँचवी शताब्दी के बडली(अजमेर) अभिलेख जो प्राकृत भाषा में है, मध्यमिका (नगरी) का उल्लेख प्राप्त होता है।[128] कृत संवत् 282 के नान्दसा यूप लेख वि.सं.1013 के थांवला लेख तथा वि.सं.1030 के हर्षनाथ अभिलेख में पुष्कर का वर्णन प्राप्त होता है। राजपूतकाल राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल का समय रहा। राजपूतों का अधिकांश समय साम्राज्य विस्तार की लालसा में व्यतीत हुआ। अतः उन्होंने अपनी राजधानियों की स्थापना में सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखा। ये राजधानियाँ एक ओर राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थीं, वहीं व्यापार-वाणिज्य एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण थीं। सामान्यतः राजधानी को

ऊँचे स्थान पर बनाया जाता था ताकि दूर-दूर तक चारों ओर ध्यान रखा जा सके। दुर्ग का भी निर्माण किया जाता था। दुर्ग के चारों ओर गहरी खाई का निर्माण किया जाता था। प्राचीन ग्रन्थों में इसके लिये "परिखा" शब्द का उल्लेख मिलता है।[129] जो नगर या राजधानी नदी के किनारे होता था तो ऐसी स्थिति में खाई के मुँह को नदी से मिला दिया जाता था। परिणामस्वरूप नदी के पानी से वह निरन्तर भरी रहती थी। इस प्रकार की खाई को "जल परिखा" कहा जाता था। इसके अन्दर घड़ियाल, सूंस आदि हिंसक जलचरों को भी छोड़ दिया जाता था। "जल परिखा" के अतिरिक्त "कर्दम परिखा" (कीचड़ वाली खाई) तथा "शुष्क परिखा" के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।[130] नगर के अन्दर व्यापारियों के हाट-बाजार, नागरिकों के लिये मकान, झील, तालाब एवं कूप, बावड़ी, मंदिर आदि की व्यवस्था रहती थी। उदाहरणार्थ वि.सं.894 के बाऊक के अभिलेखों[131] में माण्डव्यपुर (मण्डोर) दुर्ग में शत्रुओं के भय को बढ़ाने वाला ऊँचा प्राकार (परकोटा-चहारदीवारी) तथा त्रेता तीर्थ में एक बावड़ी, नगर तथा सिद्धेश्वर महादेव का मंदिर निर्मित करवाने का वर्णन प्राप्त होता है। इसी लेख में नागभट्ट की राजधानी मेडन्तकपुर (मेड़ता) बताई गई है। वि.सं.480 के गंगधार शिलालेख[132] में विश्ववर्मा के मंत्री मयूराक्ष को अरण्य प्रान्त में वाटिका, तालाब, जलाशय, से गर्गरा नदी के तटवर्ती प्रदेश को अलंकृत करने वाला बताया गया है। वि.सं.1099 की बसंतगढ़ की लाण बावडी प्रशस्ति[133] में वटपुर नामक नगर के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है जो सरोवरों, निवास गृहों, राजप्रसाद, प्राकार तथा दुर्ग इत्यादि से युक्त था। लेख में रहने वाले ब्राह्मण, सैनिक तथा नगरवधुओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वि.सं.918 के घटियाला अभिलेख[134] कक्कुक द्वारा रोहिन्सकूप गाँव में बाजार बनवाने का वर्णन प्राप्त होता है जो महाजनों, विप्रों, क्षत्रियों एवं व्यापारियों से भरा रहता था। शाकम्भर (साँभर), हर्षनाथ, गंगोदभेद, ओसियाँ आदि नगर अपने धार्मिक महत्व के कारण प्रसिद्ध थे।

व्यापार एवं वाणिज्य

कृषि, पशुपालन एवं विभिन्न शिल्पों के अतिरिक्त व्यापार एवं वाणिज्य से भी लोग अपना जीविकोपार्जन किया करते थे। आरम्भ में कस्बों एवं शहरों की संख्या सीमित थी लेकिन ई.सन् 7वीं-8वीं शताब्दी में व्यापार एवं वाणिज्य की वृद्धि के साथ ही अनेक नये नगरों एवं कस्बों का विकास हुआ। नये नगर एवं कस्बे आमतौर पर उन स्थानों पर

स्थापित हुए जहाँ से कृषि उत्पाद एवं खनिज पदार्थ सहज रूप से प्राप्त हो सकें। कस्बों एवं नगरों के विकास के साथ-साथ अनेक शिल्प एवं पेशे भी प्रारंभ हुए जो श्रेणियों में संगठित थे। अन्तर-प्रान्तीय व्यापार भी प्रारंभ हुआ जिससे नगरों एवं कस्बों में समृद्धि आई। व्यापारिक लेन-देन के लिये लोगों द्वारा विभिन्न प्रकार के सिक्कों, बाँटों और मापों का उपयोग किया जाने लगा।

हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान के व्यापारिक पथों की विशेष जानकारी तत्कालीन साहित्य एवं अभिलेखों में अनुपलब्ध है। व्यापार से संबंधित विवरण ई.सन् 8वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा तथा उसके शिष्य उद्योतनसूरि द्वारा रचित कुवलयमाला में प्राप्त होते हैं।[135] चीनी यात्री ह्वेनसांग, अरब यात्री अलबरूनी एवं मुस्लिम यात्रियों के विवरण तथा कतिपय अभिलेखों के आधार पर प्राचीन राजस्थान में आंतरिक व्यापार के केन्द्रों एवं पथों का अनुमान लगाया जा सकता है। देश के आंतरिक व्यापारिक स्थल एवं महत्वपूर्ण नगर स्थल मार्ग एवं नदियों द्वारा जुड़े हुए थे। सिन्धु-सरस्वती सभ्यता का विस्तार व्यापक क्षेत्र में था। पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, सिन्ध, बलुचिस्तान एवं अफगानिस्तान आदि सभी क्षेत्रों में इस सभ्यता के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। राजस्थान में इस सभ्यता का महत्वपूर्ण नगर हनुमानगढ़ जिले में स्थित घग्घर नदी (प्राचीन सरस्वती) के तट पर स्थित कालीबंगा था। कालीबंगा एवं अन्य क्षेत्रों के स्थलों से प्राप्त वस्तुओं में साम्यता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये सभी स्थल एक-दूसरे से व्यापारिक एवं सांस्कृतिक रूप से जुडे हुए थे। हड़प्पा मोहनजोदड़ो एवं कालीबंगा की नगर योजना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यहाँ के लोग सड़क निर्माण की तकनीक से भली-भाँति परिचित थे। महाभारत में भीष्म के यात्रा विवरण में हस्तिनापुर के अतिरिक्त गांधार, कम्बोज, बाह्यलीक, प्राग्ज्योतिषपुर, अपरान्त, पाण्ड्य तथा सिन्धु आदि अनेक प्रदेशों का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि पाण्डवों ने अपना अज्ञातवास राजस्थान में ही विराट नरेश के यहाँ व्यतीत किया था। बैराट (जयपुर), पाण्डुपोल (अलवर) तथा लोहार्गल (झुंझुनू) आदि स्थलों के साथ पाण्डवों की यात्रा की स्मृति जनश्रुति के रूप में है। ये सभी स्थल प्राचीन मत्स्य एवं शाल्व जनपद के ही भाग थे। एक अन्य पथ मथुरा से द्वारिका को जाता था जो राजस्थान होकर गुजरता था। ऐसी मान्यता है कि श्री कृष्ण ने जब मथुरा से

द्वारिका पलायन किया तो मार्ग में मध्यमिका (नगरी चित्तौड़) नामक स्थान पर विश्राम किया। मथुरा एवं द्वारिका के मध्य में होने के कारण तभी से यह स्थल मध्यमिका के नाम से जाना जाता है।

दीर्घकालीन उथल-पुथल के बाद मौर्य युग में पहली बार सम्पूर्ण भारत वर्ष एक शासन सूत्र में बँधा। साम्राज्य की सुरक्षा, सुशासन तथा व्यापार एवं वाणिज्य की उन्नति के लिये यह आवश्यक हो गया कि मार्गों के विकास पर समुचित ध्यान दिया जाये। अशोक द्वारा देश के विभिन्न भागों में उत्कीर्ण करवाये गये लेख उसके समय के विकसित मार्गों का परिचय करवाते हैं। अपने द्वितीय शिलालेख में वह कहता है कि यात्रियों की सुविधा के लिए मैंने मार्ग में छायादार वृक्ष लगवाये, कूप खुदवाये तथा धर्मशालाएँ बनवाईं।[136] राजस्थान में बैराट से भी अशोक के दो लेख[137] प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन मार्गों का यह एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा होगा। इस समय स्थल पथ दो पथों- उत्तरापथ एवं दक्षिणापथ में विभाजित था। उत्तरापथ का एक पथ द्वारिका से कम्बोज तक जाता था जो आनर्त (उत्तरी काठियावाड़), आबू, मध्यमिका (नगरी-चित्तौड़) एवं आहाड़ के निकट से मारवाड़ क्षेत्र से उत्तर की ओर कम्बोज तक जाता था।[138] पतंजलि ने अपने महाभाष्य में मध्यमिका पर जिस यवन आक्रमण[139] की चर्चा की है, वे संभवतः इसी मार्ग से आये होंगे। प्रमुख पथों के अनेक उप-पथ आबू से पूर्व की ओर पुष्कर, नलियासर, बैराट, रेढ तथा नगर (टोंक) तक जाता था। एक अन्य पथ मृत्तिकावती होता हुआ उत्तरापथ में मिल जाता था। वी.एस.अग्रवाल "मृत्तिकावती" का समीकरण मारवाड़ के मेड़ता[140] नामक स्थान से किया है। ह्वेनसांग ने राजस्थान के बैराट एवं भीनमाल नामक स्थानों की यात्रा की। उसने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि "शीटोटउलो" (शतद्र-सतलज-सरहिन्द) से दक्षिण-पश्चिम में लगभग 800 ली चलकर "पोलीयेतालो" (बैराट) राज्य आया तथा सुलअच (सुराष्ट्र-वल्लभी) से 1800 ली के लगभग उत्तर दिशा में चलकर "क्यिोचेलो" की राजधानी पिलोमोलो (भीनमाल) तथा "पिलोमोलो" से दक्षिण-पश्चिम में 2800 ली चलकर उशेयना (उज्जयनि) पहुँचने का उल्लेख किया है।[141]

हर्ष की मृत्यु के बाद उत्तर भारत में राजनीतिक एकता का लोप हो गया तथा अनेक राजवंशों का अभ्युदय हुआ। राजस्थान में विभिन्न राजपूत वंशों का उदय भी इसी

पृष्ठभूमि में हुआ। इस काल में अनेक नये नगरों का उदय हुआ। ये नगर न केवल शिक्षा संस्कृति तथा राजनीतिक गतिविधियों के केन्द्र थे अपितु व्यापार एवं वाणिज्य के भी महत्वपूर्ण केन्द्र थे। चित्तौड़, अजमेर, नाडौल, जालौर, साँभर, चाटसू, आबू, आहाड़, मण्डोर, मेड़ता एवं रणथम्भौर आदि नगरों का राजनीतिक महत्व था। खण्डेला, पाली, चन्द्रावती, नरहड, भीनमाल, जालौर, नागदा, आहाड़, बघेरा, रोहिन्सकूप, बयाना, राजगढ़, शेरगढ़ आदि नगर समृद्ध व्यापारिक केन्द्र थे। कुछ नगर ऐसे भी थे जो अपने धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्व के कारण विकसित हुए थे। अजमेर का महत्व पुष्कर तीर्थ के कारण, साँभर का महत्व देवयानी तीर्थ के कारण तो आहाड़ गंगोदभेद तीर्थ के कारण तथा कामाँ विमल कुण्ड के कारण जनआस्था का केन्द्र था। चित्तौड़, जालौर, भीनमाल, अजमेर, बयाना शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। ओसियाँ, पाली, किराडू, खण्डेला, साँचौर, नाणा, फलौदी, मूंगथला, जैन धर्म के केन्द्र थे। बैराट, कोशवर्द्धन एवं कोलवी बौद्ध धर्म के केन्द्र थे।[142]

बंजारक विभिन्न खाद्य पदार्थ घोड़ों, हाथियों, बैलगाड़ियों, गधों एवं ऊँटों पर लादकर नगरों में बेचने के लिए लाया करते थे। प्रत्येक कस्बे में बिक्री के लिए आने और जाने वाली वस्तुओं पर कर वसूलने के लिए कस्टम हाउस (चुंगी घर) होते थे। नगरों एवं कस्बों में आपातकाल की स्थिति से निपटने के लिए अनाज एवं अन्य सामान भण्डारगृहों में एकत्र किया जाता था। ई.सन् 1018 के शेरगढ़ अभिलेख से विदित होता है कि ऐसा ही एक अन्न भण्डार शेरगढ़ में था।[143] ई.सन् 1295 के जालौर प्रस्तर अभिलेख में एक नरपति द्वारा अपनी पत्नी नायका देवी के आध्यात्मिक कल्याण के लिए माल के भण्डारण के लिए एक गोदाम का निर्माण करवाया था।[144]

ई.सन् 10वीं शताब्दी में आहाड़ व्यापार का एक बड़ा केन्द्र बन गया था। कर्नाट, लाट, मध्यदेश, टक्क के व्यापारी आहाड़ में आकर वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया करते थे। प्रारंभ में वसंतगढ़ एक समृद्ध नगर था लेकिन बाद में समृद्धशाली न होने के कारण वहाँ से व्यापारियों को पलायन करना पड़ा। ई.सन् 646 के सामोली शिलालेख[145] से विदित होता है कि जेन्तक के नेतृत्व में एक महाजन समुदाय वटनगर से पलायन कर अरण्यकूपगिरी आगर (आकर-खदान) का कार्य प्रारंभ किया जहाँ बाद में लोगों का समूह बन गया। प्रतिहारों के समय रोहिन्सकूप व्यापार-वाणिज्य का केन्द्र था। वि.सं.918 के

घटियाला अभिलेख[146] से विदित होता है कि इस नगर में मरू, माण्ड, वल्ल, स्रमणी, अज्ज व गुर्जरत्रा के व्यापारी आकर बस गये थे।

राज्य द्वारा इन व्यापारियों से विभिन्न पथों से गुजरने पर चुंगी वसूल करने के प्रमाण भी अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। वि.सं.1012 के बयाना के ऊषा मंदिर अभिलेख[147] से मंदिर की व्यवस्था हेतु उसके मार्ग से गुजरने वाले व्यापारिक माल से चुंगी वसूल करने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार वि.सं.1195 के रायकपालदेव के नडलाई लेख[148] एवं वि.सं.1200 के बाली लेख[149] में भी चुंगी वसूल करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। शेरगढ़ अभिलेख[150] में वरांग का उल्लेख प्राप्त होता है जो सड़कों पर टोल (मार्गदायी कौपतिक) का संग्रह करता था।

कुवलयमाला और उपमितिभव प्रपंचकथा में नगरों एवं कस्बों की आर्थिक स्थिति का रोचक विवरण प्राप्त होता है। उपमितिभव प्रपंचकथा में यह उल्लेख मिलता है कि किस प्रकार व्यापारी अनाज, कपास, नमक और ऊन का भण्डारण करके, लाख खरीदकर, गुड़ का व्यापार करके, तेल निकालकर, कोयला बनाकर, जंगलों को काटकर, झूठ बोलकर और झूठे बाँटों का उपयोग करके ग्राहकों को धोखा देकर लाभ कमाते थे। उनमें से कुछ व्यापारियों में धन का लालच इतना अधिक था कि वे महिलाओं और किन्नरों की तस्करी में भी लिप्त थे।[151] समराइच्चकहा एवं कुवलयमाला में सार्थ के साथ यात्रा करने के अनेक प्रसंगों का वर्णन मिलता है। सुरक्षा की दृष्टि से अकेले यात्रा करना इस काल में भी निरापद नहीं था। अतः व्यापारियों के अतिरिक्त अन्य यात्री भी सार्थ के साथ यात्रा में सम्मिलित हो जाते थे। इसके लिये सार्थवाह (यात्रा करने वाले व्यापारियों के समूह का मुखिया) सहयात्रियों को विभिन्न प्रकार की सुविधाओं का प्रलोभन भी दिया करते थे। समराइच्चकहा से विदित होता है कि व्यापार पर जाने से पूर्व व्यापारी ढोल पीट-पीट कर अपने निर्णय की उद्घोषणा करते थे तथा अपने साथ अन्य व्यापारियों से भी चलने का आग्रह किया करते थे। इसके अतिरिक्त व्यापारी अपने साथ ऐसे लोगों को भी रखते थे जो मार्गों से भली-भाँति परिचित थे। ऐसे लोगों को थल नियामक कहा जाता था। थल नियामक नक्षत्रों तथा ज्योतिषीय ज्ञान के आधार पर मार्ग निश्चित किया करते थे। इसी प्रकार समुद्र यात्रा में दिशा का ज्ञान "दिशाकाक" के द्वारा किया जाता था। कुवलयमाला में सार्थवाह द्वारा अपने साथ पर्याप्त संख्या में अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सेना रखने का

भी उल्लेख मिलता है।[152] वामनपुराण में शाकल के व्यापारियों को सौराष्ट्र जाते समय मरूभूमि (रेगिस्तान) में लूटने का उल्लेख मिलता है। कतिपय सामन्तों द्वारा भी सार्थवाहों को लूटे जाने के प्रमाण अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। चौहानों की नाडौल शाखा के संस्थापक लक्ष्मण द्वारा अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने से पूर्व व्यापारियों से घोड़े लूटे जाने का उल्लेख प्राप्त हाता है।[153] इस प्रकार की लूटपाट को रोकने के प्रयासों का भी उल्लेख अभिलेखों में मिलता है। वि.सं.1198 के नाडौल लेख[154] से विदित होता है कि धालौप गाँव में 16 ब्राह्मणों की एक समिति बनाई गई तथा गाँव को आठ भागों में विभाजित किया गया। यह समिति चोरी, डकैती एवं भाट (तत्कालीन समय में सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर घोड़ों पर लादकर ले जाने वाले तथा घोड़ों के व्यापारी) तथा बणिजारक (बैलों के माध्यम से सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने वाले तथा बैलों के व्यापारी) के साथ यदि कोई लूटपाट करता तो यह समिति अपराधी का पता लगाती थी। लेख में लुप्त वस्तु का पता लगाने में होने वाले खर्च, शस्त्र तथा चौकीदार का प्रबंध महाराजा रायकपाल द्वारा करने का वर्णन मिलता है।

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में सामुद्रिक मार्गों के द्वारा व्यापार का उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु तत्कालीन साहित्य में इसके उल्लेख प्राप्त होते हैं। कुवलयमाला में सोपारिक से चीन, सोपारक से तिब्बत, सोपारिक से रत्नद्वीप आदि अन्य जलमार्गों की सूचना मिलती है। समराइच्चकहा में वैजयन्ती तथा ताम्रलिप्ति नामक प्रसिद्घ बंदरगाहों से भारत के बाहर महाकटाह द्वीप, चीन द्वीप, सिंहल द्वीप, सुवर्ण द्वीप एवं रत्नद्वीप आदि के लिये प्रस्थान करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[155]

समराइच्चकहा में व्यापारियों द्वारा भाण्ड (बर्तन) साथ ले जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं जो विभिन्न धातुओं, सिक्कों एवं अन्य सामग्री के होते थे।[156] मार्कोपोलो के अनुसार भारतीय व्यापारी अपने साथ मसाले, कीमती पत्थर, मोती, सिल्क के कपड़े और स्वर्ण आदि व्यापारिक सामग्री लेकर चलते थे। चीन से सिल्क के कपड़े तथा स्वर्ण प्राप्त किया जाता था। चीनी सिल्क को चीनांशुक नाम से जाना जाता था।[157] राजस्थान के व्यापारियों के व्यापारिक सम्बन्ध कूची, कालहस्त, जावा और होमुर्ज जैसे देशों के साथ थे। जालौर देशी एवं विदेशी वस्तुओं की प्राप्ति का प्रमुख केन्द्र था।[158]

व्यावसायिक संघ-श्रेणी

व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्र में राजकीय नियंत्रण प्रारम्भ होने से पूर्व ऐसे अनेक गैर-राजकीय संगठन थे जो अपने-अपने क्षेत्रों में व्यापार का स्वयं नियंत्रण करते थे। इन संगठनों में सर्वप्रमुख श्रेणी नामक संगठन था जो किसी एक ही व्यवसाय में लगे उन लोगों का समूह था जो एक ही जाति के न होकर विभिन्न जातियों के हो सकते थे। साहित्य एवं अभिलेखों में स्वर्णकार, लोहार, बढ़ई, माली, चर्मकार, रंगरेज, कुम्हार, नाई, टोकरी बनाने वाले, दर्जी जैसे अपने-अपने रोजगारों में निष्णात लोगों के संगठनों की चर्चायें आती हैं जिनके प्रधानों को या तो ज्येष्ठक अथवा प्रमुख कहा जाता था। श्रेष्ठी (सेठ) नामक ऐसे अनेकानेक धनवान एवं सम्पन्न लोगों के उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राप्त होते हैं जो किसी न किसी उद्योग अथवा व्यवसाय के प्रधान होते थे। व्यापारिक क्षेत्रों में श्रेणियों के अनेक कार्यों का ज्ञान प्राप्त होता है। श्रेणियों में जो विधान अथवा व्यापारिक नियम कालक्रमानुसार विकसित हुए उन्हें राजकीय मान्यता प्राप्त थी। ज्येष्ठक अथवा श्रेणी मुख्यों की आज्ञाओं का पालन श्रेणी के सभी सदस्यों द्वारा आवश्यक था। अतः राजदरबारों में उनकी प्रतिष्ठा थी। श्रेणियाँ प्रायः बैंकों का काम करती थीं। ऋण देना, दान प्राप्त करना तथा अपने पास रखे हुए धन पर सूद देना आदि इनके प्रमुख कार्य थे। कतिपय नगरों में विभिन्न व्यवसाय के लोगों के लिए पृथक-पृथक बाजारों की व्यवस्था के प्रमाण प्राप्त होते हैं। "कथाकोष प्रकरण" से विदित होता है कि नगरों में पूतिकापण (मिष्ठान बाजार), मद्यापण (शराब बाजार) और दोषिहट्ट (कपड़ा बाजार) पृथक-पृथक हुआ करते थे।[159] फल-फूल, सुगन्धित पदार्थों, रत्न, वस्त्र, अनाज, दाल, घी-दूध, दही, तेल आदि के विक्रेताओं की दुकानें होती थीं। बाहर से आने वाले व्यापारी क्रय-विक्रय की सूचना अपने व्यवसाय से संबंधित श्रेणी को देते थे।

प्रारम्भ में रेढ़, नलियासर, नगर औद्योगिक केन्द्र थे। यहाँ के लोग विभिन्न शिल्प एवं व्यवसायों में संलग्न थे। कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाते, सुनार विभिन्न प्रकार के आभूषण और धातु के सिक्कों के निर्माण में संलग्न थे। लोहार लोहे के औजार, हथियार और बर्तन बनाते थे। उत्खनन में बड़ी संख्या में धुरी, चक्र एवं सुइयों की प्राप्ति हुई है। 7वीं-8वीं शताब्दी के बाद नगरों एवं कस्बों में शिल्प एवं व्यवसायों की संख्या में

पर्याप्त वृद्धि हुई। प्रत्येक कस्बे में बिक्री के लिए और आने- जाने की वस्तुओं पर कर वसूलने के लिए कस्टम हाउस हुआ करते थे।[160] सामान्यतः कस्टम हाउस से धन दान और धार्मिक कार्यों पर खर्च किया जाता था। कान्हडदेप्रबन्ध में जूते बनाने वाले, छीपी, दर्जी, धातु का काम करने वाले, हाथी दाँत का काम करने वाले, अंगीठी बनाने वाले, कुम्हार, जौहरी, मछुआरे, कारवां व्यापारी, तेली, टोकरी बनाने वाले, फूल विक्रेता एवं नाई आदि का उल्लेख मिलता है।[161] ये सभी संघों में संगठित थे और अपने कार्य स्वयं करते थे। हर्ष संवत् 263 के कामाँ अभिलेख[162] में कुम्हारों, मालियों एवं शिल्पकारों की श्रेणियों का विवरण मिलता है। वि.सं.1024 के दियाना के शांतिनाथ मंदिर के अभिलेख[163] में शिल्पियों की गोष्ठी का उल्लेख मिलता है। वि.सं.1084 के शेरगढ़ अभिलेख[164] में तेलियों की श्रेणी के थीयक नामक प्रमुख द्वारा मंदिर को दान देने का उल्लेख मिलता है।

सिक्के

पुरातात्विक प्रमाणों से यह सिद्घ होता है कि राजस्थान के प्राचीन शहरों में सिक्कों का उपयोग बहुत पहले से होता रहा क्योंकि इनके निर्माण के लिए धातु यहाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। बड़ी मात्रा में आहत सिक्के राजस्थान के विभिन्न प्राचीन नगरों एवं कस्बों से प्राप्त हुए हैं जिससे स्पष्ट है कि ग्रामीण क्षेत्रों में भले ही वस्तु विनिमय का प्रचलन रहा हो लेकिन नगरों एवं कस्बों में विनिमय का माध्यम सिक्के ही थे। रेढ़, नगर, नगरी आदि स्थानों पर टकसाल थीं।[165] प्रारंभिक मध्ययुग में भीनमाल में सिक्कों का निर्माण किया जाता था। बाद के समय में नागौर, नहहड, पाली एवं बैराट आदि स्थानों पर टकसाल स्थापित थीं। शिवि, मालव, यौधेय, आर्जुनायन एवं गुप्त शासकों के सिक्के विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं।[166]

व्यापार एवं वाणिज्य का जैसे-जैसे विकास हुआ, सिक्कों का महत्व एवं आवश्यकता बढ़ती गई। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में अनेक स्थानों पर सिक्कों का उल्लेख प्राप्त होता है। लेखों में द्रम्म, विंशोपक, रूपक, पण एवं वोजरी के उल्लेख प्राप्त होते हैं। साहित्यिक कृतियों एवं अभिलेखों में द्रम्म के लगातार उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि द्रम्भ चाँदी का मुख्य सिक्का था। अन्य सभी सिक्कों का मूल्य इसके द्वारा ही समायोजित किया जाता था। द्रम्भ का उल्लेख कभी-कभी प्रचलनकर्त्ता राजा के नाम

पर भी किया जाता था। 676 ई. में लिखित निशीथकूर्णी से विदित होता है कि उस समय श्रीमाल (भीनमाल) में चाँदी के सिक्कों को जारी करने वाले शासक के नाम पर वर्मलात द्रम्म के नाम से जाना जाता था।[167] आर.सी. अग्रवाल ने व्याघ्रमुख को वर्मलात की ही एक उपाधि माना है।[168] प्रतीहार नरेश भोज द्वारा श्रीमती आदिवराह द्रम्म द्वारा जारी किये गये जिनके अग्रभाग पर वराहावतार एवं पृष्ठ भाग पर श्रीमदादिवराह का अंकन है, ऐसे सिक्के बघेरा से प्राप्त हुए हैं। हर्ष संवत् 289 के दधिमाता अभिलेख,[169] वि.सं.1010 के सारणेश्वर अभिलेख,[170] वि.सं.1030 के हर्षनाथ अभिलेख,[171] वि.सं.1209 के किराडू लेख,[172] वि.सं.1212 के भगवानपुरा अभिलेख,[173] वि.सं.1212 के कीर्तिपाल के ताम्रपत्र[174] आदि में विभिन्न संदर्भों में द्रम्म का उल्लेख प्राप्त होता है। कतिपय अभिलेखों में अजयदेव मुद्रा का भी उल्लेख प्राप्त होता है जो अजमेर के चौहान नरेश अजयदेव द्वारा 12वीं शताब्दी में प्रचलित किये गये थे। वि.सं.1225 के मेनाल अभिलेख से विदित होता है कि माथुर कायस्थ ठाकुर विल्हण एवं उनके भाई धनेश्वर द्वारा महारानी सुहावदेवी द्वारा निर्मित सुहावेश्वर मंदिर के लिये पारोली गाँव की आय में से प्रतिवर्ष 20 द्रम्म अजयदेव को दिये जाते थे।[175] वि.सं.1228 के धौड़ अभिलेख[176] में उल्लेख मिलता है कि कर्णिक ब्राह्मण महन्त चाहड़ ने अपना मकान 16 अजयदेव द्रम्म में बेचा था। इन सिक्कों को पृथ्वीराज विजय महाकाव्य में अजयप्रिया-रूपक के नाम से अविहित किया गया है।[177] ये सिक्के चाँदी एवं ताँबे दोनों में ही ढाले जाते थे। इनके अग्रभाग पर आसनस्थ देवी का अंकन है। ऐसी मान्यता है कि इन सिक्कों को उसकी रानी सोमलदेवी द्वारा प्रचलित किया गया था।

पुराण प्रबन्ध संग्रह में भीमप्रियद्रम्म का उल्लेख मिलता है जो जिनकी पहचान द्रव्यपरीक्षा के भीमपुरी सिक्कों से की जा सकती है।[178] भीमप्रिय विंशोपक का उल्लेख वि.सं.1352 के सामन्तसिंह के जूना बहदमेरा अभिलेख[179] में मिलता है।

पारूथ

तत्कालीन समाज में प्रचलित मुद्राओं में एक नाम पारूथ का भी था। साहित्यिक साक्ष्यों से विदित होता है कि पारूथ द्रम्म का प्रचलन जालौर, भीनमाल एवं चित्तौड़ जैसे प्राचीन नगरों में था।[180] खरतरगच्छ पट्टावली से विदित होता है कि मालवा का नरवर्मन

(1094-1133ई.) चित्तौड़ के दो खरतर मंदिरों की व्यवस्था के लिए 3 लाख परूत्थ द्रम्म अथवा तीन गाँव देने को तैयार था लेकिन बाद में दो परूत्थ द्रम्म ही स्वीकार किये गये।[181] पुरातन प्रबन्ध संग्रह पारूत्थ का मूल्य 8 साधारण द्रम्भ के बराबर था। लेखपद्धति से विदित होता है कि पारूत्थ द्रम्म श्रीमालीय (भीनमाल) की टकसाल में तैयार किया जाता था।[182] चित्तौड़ से प्राप्त वि.सं.1028 के एक अभिलेख[183] में नरवर्मा द्वारा महावीर जिनालय के लिये 2 पारूत्थ दिये जाने का उल्लेख मिलता है।

रूपक

उपमितिभवप्रपंचकथा से प्रतीत होता है कि रूपक सबसे अधिक प्रयोग में लाया जाने वाला सिक्का था। रूपक का उल्लेख वि.सं.1053 के बीजापुर शिलालेख[184] तथा वि.सं.1213 के नाडौल लेख[185] में हुआ है। पृथ्वीराज विजय से विदित होता है जो द्रम्म अजयराज ने प्रचलित किये, वे कालान्तर में रूपक कहलाये।[186] वि.सं.1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति[187] से विदित होता है कि मंदिर के निर्वाह हेतु वहाँ से गुजरने वाले हाथी पर एक द्रम्म तथा अश्व पर दो रूपक लिये जाने का उल्लेख मिलता है। इस उल्लेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्रम्म एवं रूपक भिन्न-भिन्न मुद्रायें थीं तथा रूपक का मूल्य द्रम्म से कम था। गणितसार पर श्रीधर के अनुसार पाँच रूपक का मूल्य एक द्रम्म के बराबर था। इस प्रकार 13.5 ग्रेन भार वाले चाँदी के सिक्कों को रूपक माना जा सकता है।[188]

विंशोपक

विंशोपक भी एक सिक्का था जो भीनमाल, राजोरगढ़, नादलाई, नाणा एवं हर्षनाथ आदि नगरों में पर्याप्त लोकप्रिय था। ई.सन् 1182 के भीनमाल अभिलेख[189] से स्पष्ट होता है कि यह एक सिक्का था जिसका मूल्य द्रम्म से बहुत कम था। लेख में प्रत्येक द्रम्म पर एक "वि" (विंशोपक) कर का उल्लेख हुआ है। डी.आर. भण्डारकर ने विंशोपक को एक ताँबे के सिक्के के रूप में माना है जिसका मूल्य एक द्रम्म के 1/20वें हिस्से के बराबर था।[190] ठक्कुर फेरू के ग्रन्थसार में एक द्रम्म को 20 विंशोपक के बराबर माना है। वी.वी. मिराशी का सुझाव है द्रम्म का 20वां भाग होने के कारण इसे विंशोपक नाम दिया गया।[191] मथनदेव के वि.सं.1016 के राजोरगढ़ शिलालेख[192] में नीलकंठ मंदिर के खर्चों

को पूरा करने के लिए बाजार में बिक्री के लिए लाये गये प्रत्येक बोरे पर 3 विंशोपक तथा प्रत्येक दुकान से प्रति माह 2 विंशोपक शुल्क लेने का उल्लेख मिलता है। वि.सं.1195 के नदलाई शिलालेख[193] नाडौल के रायपाल देव के सामन्त नडुलाई के ठाकुर राज्यपाल देव ने अपनी माता के लिये आयोजित रथयात्रा के समारोह के अवसर पर प्रत्येक तेल मिल से एक विंशोपक प्रदान करने का उल्लेख मिलता है। कतिपय अभिलेखों में विंशोपक एवं द्रम्म दोनों के ही उल्लेख प्राप्त होते हैं। वि.सं.1030 के हर्षनाथ शिलालेख[194] से विदित होता है कि शाकम्मरी के व्यापारियों ने नमक की प्रत्येक ढेरी पर एक विंशोपक तथा एक घोड़े की बिक्री पर एक द्रम्म देने का विवरण मिलता है। नाणा से प्राप्त वि.सं.1257 के एक अभिलेख[195] में गौड़ कायस्थ उदयसिंह द्वारा ब्राह्मणों की कपिला (गौशाला) में 33 द्रम्म तथा 6 विंशोपक दानस्वरूप प्रदान करने का उल्लेख मिलता है।

लोहतिक

वि.सं.1205 के अल्हणदेव के अभिलेख में लोहतिक का उल्लेख मिलता है जो सम्भवतः ताँबे का बड़े आकर का सिक्का होता था।[196] दशरथ शर्मा की यह मान्यता है कि संभवतः लोहड़ नामक स्थान से प्रचलित किये जाने के कारण इसका नाम लोहतिक पड़ा।[197]भीनमाल अभिलेख में "लो" शब्द लोहतिका प्रतीत होता है। गणितसार पर श्रीधर की टीका में चार लोहतिक का मूल्य एक रूपक के बराबर बताया गया है।[198] डी.आर. भण्डारकर ने विंशोपक एवं लोहतिक का मूल्य समान माना है।[199]

वोदरी

11वीं शताब्दी के शेरगढ़ के सोमनाथ मंदिर से प्राप्त लेख में वोदी का उल्लेख प्राप्त होता है।[200] अल्तेकर ने इसे वोदरी मानते हुए इसे ताँबे के पण का चौथाई भाग माना है।[201] लल्लनजी गोपाल ने वोदी को सिक्के के स्थान पर द्रव्य के मूल्य का बोधक माना है।[202]

कर्ष एवं पण

उद्योतनसूरि के समय कर्ष तौल एवं मुद्रा दोनों के लिये प्रयुक्त होता था।[203] इस

तथ्य की पुष्टि अभिलेखों से भी होती है। मण्डोर से प्राप्त 9वीं शताब्दी के एक अभिलेख में स्थानीय केशव मंदिर को एक कर्ष तेल देने का उल्लेख है[204] वहीं दूसरी ओर हस्तिकुण्डी अभिलेख में जुआरियों तथा पान एवं तेल विक्रेताओं से एक कर्ष वसूला जाता था।[205] इससे स्पष्ट है कर्ष नामक मुद्राओं को कर के रूप में प्राप्त किया जाता था।

भोजदेव के कामाँ अभिलेख में पण एवं द्रम्म दोनों का एक साथ उल्लेख प्राप्त होता है।[206] पण ताम्र मुद्रा थी। द्रव्य परीक्षा (1327ई.) में 16 पण को एक रजत द्रम्म के बराबर माना गया है। लीलावती में बीस बराटक (कौड़ी) को एक काकिणी और चार काकिणी को एक पण के बराबर माना है।[207]

सिक्कों का वास्तविक मूल्य उसमें प्रयुक्त होने वाली विभिन्न धातुओं की निश्चित मात्रा के आधार पर आंका जाता था। इसलिए उस काल में प्रायः किसी भी राजा अथवा राज्य के सिक्के को किसी व्यापारिक विनिमय अथवा वितरण में स्वीकार करने से पूर्व उसके धातुगत मूल्य की विधिवत जाँच की जाती थी। वि.सं.1228 के धौड़ से प्राप्त एक अभिलेख में घोड़ों की बिक्री के लिए अजयदेव की शासन मुद्रायुक्त 16 द्रम्मों को केवल परीक्षण के उपरान्त ही स्वीकार किया गया था। लेख पद्धति में प्रायः त्रिपरीक्षित सिक्कों का उल्लेख आता है। कालांतर में ठक्कुर फेरू कृत "द्रव्यपरीक्षा" में न केवल सिक्कों की धातुओं की जाँच के बारे में अपितु अन्य आभूषणादि की धातुओं की परीक्षा का भी सविस्तार उल्लेख आता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि हमारे अध्ययनकाल में मुख्य आर्थिक आधार कृषि तथा तत्सम्बन्धी उद्योग थे। साहित्य तथा अभिलेखों से भूमि पर सामुदायिक, व्यक्तिगत एवं राजकीय स्वामित्व के प्रमाण प्राप्त होते हैं। प्रारंभ में सामुदायिक स्वत्व था लेकिन राज्य संस्था के पूर्ण रूप से विकसित होने पर भी सामूहिक अधिकार का बोध पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ किन्तु जैसे-जैसे राज्य शक्तिशाली होता गया, उसका हस्तक्षेप बढ़ता गया तथा प्रकृति द्वारा प्रदत्त सभी सुविधाओं का वह स्वामी बन गया। अभिलेखों में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। जब सामाजिक जीवन में वैयक्तिक भावना को प्रधानता दी जाने लगी, तब राजा के भूस्वामित्व के सिद्घान्त के साथ निजी स्वामित्व का सिद्घान्त भी प्रतिपादित किया जाने लगा। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में कृषि योग्य भूमि, बाग-बगीचों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं।

राजा सम्पूर्ण राज्य का रक्षक होने के कारण भूमि पर कर अवश्य लगा सकता था। अभिलेखों में राजाओं के अतिरिक्त व्यक्तिगत लोगों तथा सामुदायिक संस्थाओं द्वारा भूमिदान के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं, उनमें दानग्रहीता या तो कोई विद्वान् ब्राह्मण या पुरोहित या जैन अथवा बौद्ध संघ अथवा कोई मंदिर जैसी सांस्कृतिक सामाजिक संस्था थी। इन दानों का उद्देश्य दानकर्त्ता द्वारा अपने दान से पुण्य लाभ की कामना होती थी और दान प्राप्तकर्त्ता नित्य प्रति के व्ययों को चलाने पर केन्द्रित था। राजा के भूस्वामित्व सम्बन्धी अधिकार अत्यन्त व्यापक थे। राज्य के भूस्वामित्व एवं राजा के भूस्वामित्व में स्पष्ट अन्तर दर्शित होता है। राजा भूमिदान देते समय अपने तथा अपने माता-पिता के पुण्य व यश की कामना करता था न कि राज्य के कल्याण व यश की। सामुदायिक भूमि को निजी सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी। राजकीय पदाधिकारियों को राजसेवा के बदले वेतन के स्थान पर भूमि देने से सामन्तवाद को प्रोत्साहन मिला।

कृषि उपज के रूप में भूमि विभिन्न अनाज, दालों एवं नमक उत्पादन के उल्लेख अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। अनाज एवं दालों के अतिरिक्त ग्राम्य अर्थव्यवस्था में घी-दूध एवं ऊन का भी महत्वपूर्ण स्थान था। अभिलेखों में रवि एवं खरीफ दोनों ही फसलों का उल्लेख प्राप्त होता है। कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के अन्य व्यवसायों का भी उल्लेख मिलता है, उनमें से अधिकांश श्रेणियों में विभक्त थे। कृषि के लिए सिंचाई के विभिन्न साधनों यथा-कूप, तड़ाग, बावड़ी, नहर आदि बनवाने के अनेक प्रमाण अभिलेखों में प्रभूत मात्रा में प्राप्त होते हैं।

कृषि, पशुपालन एवं विभिन्न शिल्पों के अतिरिक्त व्यापार एवं वाणिज्य से भी लोग अपना जीविकोपार्जन करते थे। प्रारंभ में नगरों की संख्या सीमित थी लेकिन 7वीं-8वीं शताब्दी से व्यापार एवं वाणिज्य के विकास के साथ ही अनेक नये नगरों एवं कस्बों का विकास हुआ। इन नगरों में कुछ राजनीतिक महत्व के कारण, कुछ व्यापारिक महत्व के कारण तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्व के कारण विकसित हुए।

अनेक ऐसे गैर-राजकीय संगठनों के भी प्रमाण प्राप्त होते हैं जो अपने-अपने क्षेत्रों में व्यापार का स्वयं नियंत्रण करते थे जिनमें श्रेयी नामक संगठन प्रमुख था जो किसी एक ही व्यवसाय में लगे ऐसे लोगों का समूह था जो एक ही जाति न होकर विभिन्न

जातियों के थे। विभिन्न व्यवसायों के लोगों के लिए पृथक-पृथक बाजारों की व्यवस्था होती थी। इनसे चुंगी वसूल की जाती थी। चुंगी से प्राप्त धन से दान एवं अन्य धार्मिक कार्यों पर व्यय किया जाता था। व्यापार एवं वाणिज्य का जैसे-जैसे विकास हुआ, सिक्कों की आवश्यकता एवं महत्व बढ़ा। विभिन्न प्रकार के सिक्कों का उल्लेख तत्कालीन साहित्य एवं अभिलेखों में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इस प्रकार सारांश में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक जीवन पर्याप्त समृद्ध था।

संदर्भ

1. ऋग्वेद, 10.75.5-6
2. दुबे, एस.एन, जर्नल ऑफ दि राजस्थान इंस्टीट्यूट ऑफ हिस्टोरिकल रिसर्च, वाल्यूम 3(II, 1996) पृ.19-20
3. पाण्डेय, जे.एन, भारत की प्रारंभिक संस्कृतियाँ तथा सभ्यताएँ, पृ. 72
4. त्रिगुणायत, सतीश, प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म-एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण, पृ. 34
5. इण्डियन आर्क्यलॉजिकल-ए रिव्यू, 1968-69 पृ. 29-31
6. पाण्डेय, जे.एन. पुरातत्त्व विमर्श, पृ. 312-313
7. ऋग्वेद 1.35.6
8. वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड, 22,32-33
9. जैन, के.सी. एन्शेन्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ. 8
10. ऋग्वेद 1.117.21
11. वही 10.23
12. वही 10.101.34
13. वही 10.131.2
14. माता भूमिः पुत्रोडहम् पृथिव्याः अथर्ववेद 12.1.12
15. स्मिथ, वी.ए. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ 137 एवं आगे।
16. द्रष्टव्य, पाठक, विशुद्धानंद, प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास, पृ. 90 एवं आगे।
17. द्रष्टव्य, गोपाल लल्लनजी, दि इकोनमिक लाइफ ऑफ नॉदर्न इण्डिया, मैती, एस.के., इकोनमिक लाइफ ऑफ नाॅदर्न इण्डिया इन दि गुप्ता पीरीयड, अल्तेकर, ए.एस. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, सिंह, आर.सी.पी., किंगशिप इन नॉदर्न इण्डिया।
18. 6.7.3 उद्धृत व्यास, एस.पी., राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 137.
19. कीलहर्न, एफ, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 5, पृ. 208-213
20. श्रीमाली, जी.एल. राजस्थान के अभिलेख, वॉल्यूम 1, पृ. 54-56
21. ओझा, जी.एच. बाँसवाड़ा राज्य का इतिहास, पृ. 21-22, हुल्तज ई. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11, पृ. 181-183
22. श्रीमाली, जी.एल. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 150-151

23. हुल्तज ई., एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम 1, पृ. 154 एवं आगे।

24. आपस्तम्ब - धर्मसूत्र 6.18

25. अर्थशास्त्र 2/23

26. नारद स्मृति 9/42

27. अल्तेकर, ए.एस. स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एन्शेंट इण्डिया, पृ. 48 एवं आगे।

28. लाल, अंगने, संस्कृत बौद्ध साहित्य में इतिहास और संस्कृति, पृ. 67

29. द्रष्टव्य पूर्व मीमांसा पर शबर की टीका, षष्ठ 7.3

30. अल्तेकर, ए.एस. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 27, पृ. 252-267

31. दृष्टव्य व्यास, एस.पी., राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 139

32. मिश्र, आर.एल., इंशक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, वाल्यूम 2, पृ. 26

33. भण्डारकर, डी.आर., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम11, पृ. 51-52

34. श्रीमाली, जी.एल., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 196

35. ओझा, जी.एच., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम14, पृ. 176-188

36. कीलहर्न, एफ. एपिग्रैफिया इडिका वाल्यूम3, पृ. 263-267.

37. शेखावत, सुरजनसिंह, शेखावाटी के शिलालेख-एक अध्ययन, पृ. 23-45

38. कोनो स्टेन, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम10, पृ. 76-78

39. श्रीमाली, जी.एल. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 56-57

40. वही, पृ. 62-63

41. वही, पृ. 78-79

42. वही, पृ. 80

43. रामकरण, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम11, पृ. 308-311

44. मुनि जिनविजयी, प्राचीन जैन लेख संग्रह, भाग 2, पृ. 258-259

45. श्रीमाली जी.एल., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 146-150

46. व्यास. एस.पी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 143

47. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम11, पृ. 47

48. वही, वाल्यूम 24, पृ. 381

49. शर्मा, दशरथ, मरू-भारती 9(4), 1962 पृ. 63-67

50. श्रीमाली, जी.एल., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 150

51. भण्डारकर डी.आर. प्रोग्रेस रिपोर्ट, आर्क्यलॉजिकल सर्वे वेस्टर्न सर्कल 1908-09, पृ. 53
52. भण्डारकर, डी.आर., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम11, पृ. 47
53. प्रोग्रेस रिपोर्ट, वेस्टर्न सर्कल, 1908-09, पृ. 50
54. हुल्तज, ई., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम11, पृ. 181-182
55. विद्यालंकार, पी.एन., ए स्टडी इन दि इकोनोमिक कंडीशंस ऑफ एन्शेंट इण्डिया, पृ. 83
56. भण्डारकर, डी.आर., पूर्व निर्दिष्ट पृ. 29
57. नाहर, जैन लेख संग्रह,- भाग-1, पृ. 231
58. ओझा, जी.एच. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम14, पृ. 182
59. द्रष्टव्य, त्रिगुणायत, एस.के., प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म - एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण, पृ. 35
60. पाण्डेय, जे.एन., भारत की प्रारंभिक संस्कृतियाँ तथा सभ्यताएँ, पृ. 256
61. वही, पृ. 255
62. जैन, प्रेमसुमन, कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 136.
63. श्रीमाली, जी.एल., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 177
64. रामकरण एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम10, पृ. 24.
65. शर्मा, दशरथ, प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कॉग्रेस, 1961, पृ. 60-62
66. श्रीमाली, जी.एल., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 45
67. वही, पृ. 179-180
68. सोमानी, आर.वी. जैन इंशक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, परिशिष्ट1, अभिलेख सं.2
69. भण्डारकर, डी.आर. एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम11, पृ. 29
70. वही, पृ. 50
71. श्रीमाली, जी.एल. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 173-174
72. गहलोत, एम.एस., पुरोहित एस.के., शर्मा नीलकमल राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, पृ. 163
73. उद्धृत, व्यास, एस.पी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 149
74. कीलहर्न, एफ. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम2, पृ. 118-119
75. रामकरण, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम10, पृ. 17-20
76. माथुर, दुर्गालाल, राजस्थान के चौहान अभिलेख, पृ. 40
77. शर्मा, जी.एन. राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ. 48-49
78. हलदर, आर.आर. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 20, पृ. 97-99

79. अल्तेकर, ए.एस., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 27, पृ. 252-265
80. फ्लीट., जे.एफ. कार्पस इंशक्रिप्शनम, इण्डिकेरम, वाल्यूम 3, पृ. 72-78
81. मिश्र, रतन लाल, इंशक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, वाल्यूम 4, पृ. 13-14
82. दास श्यामल, वीर विनोद, भाग1, पृ. 378-388
83. भण्डारकर, डी.आर. एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम 9, पृ. 277-281
84. मिश्र, आर.एल. इंशक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, वाल्यूम1, पृ. 122-123
85. अल्तेकर, ए.एस. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 252-265
86. शर्मा, एम.एल., कोटा राज्य का इतिहास, खण्ड1, परिशिष्ट प्रथम।
87. अल्तेकर, ए.एस. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम26, पृ. 118-123
88. पाण्डेय, राजबली, हिस्टोरिकल एण्ड लिटरैरी इंशक्रिप्शंस, पृ. 216-222
89. इन्द्रजी, भगवानलाल, इण्डियन एण्टीक्वेरी वाल्यूम 10(1881), पृ. 34-36
90. रामकरण, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम10, पृ. 17-20
91. ओझा, जी.एच., एपिग्रैफिया इण्डिका, 14, पृ. 182-188
92. द्रष्टव्य, व्यास, एस.पी., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 150
93. द्रष्टव्य सोमानी आर.वी. "राजस्थान के शिलालेखों का वर्गीकरण" (सम्पा-दशरथ शर्मा) अगरचन्द नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 126
94. ओझा, जी.एच. जोधपुर राज्य का इतिहास (प्रथम भाग), पृ. 36
95. श्रीमाली, जी.एल., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 59-60
96. मिराशी, वी.वी., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम24, पृ. 329-336
97. द्रष्टव्य, गहलोत एस.एस., पुरोहित, एस.के.शर्मा, नीलकमल, राजस्थान के अभिलेख, पृ. 164
98. जिनविजय, "प्राचीन जैन लेख संग्रह" भाग 2, पृ. 201-203
99. दास, श्यामल, वीर विनोद, भाग1, पृ. 381 एवं आगे
100. गोयल, एस.आर., प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख (550 से 750 ई.), पृ.184- 185
101. सरकार, डी.सी., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 36, पृ. 49-51
102. सरकार, डी.सी., सेलेक्ट इंशक्रिप्शंस, वाल्यूम 2, पृ. 236-241
103. भण्डारकर, डी.आर., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ. 280
104. बनर्जी, आर.डी., एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम 22, पृ. 120-127
105. जिनविजय मुनि, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 201-203

106. वही, पृ. 346
107. कुमार कृष्ण एवं शास्त्री हरिदत्त, ऋग्वेद.7.49.2 (ऋक् सूक्त संग्रह)
108. मैकडोनल, ए.ए. (अनु. राय, रामकुमार), वैदिक पुराकथा शास्त्र, पृ. 46
109. दृष्टव्य, उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, पृ. 158
110. कीलहर्न, एफ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 8, पृ. 42
111. गोयल, एस.आर., गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 223-247
112. गोयल, एस.आर., प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड1, पृ. 359-382
113. उपाध्याय, वासेदव, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 159
114. अल्तेकर, ए.एस., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 27, पृ. 252-265
115. अग्रवाल, आर.सी., नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष61(1), सं.2013, पृ. 27
116. फ्लीट, जे.एफ., भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड3, पृ. 90-97
117. जुगनू, एस.के. राजस्थान के प्राचीन अभिलेख, पृ. 41-43
118. मजूमदार, आर.सी., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम18, पृ. 87-89
119. कृष्णचन्द्र, शोध-पत्रिका, वर्ष13 अंक3 (1962), पृ. 24-26
120. ओझा, जी.एच. ओझा निबन्ध संग्रेह, भाग4, पृ. 1-21
121. दृष्टव्य, गहलोत एस.एस., पुरोहित, एस.के. शर्मा, नीलकमल, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.164
122. वही, पृ. 174-176
123. ओझा, जी.एच., सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 28-32
124. रामकरण, जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसायटी, वाल्यूम23 (1969), पृ. 75-80
125. शर्मा, जी.एन., राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ. 74.
126. पृथ्वीराज विजय 6.21-25
127. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ. 72.
128. गोयल, एस.आर., प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड-1, पृ. 181
129. राय, यू.एन., हमारे पुराने नगर, पृ. 11
130. वही
131. सरकार, डी.सी., सेलेक्ट इंशक्रिप्शंस, वाल्यूम2, पृ. 236-241.
132. फ्लीट, जे.एफ. भारतीय अभिलेख संग्रह खण्ड3, पृ. 90-97
133. लाला, सीताराम, हिस्ट्री ऑफ सिरोही राज, पृ. 36

134. श्रीमाली, जी.एल., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 27-28
135. त्रिगुणायत, एस.के., शर्मा रेखा देवी, "उत्तर भारत के मार्ग एवं व्यापारिक केन्द्र : प्राचीन राजस्थान के विशेष सन्दर्भ में" (सम्पा) पाण्डे, राम, ट्रेड रूट्स एण्ड ट्रेड सेन्टर्स इन एन्शेंट एण्ड मेडीकल इण्डिया, पृ. 180-190
136. भट्ट, जनार्दन, अशोक के धर्मलेख, पृ. 33-34,
137. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ. 26
138. जैन, के.सी. एन्शेंट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ. 513
139. त्रिगुणायत, एस.के., प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म-एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण, पृ. 42
140. अग्रवाल, वी.एस., इण्डिया इज नोन टू पाणिनि, पृ. 16
141. ह्वेनसांग का भारत भ्रमण, पृ. 180-181, 631-634
142. दृष्टव्य त्रिगुणायत, एस.के. एवं शर्मा, रेखा देवी, प्राचीन राजस्थान में धार्मिक जीवन
143. जैन, के.सी. पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 498
144. वही
145. जुगनू, श्रीकृष्ण, राजस्थान के प्राचीन अभिलेख, पृ. 34-35
146. श्रीमाली, जी.एल., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 25-27
147. बनर्जी, आर.डी., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 22, पृ. 120-127
148. भण्डारकर, डी.आर., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11, पृ. 36-37
149. वही, पृ. 32-33
150. अल्तेकर, ए.एस., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 23, पृ. 138.
151. उद्धृत, जैन.के.सी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 499.
152. जैन, प्रेमसुमन, कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 215-216
153. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ. 140
154. श्रीमाली, जी.एल., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 103-105
155. जैन, प्रेमसुमन, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 211
156. यादव, झिनकू, समराइच्चकहा एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 169
157. उद्धृत, वही, पृ. 169-170
158. जैन, के.सी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 500
159. कथाकोष प्रकरण पृ. 87, उद्धृत, व्यास.एस.पी., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 158

160. जैन.के.सी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 498

161. वही, पृ. 499

162. सरकार, डी.सी., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 36, पृ. 53-56

163. सोमानी, आर.वी., जैन इंशक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, सं.3

164. अल्तेकर, ए.एस., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम13, पृ. 138

165. जैन, के.सी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 500

166. त्रिगुणायत, एस.के., प्राचीन राजस्थान में वैष्णव-धर्म-एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण, पृ. 61-64

167. जैन, के.सी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 502

168. अग्रवाल, आर.सी. जर्नल ऑफ न्यूमिसमेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया,वाल्यूम20, पृ. 220

169. रामकरण एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11, पृ. 303-304

170. दास, श्यामल, वीरविनोद, भाग1, पृ. 381 एवं आगे।

171. कीलहर्न, एफ. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 2, पृ. 116-130

172. शर्मा, जी.एन., राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ. 87

173. श्रीमाली, जी.एल., पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 130-131

174. वही, पृ. 135-137

175. एनुअल रिपोर्ट राजपूताना म्यूजियम, अजमेर, 1927-28(3), पृ. 2

176. वही, 1922-23(3), पृ. 2

177. दृष्टव्य, शर्मा दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ. 337.

178. जैन, के.सी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 503

179. भण्डारकर, डी.आर. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम11, पृ. 59-60

180. जैन, के.सी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 504

181. वही

182. वही

183. दृष्टव्य, व्यास, एस.पी., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 164

184. रामकरण एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 10, पृ. 17-24

185. जैन, के.सी., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 504

186. पृथ्वीराज विजय 5.88-89

187. जुगनू, श्रीकृष्ण, राजस्थान के प्राचीन अभिलेख, पृ. 56

188. जैन, के.सी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 505

189. वही

190. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम10, पृ. 19, टिप्पणी 3

191. दृष्टव्य जैन, के.सी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 505

192. कीलहर्न, एफ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 3, पृ. 263

193. भण्डारकर, डी.आर., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 41

194. कीलहर्न, एफ. पूर्वनिर्दिष्ट, वाल्यूम 2, पृ. 116

195. प्रोग्रेस रिपोर्ट, वेस्टर्न सर्किल, 1908, पृ. 49

196. शर्मा, दशरथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 341

197. वही

198. जैन, के.सी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 506

199. उद्धृत, जैन. के.सी. वही

200. अल्तेकर, ए.एस. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 23, पृ. 138

201. वही

202. गोपाल, लल्लनजी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 213

203. जैन, प्रेमसुमन, कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 197

204. एनुअल रिपोर्ट, आर्क्यलाॅजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया 1909-10, पृ.100.

205. रामकरण एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम10, पृ. 17

206. मिराशी, वी.वी. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 24, पृ. 329-336

207. दृष्टव्य, व्यास, एस.पी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 169

अध्याय - अष्टम्

धार्मिक संरचना - वैष्णव धर्म, शैव धर्म, शाक्त धर्म, सौर धर्म, जैन एवं बौद्ध धर्म

अध्याय - अष्टम्

धार्मिक संरचना - वैष्णव धर्म, शैव धर्म, शाक्त धर्म, सौर धर्म, जैन एवं बौद्ध धर्म

भारतीय जन-जीवन आदि काल से ही धर्मगत उत्कण्ठा से अनुप्राणित रहा है जिसमें नैतिक मूल्यों, आचारगत अभिव्यक्तियों तथा जगन्नियंता के प्रति समर्पण की भावना का समावेश था। राजस्थान का समाज भी इसका अपवाद नही था। यहाँ की जीवन सम्बन्धी अनेक संस्थाऐं तथा दैनिक नियम एवं प्रवृतियाँ नैतिक आचरणों से सम्बद्ध रही है। प्रागैतिहासिक काल से ही राजस्थान का सामाजिक जीवन धार्मिक चेतना के प्रति निष्ठावान रहा है।

कालीबंगा के किले की चाहरदीवारी में स्थित चबूतरे वेदियों की कतारें, साधारण बस्तियों के दायरों से प्राप्त पूजाग्रह तथा वेदियों के अवशेष व्यक्तिगत धार्मिक भावनाओं के घोतक है। आहड़ तथा गिलूंड के भाण्डों के भण्डारों में नालीवाले, बैठक वाले तथा गोमुख वाले मिट्टी के बर्तन उस समय पूजा विधि के साधन थे। इन उपकरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि इन घाटियों के नागरिकों में यज्ञकर्त्ताओं का एक वर्ग था जो इन उपकरणों का पूजा, यज्ञ या अर्चना आदि के लिए उपयोग करता था। यज्ञों के माध्यम से प्राचीन काल में देवगणों को प्रसन्न किया जाता था, जो मानव जीवन में सहायक होते थे। देवताओं और मनुष्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में यज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ के माध्यम से हविष अर्पित किया जाता था। दैनिक रूप में सम्पादन किये जाने वाले यज्ञों में अग्निहोत्र तथा पंच महायज्ञ की महिमा थी। अध्ययनकालीन अभिलेखों में त्रिरात्र यज्ञ, षष्टिरात्र यज्ञ, अग्निष्टोम तथा अश्वमेध यज्ञ के उल्लेख हमें मिलते हैं जिनका अध्ययन हम चतुर्थ अध्याय में कर चुके हैं। यज्ञ सम्पादन प्राचीन काल में वैदिक धर्म की अविरलता के घोतक हैं। आज भी राजस्थान में यज्ञों में विश्वास है और प्रतिवर्ष स्थान-स्थान पर इनका आयोजन देखा जाता है।

जिस प्रकार विविध देव-देवियों के अर्चन का महत्व है उसी प्रकार इनके अर्चन तथा श्रद्धा को निर्दिष्ट करने वाले मार्ग तथा आस्था के केन्द्र (तीर्थ) भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। सृष्टि की नियामक शक्ति के प्रति श्रद्धावनत मानव मन ने विविध देवी-देवताओं की उपासना से अनेक

सम्प्रदायों को जन्म दिया। जिनमें, वैष्णव, शैव ,शाक्त, सौर, जैन एवं बौद्ध आदि की गणना की जा सकती है।

वैष्णव धर्म

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में शिव से शैव धर्म , विष्णु से वैष्णव, शक्ति से शाक्त, और सूर्य से सौर आदि धर्मों का उत्कर्ष हुआ। इन्हीं सम्प्रदाओं में से वैष्णव सम्प्रदाय भारतीय धर्म परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

जहाँ याज्ञिक कर्मकाण्ड और शिव शक्ति तथा बलिदानादि प्रथाओं द्वारा आराधना का मार्ग निर्धारित किया गया था वहीं एक वर्ग का मानना था कि परमपद की प्राप्ति आत्मचिन्तन तथा ईश्वर भक्ति से हो सकती है। फलस्वरूप कर्मकाण्ड, यज्ञ और बलिदान की तुलना में इन तत्वविदों द्वारा भक्ति, कीर्तन, नृत्य आदि विधाओं को प्रधानता दी गई और यह मार्ग वैष्णव धर्म व एकान्तिक धर्म के नाम से विख्यात हुआ। हरि या विष्णु को प्रधान देव मानने वाले वैष्णव कहलाने लगे परन्तु वैष्णव मतावलम्बी वैदिक धर्म के विरोधी नहीं थे । वे प्राचीन मर्यादाओं और परम्पराओं को बनाये रखने के साथ-साथ धर्म का निरूपण भक्ति-भाव, तत्वज्ञान, चिन्तन, निष्काम कर्म, आत्म समर्पण आदि सिद्धान्तों द्वारा करते थे।

मथुरा मण्डल में प्रस्फुटित भागवत् अथवा वैष्णव-धर्म का प्रसार राजस्थान के दक्षिणांचल में हुआ। इसकी पुष्टि मध्यमिका एवं अंवलेश्वर से प्राप्त अभिलेखों से होती है।[1] कृत संवत् 282 के नांदसा यूप अभिलेख[2] में विष्णु प्रासाद के निर्माण का उल्लेख तथा कृत संवत् 335 के बर्नाला ग्रूप लेख[3] में यज्ञ दानादि द्वारा भगवान विष्णु के प्रसन्न होने एवं धर्म की वृद्धि होने के वर्णन वैष्णव धर्म के ही पोषक हैं। सवंत 428 ई०सन् 371 के विजयगढ (बयाना) अभिलेख में वरिक कुल के विष्णुवर्धन नामक राजा द्वारा पुण्डरीक यज्ञ करवाये जाने एवं यज्ञ समाप्ति के पश्चात् यूप (याज्ञिक स्तम्भ) स्थापित करवाये जाने का वर्णन है, जो कि वैष्णव प्रभाव का घोतक है ।[4] वि०सं० 480 के गंगधार शिलालेख[5] में विश्ववर्मा के अमात्य मयूराक्षक द्वारा विष्णुमन्दिर, मातृदेवियों के मन्दिर एवं एक बड़े पेयजल युक्त कूप का निर्माण करवाये जाने का विवरण है। लेख में देवोत्थान एकादशी का विवरण है। लेख में देवोत्थान एकादशी को प्रफुल्लता एवं उल्लास का पर्व बताया है। वि०सं० 872 के बुचकला अभिलेख में प्रतिहार नरेश वत्सराज के पुत्र नागभट्ट देव के समय परमेश्वर का मन्दिर बनवाने का विवरण है।[6] यहाँ उल्लेखित परमेश्वर मन्दिर को विद्वानों ने

विष्णु मन्दिर माना है।[7] मण्डोर से प्राप्त 9वीं शताब्दी के अभिलेख में विष्णु वंदना के अतिरिक्त कृष्ण द्वारा राधा एवं गोपियों के साथ रास तथा वामन, वराह एवं नृसिंह आदि अवतारों का उल्लेख है।[8] इसी प्रकार बाउक प्रशस्ति का प्रारम्भ 'ओम् नमो विष्णवे ' मंत्र से हुआ हैं।[9] - वि०सं० 1012 के बयाना अभिलेख[10] में मंगलराज की पत्नी चित्रलेखा द्वारा विष्णु का एक मन्दिर निर्मित करवाने का उल्लेख है। वि०सं० 718 के कुण्डेश्वर महादेव से प्राप्त अभिलेख का प्रारम्भ हरि एवं शौरि के रूप में विष्णु की स्तुति से हुआ है।[11] लेख में सेनापति वराहसिंह की पत्नी द्वारा कैटभरिपु (विष्णु) का मन्दिर बनवाने का उल्लेख है तथा लेख का अन्त भी नमः पुरुषोत्तमाय मंत्र से हुआ है। वि०सं० 1000-1001 के आहाड से प्राप्त अभिलेख[12] तथा 1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति[13] में विष्णु के वराह अवतार के प्रति भक्ति का उल्लेख मिलता है। चाटसू अभिलेख में बालादित्य द्वारा रानी रट्टवा की मृत्यु के पश्चात स्मृति स्वरूप विष्णु का मन्दिर निर्मित करवाने का उल्लेख है।[14]

दुर्भाग्यवश प्राकृतिक विपदाओं एवं मध्यकालीन आक्रान्ताओं की विनाशकारी प्रवृति के कारण अधिकांश देवालय नष्ट हो गये हैं। तथापि चित्तौड़ का कुंभ श्याम मन्दिर (8-9वीं शती)[15] नागदा (उदयपुर) के सास-बहु मन्दिर (10-11वीं शताब्दी)[16]. ईसवाल का विष्णु मन्दिर (12वीं शताब्दी)[17] आदि अपने गौरवपूर्ण अतीत के मूक साक्षी प्रतीत होते हैं। 8वीं शताब्दी के कामां से प्राप्त लेख में शूरसेन वंशीय शासक वत्सदामन की पितामही द्वारा विष्णु का एक देवालय निर्मित करवाने के उल्लेख[18] एवं अभिलेखों के अतिरिक्त राजस्थान के विविध क्षेत्रों से प्राप्त भगवान विष्णु की विविध रूपधारिणी प्रतिमायें यथा-चतुर्भुज विष्णु , वराहावतार, नृसिंहावतार, दशावतार फलक, वैकुण्ठ विष्णु , हरिहर, हरिहर पितामह सूर्य तथा लिंगोद्भव फलक आदि से प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म की लोकप्रियता स्पष्ट होती है।

शैव धर्म

हिन्दू धर्म की सनातनी सम्प्रदाय परम्परा में शैव धर्म अपना विशिष्ट स्थान लिए हुए है। शैव धर्म का सम्बन्ध शिव से है तथा इस मत के अनुयायियों के इष्टदेव भगवान शिव है। सैन्धव सभ्यता से अद्यावधि विभिन्न रूपों में धर्मनिष्ठ हिन्दू शिवार्चन करता आ रहा है। सैन्धव सभ्यता से प्राप्त मुहरों में शिव को पशुपति के रूप में अंकित किया गया है। ध्यानस्थ शिव के चारों ओर बाघ, हाथी, गेंडा तथा भैंसा आदि पशुओं को दिखाया गया है।[19] शिव की आकृति के साथ सर्प, बैल, लिंग, जटा, भस्म का संयोग आर्य और अनार्य संस्कृति की धार्मिक भावनाओं और दिनचर्या का सम्मिश्रण है। पूर्व मध्यकालीन शिलालेखों से विदित होता है कि राजस्थान में शिव की अर्चना

एकलिंग, गिरिपति, समाधीश्वर चन्द्रचूणामणि भवानीपति, अचलेश्वर, शम्भू, पिनाकिन, स्वयम्भू आदि विविध नामों से की जाती थी। इन विविध रूपों में शिव सर्वदृष्टा और कर्त्ता रूप में भी है। उनके स्वरूप में सृष्टि के पालन, संहार, तिरोभाव, प्रसाद एवं अनुग्रह की अपेक्षा निहित हैं।

राजस्थान से शैव धर्म से सम्बन्धित प्राचीनतम अभिलेख लगभग 300 ई०पू० का खण्डेला (सीकर) से प्राप्त हुआ है । इसकी द्वितीय पंक्ति में महेशउ" शब्द शिव- के लिए प्रयुक्त जान पड़ता है।[20] छोटी सादडी से प्राप्त वि०सं0 547 (490ई0) के अभिलेख[21] में देवी (गौरी) की प्रशंसा की गई है और उन्हें हर (शिव) के साथी के रूप में चित्रित किया गया है। दूसरे छन्द में अर्द्धनारीश्वर की विचारधारा का सन्दर्भ दिया गया है। चित्तौडगढ किले से प्राप्त 6वीं शताब्दी के खण्डित शिलालेख[22] भाग अ में सर्वोच्च आत्मा' का उल्लेख है, जैसाकि केनोपनिषद में कहा गया है नेत्रों, वाणी एवं मन इत्यादि से जिसे जाना नहीं जा सकता। भाग ब के प्रथम छन्द में ऐसे व्यक्ति के बारे में बताया गया है जिसके उलझे हुए घुंघराले बालों की लट, जो रंग में हल्के भूरे है. में चन्द्रमा छिपा हुआ है। यह निस्सन्देह भगवान शिव की प्रार्थना सम्बन्धी स्तुति है। विoसo 557 (500ई0) के चारचौमा शिव मन्दिर अभिलेख में भगवान शंकर के मोती इत्यादि से शोभित जगत में दधीचि को इन्द्र की याचना करने पर अस्थि दान देने पर नमन किया गया है।[23] उक्त अभिलेख से राजस्थान में गुप्तकाल में शिव पूजा के पर्याप्त विकास का ज्ञान होता है। दधिमाता शिलालेख[24] (608 ई०) की ग्यारहवीं पंक्ति में गौरी को शिव की शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है। कल्याणपुर के शिवालय से प्राप्त अभिलेख (7 वीं शताब्दी) में दर्शाया गया है कि 'आम्नाय' नामक व्यक्ति ने शिव मन्दिर का निर्माण शिव से 'साजुज्य' (साक्षात्कार) प्राप्त करने के लिए करवाया था ।[25] वि०सं० 718 के कुण्डेश्वर अभिलेख में अपराजित के सेनापति बराहसिंह की तुलना शंकर पुत्र स्कन्द से की गई है।[26] आगे अपराजित की पत्नी यशोमती की तुलना लक्ष्मी और पार्वती से करते हुए कहा गया है कि लक्ष्मी चंचला है, पार्वती स्थाणु से प्रेम करती है और रति वैधव्य के दुख से पीडित है, अतः इसकी तुलना उनसे नहीं की जा सकती।[27] संवत 746 के झालरापाटन अभिलेख[28] का प्रारम्भ शिव-स्तवन से हुआ है। लेख में शिव के तृतीय नेत्र की महिमा, पार्वती द्वारा शिव को वक्र वचन, सत्यज्ञान से निर्मल चित्त ब्राह्मण वर्ग द्वारा काम के विध्वंशक शिव के परमपद को जानने की उत्सुकता, अन्धकासुर विनाशक शिव की शंका राजा दुर्गगण में किया जाना तथा वोप्पक नामक व्यक्ति के द्वारा सांसारिक नश्वरता को देखते हुए शिव मन्दिर बनवाने के उल्लेख शिव महात्म्य के द्योतक हैं। 8 वीं शती के कन्सुआ अभिलेख मे राजा शिवगण द्वारा सर्व पापहर और शुभ इस

कण्वाश्रम को जानकर, धर्म और कीर्ति के विवर्धनार्थ शिव मन्दिर बनवाने का उल्लेख मिलता है। अभिलेख के प्रारम्भ में शिव की जटाओं, मस्तक, ताण्डव नृत्य को प्रारम्भ करने वाले शिवजी को संसार की रक्षा के लिए स्तवित किया है।[29] 807 ई० के खंडेला अभिलेख[30] में भगवान शिव के अर्द्धनारीश्वर स्वरूप को प्रदर्शित किया गया है। वि०सं० 894 (837ई0) के बाउक अभिलेख [31] में राजा शिलुक के द्वारा त्रेता तीर्थ में एक बावडी, नगर और सिद्धेश्वर महादेव के उत्तुंग मंन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख है। भरतपुर क्षेत्र से 869 ई0 के कामां अभिलेख[32] में शिव विष्णुर नामक गोष्ठिक जो "महेशप्रिय' अर्थात् शिवभक्त था मन्दिर की व्यवस्था करता था। यहाँ यह दृष्टव्य है कि काम्यक के गोष्टिक जो शैव थे, शिव के अतिरिक्त विष्णु एवं चामुण्डा के लिये भी मूर्तियों की व्यवस्था करते थे। 971 ई0 के एकलिंगनाथ अभिलेख [33] का प्रारम्भ भगवान लकुलीश के स्तवन से हुआ है। लेख में प्राप्त योगियों का वर्णन लकुलीश सम्प्रदाय का घोतक है । वि०सं० 1030 के हर्ष अभिलेख[34] से ज्ञात होता है कि भगवान महादेव हर्ष नाम से जाने जाते थे। वि0सं0 1057 के हस्तिमाता मन्दिर अभिलेख, वि०सं० 1043 के मांदकिला तालाब अभिलेख, परमार देवराज के ताम्रपत्र, रोपी ग्राम से प्राप्त ताम्रपत्र, लगभग 11वीं शताब्दी के धनौप अभिलेख ,पोकरण के बालकनाथ मन्दिर से प्राप्त अभिलेखों का अध्ययन करने से प्राचीन राजस्थान में शैव सम्प्रदाय पर व्यापक प्रकाश पडता है। उपरोक्त सभी लेख इस बात के पोषक हैं कि शिव राजस्थान में सैन्धव सभ्यता के समय से आज तक आराध्य हैं।

शाक्त धर्म

शक्ति की आराधना भारतीय परम्परा में अति प्राचीन है। सृष्टि तथा मानव में निहित शक्ति तत्व की कल्पना एक आदि देवी के रूप में करके उसमें मातृत्व का आरोपण किया गया। शक्ति को किसी देवता की सहचरी मानने के साथ -साथ भारत में उसकी स्वतंत्र उपासना का विकास हुआ और उसने एक पृथक मत (शाक्त मत) का रूप धारण कर लिया।

राजस्थान में शक्ति उपासना उतनी ही प्राचीन है जितनी की देश के अन्य क्षेत्रों में राजस्थान में देवी शक्ति, शौर्य, रौद्र तथा दया की प्रतीक मानी जाती थी। देवी की उपासना काली, दुर्गा, चामुण्डा, अष्टभुजा एवं अम्बा आदि नामों से की जाती थी। इन स्वरूपों के अतिरिक्त कुछ स्थानीय देवियों का भी उल्लेख मिलता है। इनमें करणीमाता (देशनोक बीकानेर), मोकल माता (बाली), पीपला माता (पीपाड़), सचियमाता (ओसियां), ज्वाला माता (जोबनेर), शाकम्भरी माता

(सांभर), जमवाय माता (जमवारामगढ), शिलादेवी (आम्बेर), जीणमाता (सीकर), सकराय माता (झुन्झुनु), दधिमाता (गोठमांगलोद-नागौर), हर्षतमाता (आभानेरी), सुन्धामाता (जालौर) अर्बुदा देवी (आबू) आशापुरा (नाडौल), भ्रमर माता (छोटी सादड़ी) कैलादेवी (करौली एवं बयाना), त्रिपुर सुन्दरी (बांसवाडा), नागणेचीय माता (जोधपुर एवं बीकानेर) कालिकामाता (चितौडगढ) आदि प्रमुख हैं।

ई० सन् की 5वीं शताब्दी में हमें शक्ति पूजा के अभिलेखीय प्रमाण प्राप्त होने लगते हैं। मालव संवत् 480 के गंगधार अभिलेख[35] में सचिव मयूराक्ष ने शांत्रिक शैली का मातृकाओं का एक मन्दिर निर्मित करवाया था। सं0 547 स 491) छोटी सादड़ी चित्तौड़ के भ्रमर माता अभिलेख का मंगलाचरण असुर संहारिणी शूलधारिणी सिंहों के रथ पर आरुढ दुर्गा की आराधना से सम्बंधित है।[36] गोठ मांगलोद से प्राप्त 608 ई० के शिलालेख[37] में माता की अर्चना की गई है। लेख के प्रारम्भ में सरस्वती देवी को भी नमन किया गया है। बसन्तगढ़ से प्राप्त वि०स०682 के अभिलेख[38] में क्षेमकारी दुर्गामाता क्षेमार्या की वंदना की गई है साथ ही गोष्ठिकों के निर्देश पर वणिक सत्यदेव द्वारा क्षेमकारी के मन्दिर निर्माणका भी उल्लेख है। वि. सं.703 के सामोली अभिलेख[39] का प्रारम्भ चण्डिका (महिषासुर मर्दिनी) के चरणों की स्तुति से हुआ है। अरणा ग्राम के बाहर पाण्डवों की साल के समीप स्थित स्तम्भ लेख का प्रारम्भ 'ऊं नमो भगवती नन्दा ' से हुआ है लेख में देवी मन्दिर निर्मित करवाये जाने का भी उल्लेख है। जी०एच० ओझा महोदय ने इस लेख को वि०सं० की 11वीं शताब्दी का माना है।[40] सांभर से प्राप्त संवत् 998 के एक शिलालेख का प्रारम्भ 'श्री गणेशाय नमः' से हुआ है तत्पश्चात् सरस्वती की स्तुति करते हुए उन्हें आनन्द दायिनी तथा अज्ञान विनाशिनी कहा गया है।[41] वि०सं० 1003 के प्रतापगढ़ शिलालेख[42] का प्रारम्भ महिषासुर मर्दिनी दुर्गा की स्तुति से हुआ है। इसी प्रकार किणसरिया ग्राम (परवतसर-नागौर) के वि०सं० 1056 (ई .सन् 999) के कैवाय माता देवालय से प्राप्त लेख[43] में कात्यायनी एवं काली की स्तुति की गई है राजस्थान से प्राप्त अन्य अभिलेखों में भी देवी मन्दिर निर्माण का उल्लेख मिलता है वि०सं० 749 के सकराय माता अभिलेख[44] में गणपति, नृत्य करती भगवती चण्डिका एवं कुबेर की स्तुति की गई है। चौहान नरेश विग्रहराज द्वितीय द्वारा 10वीं शताब्दी में शाकम्भरी चौहानों की कुल देवी आशापुरी देवी के मन्दिर निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है ।[45] वि०सं० 1319 के सुन्धापर्वत शिलालेख में चौहान नरेश चचिगदेव द्वारा चामुण्डा मन्दिर के मण्डप निर्माण का उल्लेख है[46] रेवासा के जीणमाता एवं

बाली के बहुगुणा माता की जानकारी क्रमश वि०सं० 1162 एवं वि.सं0 1200 के अभिलेखों से मिलती है।[47]

जैन धर्मावलम्बी भी चण्डिका के ललिता रूप की उपासना करते थे।[48] जूना से प्राप्त वि०सं० 1236 के अभिलेख से विदित होता है कि उपकेस गच्छ से सम्बन्धित सत्य, शील एवं क्षमा आदि गुणों से सम्पन्न साध्वी ने अपने एवं दूसरों के कल्याणार्थ सचिका देवी की प्रतिष्ठा करवाई ।[49]

इस प्रकार अभिलेखीय प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि राजस्थान में शाक्त उपासना पर्याप्त लोकप्रिय थी। आगे चलकर मध्यकाल में अनेक राजपूत राजपरिवारों ने देवियों को अपनी कुलदेवी के रूप में स्वीकार किया। सरस्वती के रूप में उसकी उपासना जैनों सहित सभी धर्मावलम्बियों ने स्वीकार की।

सौरधर्म

प्रकाश, ऊष्मा ऊर्जा और उर्वरता के स्रोत सूर्य के प्रति श्रद्धा-भाव मानव अति प्राचीनकाल से अभिव्यक्त करता आ रहा है। राजस्थान में कालीबंगा और आहाड़ से प्राप्त मुहरें एवं अनेक रेखांकित कलाकृतियों से सूर्य के प्रति श्रद्धा सहज ही अनुमेय है राजस्थान के विभिन्न अंचलों से प्राप्त अभिलेखों से प्राचीन राजस्थान में सौर-सम्प्रदाय की लोकप्रियता का अंकन किया जा सकता है मालव संवत 480 के गंगधार अभिलेख में सूर्य के भयंकर तेज का उल्लेख है। इसी प्रकार संवत् 746 के झालरापाटन अभिलेख[50] में दिवस पति सूर्य की पत्नी संध्या का उल्लेख है। संवत् 847 के कोशवर्द्धन अभिलेख के 13वें श्लोक में सूर्य को रात्रि के अन्धकार का विनाशक तथा 19वें श्लोक में सूर्य के बिम्ब को अत्युज्ज्वल बताया गया है।[51] इसी भांति चाटसू अभिलेख[52] में उदीयमान सूर्य की तुलना उन्नति से एवं अस्ताचलीय सूर्य की तुलना अवनति से की गई है।

अभिलेखों मे सूर्य मन्दिर निर्माण एवं दान के भी पर्याप्त उल्लेख मिलते है। संवत् 898(ई .सन् 842) के लेख[53] से विदित होता है कि धौलपुर के चाहमान नरेश चन्द्रमहासेन ने धवलपुरी के निकट एक सूर्य मन्दिर का निर्माण करवाया। प्रतापगढ़ से प्राप्त सं0 999 के खण्डित लेख[54] में महाराजाधिराज भर्तृपट्ट द्वारा घोटार्सी ग्राम के इन्द्रराजादित्यदेव नामक सूर्य मन्दिर को गाँव भेंट करने का उल्लेख है। प्रतापगढ से ही प्राप्त सं0 1003 के शिलालेख[55] से पवित्र एवं कल्याणकारी किरणों से सम्पन्न सूर्य उपासना तथा उसकी लोकप्रियता पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इसी प्रकार

वि०सं० 1013 (ई०सन्) के थांवला लेख[56] वि०स० 1043 (987ई0) मांदकिला तालाब लेख[57], पोकरण के बालक नाथ मन्दिर से प्राप्त लेख[58] किसी न किसी रूप में सूर्य-उपासना से सम्बद्ध हैं। संवत् 1099 के बसन्तगढ़ की लाहिनी द्वारा वटपुर में सूर्य मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाने का उल्लेख है।[59]

इस प्रकार प्राचीन राजस्थान के विविध क्षेत्रों से प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि सौर-सम्प्रदाय का यहाँ के जनमानस में महत्वपूर्ण स्थान था। यहाँ सूर्य-मन्दिरों का निर्माण भी प्रारम्भ हुआ। मन्दिरों की व्यवस्था के लिए न केवल राजपरिवारों की ओर से दानादि की व्यवस्था की गई अपितु इस व्यवस्था में जन सहभागिता भी रही।

जैन धर्म

जैन एवं बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के विषय में मान्यता है कि इनका उदय वैदिक यज्ञ एवं कर्मकाण्ड के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सुधारवादी आन्दोलन के रूप में हुआ था किन्तु प्रो०जी०सी०पाण्डे की मान्यता है कि इन धर्मों का मूल श्रमण परम्परा था जो भारत में अत्यन्त प्राचीन परम्परा थी।[60] इन दोनों ही धर्मों का विकास ई०पू० 6वीं शताब्दी में हुआ। धीरे-धीरे इनका प्रचार-प्रसार होता गया। इन सुधारवादी आन्दोलनों ने न केवल याज्ञिक अनुष्ठानों तथा बलिदानों का ही खण्डन किया अपितु इन्होंने वर्णभेद तथा जातीय बंधनों का भी विरोध किया तथा व्यक्ति की कुल या जन्म से महानता के स्थान पर गुण एवं कर्म से महानता का प्रतिपादन किया।

राजस्थान में जैन धर्म प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रहा है। बडली से प्राप्त प्राकृत भाषा के जैन अभिलेख[61] मध्यमिका से ई०पू० द्वितीय शताब्दी के खण्डित लेख[62] ई०पू० द्वितीय शताब्दी के ही कोटा के दर्रा नामक स्थल से प्राप्त खण्डित शिलालेख[63] एवं नोह (भरतपुर) के उत्खनन से प्राप्त टूटे प्याले पर ब्राह्मी में शब्दांकन[64] से यह स्पष्ट है कि ई०पूर्व की अन्तिम शताब्दियों में राजस्थान में जैनधर्म जन आस्था का केन्द्र बन चुका था। राजस्थान में जैनधर्म का प्राबल्य ई०सन् 7वीं शताब्दी से बढ़ने लगा। वि०सं० 918 के घटियाला अभिलेख से विदित होता है कि नरेश कक्कुक ने रोहिन्सकूप (घटियाला) में 'जिनदेव' का पापक्षयकारी अक्षयभवन निर्मित करवाया था।[65] इसी प्रकार ओसियाँ से संवत् 1013 (ई०सन् 956) के अभिलेख के प्रारम्भ में ऋषभदेव की वन्दना की गई है तथा प्रतिहार नरेश वत्सराज द्वारा शासित उपकेशपुर (ओसियों) में एक गगनचुम्बी तपनेश्वर (जैन) मन्दिर स्थित होने तथा संवत् 1013 में जिन्दक नामक वैश्य द्वारा जिनदेव का मन्दिर

निर्मित करवाने का भी उल्लेख है।[66] संवत् 979 की सागर नन्दि एवं लोकदेव द्वारा रचित प्रशस्ति में पुलीन्द राजा के आग्रह पर शिल्पकार सर्वदेव ने राजौरगढ़ में एक जैन मन्दिर एवं शान्तिनाथ की एक प्रतिमा जो नवगजा (नौ गजा) के नाम से प्रसिद्ध थी, स्थापित करवाई ।[67] संवत् 1028 (ई.सन् 971) की एकलिंग जी की नाथ प्रशस्ति में शैवाचार्य एवं जैन तथा बौद्ध साधुओं के मध्य शास्त्रार्थ का उल्लेख है ।[68] मेवाड़ क्षेत्र दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों का प्रमुख केन्द्र रहा है। गगराल तथा सैणवा से प्राप्त लेखों से विदित होता है कि यहाँ दिगम्बर साधु निवास करते थे ।[69]

अभिलेखों में न केवल जैन देवालयों के निर्माण व उनको स्वर्ण कलश प्रदान करने, जैन देवताओं को दान देने एवं उनकी पूजा से सम्बन्धित उल्लेख हैं अपितु श्वेताम्बरों एवं दिगम्बरों के मध्य होने वाले शास्त्रार्थ में निर्णायक की भूमिका निभाते एवं पशु-वध निषेध की जानकारी भी उपलब्ध है। पृथ्वीराज प्रथम द्वारा रणथम्भौर के एक जैन मन्दिर को स्वर्ण छत्र चढाने का उल्लेख है।[70] अल्लट के राज्य काल मे श्वेताम्बरों एवं दिगम्बरों के मध्य शास्त्रार्थ का उल्लेख मिलता है जिसमें श्वेताम्बर मुनि प्रघुम्न सूरि की विजय हुई।[71] चालुक्य कुमारपाल के सामन्त अश्वराज चाहमान द्वारा जैन धर्म स्वीकारने एवं माह की विशेष तिथियों को जीव हिंसा का निषेध की आज्ञा का उल्लेख है।[72] सं0 1167 के सेवाडी अभिलेख में धर्मनाथ देव (जैन मन्दिर) को दान देने का उल्लेख है।[73] अजयराज ने श्वेताम्बर मुनि धर्मघोष सूरि एवं दिगम्बर मुनि गुणचन्द के मध्य हुए शास्त्रार्थ में निर्णायक की भूमिका का निर्वहन किया।[74] सं0 1053 के धवल के बीजापुर अभिलेख में राष्ट्रकूट हरिवर्मा के पुत्र विदग्धराज द्वारा एक जैनमन्दिर निर्मित करवाने एवं मन्दिर को दान देने का उल्लेख है।[75]

अभिलेखों में विभिन्न गच्छों का भी उल्लेख हुआ है जो जैन धर्म की लोकप्रियता के साक्षी हैं। संवत् 918 के अभिलेख में धनेश्वर गच्छ, वागट संघ का उल्लेख सं0 1052 के कटोरिया से प्राप्त मूर्तिलेख एवं अजमेर संग्रहालय में सं० 1061 की महावीर प्रतिमा लेख में हुआ है। इसी प्रकार काम्यक गच्छ का उल्लेख सं0 1100 के बयाना शिलालेख, शंडेरक गच्छ का उल्लेख सं0 1172 के सेवाड़ी अभिलेख, सं0 1218 के आल्हणदेव के नाडौल लेख तथा संवत् 1221 के केल्हणदेव के साण्डेराव शिलालेख में हुआ है।[76] मथुरासंघ, खरतरगच्छ,सारधपूर्णमीया, उपकेशगच्छ नागपुरिया एवं पिप्पेल आदि गच्छों का भी उल्लेख अभिलेखों में मिलता है।[77]

बौद्ध धर्म

ई०पू० 6वीं शताब्दी में बुद्ध ने बौद्ध धर्म का प्रवर्तन किया। राजस्थान में बौद्धधर्म के प्राचीनतम प्रमाण बैराट से प्राप्त अशोक के प्राकृत भाषा के दो शिलालेखों में मिलते हैं। प्रथम लेख में प्रियदर्शी राजा (अशोक) बौद्धधर्म के त्रिरत्नों में आस्था प्रकट करता है एवं बौद्ध भिक्षु–भिक्षुणियों तथा उपासक उपासिकाओं से कतिपय महत्वपूर्ण बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन, श्रवण, मनन एवं आचरण की अपेक्षा करता है।[78] दूसरे लेख में ढाई वर्ष तक उपासक रहने पर कोई विशेष उद्योग (कार्य) नहीं करने तथा सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के लोगों की देवों (बौद्ध-धर्म) से मिलाने की बात कहता है।[79] बैराट के अवशेष इस बात के मूल साक्षी प्रतीत होते हैं कि मौर्य काल में यह नगर बौद्ध शिक्षा का महान केन्द्र रहा होगा।

चीनी यात्री हुएनसांग ने भीनमाल एवं बैराट की यात्रा के विवरण में इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म को अवनतिशील अवस्था में वर्णित किया है। भीनमाल के संदर्भ में लिखा है कि अधिकांश लोग अन्य धर्मावलम्बी हैं केवल कुछ ही बौद्धधर्म को मानने वाले है। यहाँ केवल एक संधाराम है जिसमें लगभग 100 सर्वास्तवादी हीनयानी भिक्षु रहते हैं ।[80] बैराट के सन्दर्भ में लिखा है कि यहाँ मात्र 8 उजड़े हुये संधाराम हैं जिनमें सम्प्रदाय के भिक्षु निवास करते हैं।[81]

बौद्धधर्म की दृष्टि से वि०सं० 847 का कोशवर्द्धन अभिलेख[82] पर्याप्त महत्वपूर्ण है। लेख के प्रारम्भ में त्रिरत्न बुद्ध, धम्म, और संघ) का अभिवादन किया गया है। नागवंशीय सामन्त देवदत्त द्वारा कोशवर्द्धन पर्वत पर मन्दिर एवं बौद्ध विहार के निर्माण का उल्लेख है। झालावाड़ के निकट 8वीं शताब्दी के कोलवी में कुछ बौद्ध गुफायें भी स्थित हैं। इन गुफाओं में कतिपय बौद्ध प्रतिमायें भी हैं।[83] वि०सं० 1028 की एकलिंगजी नाथ प्रशस्ति में शैवाचार्य वेदांगमुनि द्वारा बौद्ध एवं जैन विचारकों को शास्त्रार्थ में पराजित करने का उल्लेख है ।[84] इस शास्त्रार्थ गोष्ठी से ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध मतावलम्बी अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील थे, परन्तु बाह्य आक्रमणों तथा राजपूतों के प्रभाव ने ब्राह्मण धर्म को पुनः संस्थापित कर दिया और अन्त में राजस्थान में इसका अस्तित्व लगभग समाप्त हो गया।

धार्मिक सहिष्णुता

अध्ययनकालीन अभिलेखों के अनुशीलन से ज्ञान होता है कि उस युग में यद्यपि अनेक

धर्म प्रचलित थे तथा हिन्दू धर्म के साथ-साथ बौद्ध एवं जैन धर्म का भी पर्याप्त प्रचार - प्रसार था तथापि समाज में हिन्दू धर्म का विशेष प्रभाव था। राजा से लेकर जन साधारण तक सभी लोग अपने विश्वास एवं रुचि के अनुकूल विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा करते थे। पौराणिक हिन्दू धर्म के उदय के फलस्वरूप हिन्दू धर्म में एक उल्लेखनीय प्रवृति यह देखी जा सकती है कि हिन्दू धर्म की विभिन्न शाखाओं में परस्पर भिन्नता होते हुए भी उनमें आधारभूत प्रश्नों पर एकता एवं समन्वय का दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है । ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के पूजकों में परस्पर एकता के परिणामस्वरूप ही पंचायतन पूजा प्रचलित हुयी। विष्णु, शिव, गणेश, दुर्गा, सूर्य आदि प्रमुख देवी-देवता एक ही ईश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियों के सूचक प्रतिनिधि माने गये। आधुनिक हिन्दू धर्म ने इस काल में ही अपना स्वरूप ग्रहण किया। एक परिवार के विभिन्न सदस्य एक साथ रहते हुए भी अपनी रुचि के अनुकूल विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा कर सकते थे। वैष्णव, शैव या शाक्त किसी भी सम्प्रदाय में रहते हुए अन्य सम्प्रदाय के लोगों या उनके आराध्य देवों के प्रति अपनी सहज श्रद्धा प्रदर्शित करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं थी। राजशेखर ने बाल-रामायण और बाल-भारत की रचना के द्वारा विष्णु के प्रति तथा कर्पूरमंजरी एवं विद्वशालभंजिका की रचना के द्वारा वि तथा शक्ति के प्रति अपने हृदय की सहज श्रद्धा और भक्ति अर्पित की हैं।

धार्मिक स्वतंत्रता एवं सहिष्णुता के इस ऊँचे आदर्श का आभिलेखिक प्रमाण नागभट्ट (द्वितीय) के बधाल ताम्रपत्र (वि०सं० 872)[85] भोज (प्रथम) के दौलतपुर ताम्रपत्र (वि०सं० 900)[86] महेन्द्रपाल (द्वितीय) के प्रतापगढ़ शिलालेख (वि०सं० 1003)[87] आदि के रूप में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इन प्रतिहार अभिलेखों से समकालीन समाज की धार्मिक सहिष्णुता का दृष्टिकोण स्पष्ट होता है जिसकी प्रेरणा में सर्वथा यह सम्भव था कि एक ही राजवंश का एक शासक वैष्णव हो तो द्वितीय परम शैव, तृतीय भगवती का उपासक और चतुर्थ परम आदित्य भक्त । राज्य द्वारा भी धार्मिक सहिष्णुता के परिवर्धन हेतु समय-समय पर प्रयास किये जाने के प्रमाण भी अभिलेखों में प्राप्त होते हैं । वि०सं० 1147 के नाडौल[88] एवं सादड़ी अभिलेख[89] में राजा जोजलदेव द्वारा प्रसारित इस आज्ञा का उल्लेख है कि देवताओं की यात्रा उत्सव के समय अन्य देवों को मानने वाले लोग भी इन यात्रा उत्सवों में उपस्थित हों । राजा द्वारा अपने वंशजों को इस आदेश की पालना करने का आग्रह भी इन लेखों में मिलता है। उपरोक्त प्रमाणों के अतिरिक्त राजपूत काल में बड़ी संख्या में निर्मित 'हरिहर (विष्णु एवं शिव), 'सूर्यनारायण' (सूर्य एवं विष्णु), 'हरिहर पितामह' (विष्णु, शिव एवं ब्रह्मा) आदि प्रतिमाएँ भी उपर्युक्त दृष्टिकोण की व्यापक लोकप्रियता

की पुष्टि करती हैं।

धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वय का दृष्टिकोण केवल हिन्दू धर्म तक ही सीमित नहीं था। जैन एवं बौद्ध धर्मों के सन्दर्भ में भी उदारता के महत्वपूर्ण उदाहरण देखे जा सकते हैं। राष्ट्रकूट नरेश जैन मतावलम्बी थे किन्तु उसी राजवंश के प्रसिद्ध शासक दन्तिदुर्ग ने ब्राह्मण धर्म का अवलम्बन किया था।[90] इसी प्रकार यद्यपि अधिकांश पाल नरेश बौद्धधर्म को मानने वाले थे किन्तु इस राजवंश के सबसे प्रतापी शासक धर्मपाल ने नर-नारायण मंदिर के निमित्त दान दिया था।[91] कन्नौज के गाहड़वाल वंशीय परमशैव गोविन्द्र चन्द्र के द्वारा बौद्ध भिक्षुओं को विहार के लिए छह गाँव दान देने का उल्लेख मिलता हैं।[92] इसी प्रकार राजा मदनपाल बौद्ध था किन्तु उसने अपनी पत्नी को महाभारत सुनाने वाले ब्राह्मण को एक गाँव दान स्वरूप दिया था। एक शिलालेख में जयचन्द्र को बौद्ध भिक्षु का शिष्य कहा गया है। प्रतिहार शासक परम महेश्वर वत्सराज ने कन्नौज में 100 गज ऊँचा मंदिर बनवाया एवं उसमें स्वर्ण की महावीर प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई।[93] कन्नौज, मथुरा एवं अन्हिलवाड़ा में भी उसने जैन मंदिरों का निर्माण करवाया।[94] यह भी उल्लेखनीय है कि इस समय हिन्दू और बौद्धों में पहले से चला आ रहा वैमनस्य कम हो रहा था और उनमें परस्पर विवाह सम्बन्धों के उदाहरण मिलते हैं। परमशैव गोविन्द चन्द्र की पत्नी बौद्ध थी।[95] हिन्दू धर्म की समन्वयवादी प्रवृत्ति का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि जैन एवं बौद्ध धर्मों के प्रवर्तक भी हिन्दू धर्म में अवतार के रूप में स्वीकार कर लिये गए। जैनियों, बौद्धों एवं हिन्दुओं के 24 तीर्थंकरों, 24 बुद्धों एवं 24 अवतारों की परिकल्पना केवल आकस्मिक नहीं कही जा सकती।

तीर्थ

जगन्नियंता के प्रति अपनी भावनाओं एवं आस्थाओं को मानव अनेकानेक प्रकार से प्रकट करता रहा है। श्रद्धा, आस्था एवं भावना की अभिव्यक्ति के प्रमुख माध्यम तीर्थ भी हैं। तीर्थ एक ऐसा स्थल है जहाँ जाकर मनुष्य सांसारिक बाधाओं से मुक्ति की इच्छा करता हुआ लौकिक एवं परलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है। वस्तुतः तीर्थों को धार्मिक सहिष्णुता का प्रतीक कहा जाना अनुचित न होगा क्योंकि तीर्थ स्थलों पर प्रत्येक धर्म एवं सम्प्रदाय का व्यक्ति अपनी आस्थानुसार कष्टों से विमुक्ति के लिये कामना करता है। धार्मिक एवं आध्यात्मिक भावनाओं के पूरक होने से तीर्थों का अध्ययन धार्मिक जीवन में किया जाना प्रासंगिक होगा।

तीर्थ शब्द का अर्थ है- पवित्र करने वाला। सामान्यतः उस नदी, सरोवर, मंदिर अथवा भूमि को तीर्थ कहा जाता है जहाँ ऐसी दिव्य शक्ति हो कि उसके सम्पर्क में आने पर (स्नान- दर्शनादि के द्वारा) मनुष्य के पाप अज्ञातरूप से नष्ट हो जायें | ऐसे तीर्थ तीन प्रकार के हो सकते है- 1. नित्य तीर्थ 2. भगवदीय तीर्थ एवं 3. सन्त तीर्थ । नित्य तीर्थ के अन्तर्गत कैलाश मानसरोवर, काशी एवं पुष्कर आदि को माना जा सकता है। सृष्टि के प्रारंभ से ही यहाँ की भूमि में दिव्य एवं पावन शक्ति मानी गई है। इसी प्रकार सरस्वती, गंगा, यमुना, रेवा (नर्मदा) एवं कावेरी आदि पुण्य सरिताओं को भी नित्य तीर्थ माना गया है। भगवदीय तीर्थ ऐसे स्थलों को कहा जाता है जहाँ पर भगवान का अवतार हुआ है। उन्होंने लीला की तथा किसी भक्त / भक्तों को दर्शन दिये। सन्त तीर्थ-जो जीवन मुक्त, देहातीत तथा भगवत्प्रेम में तन्मय सन्त हैं जिनके सम्पर्क में आने से चराचर जगत प्रभावित होता है। ऐसा स्थान तीर्थ बन जाता है। सन्त की जन्मभूमि, उसकी साधना भूमि एवं उसकी निर्वाण भूमि तथा समाधि को विशेषरूप से पवित्र माना जाता है।

इस प्रकार तीर्थों को निम्नांकित कारणों से पवित्र माना जाता है-उस स्थल की कतिपय आश्चर्यजनक प्राकृतिक विशेषताओं के कारण या किसी जलीय स्थल की अद्भुत रमणीयता के कारण या किसी तपःपूत ऋषि या मुनि के वहाँ (स्नान करने, साधना करने आदि के लिये) रहने के कारण। अतः तीर्थ का अर्थ उस स्थान या जलयुक्त स्थल (नदी, जलाशय आदि) से है जो अपने विलक्षण स्वरूप के कारण पुण्यार्जन की भावना को जागृत करे, वह तीर्थ है।

तीर्थों के प्रकार

तीर्थ तीन प्रकार के माने गये हैं- 1. जंगम तीर्थ 2. मानस तीर्थ एवं 3. स्थावर तीर्थ जंगम तीर्थ ऐसे विद्वान एवं स्वधर्म पर आरूढ़ आदर्श ब्राह्मणों एवं सन्तों को कहा जाता है जिनकी सेवा से भगवान का साक्षात्कार होता है तथा सम्पूर्ण कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं।

मानस तीर्थ

सत्य, क्षमा, इन्द्रिय निग्रह, प्राणिमात्र पर दया, दान, सन्तोष ब्रह्मचर्य, प्रिय भाषण, विवेक एवं तपस्या पर बल एवं पालना मानस तीर्थ माने गये है। इस प्रकार अन्तःकरण की शुद्धि करके मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

स्थावर तीर्थ

जिस प्रकार शरीर में मस्तक आदि कुछ अंग पवित्र माने गये हैं, उसी प्रकार पृथ्वी पर कुछ

स्थान विशेष रूप से पवित्र माने गये हैं। इन स्थानों में किसी सन्त महात्मा की तपोभूमि, भगवान की लीलाभूमि अथवा नदी, सरोवर, कूप एवं जलाशय आदि की गणना की जा सकती हैं।

तीर्थों का महत्त्व

पवित्र स्थानों अथवा तीर्थ स्थलों पर देवों का निवास रहता है अतः इस भावना से उत्पन्न विश्वास के कारण प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने तीर्थ स्थलों की यात्राओं पर बल दिया। ऐसी मान्यता है कि जो लोग ईश्वर में मन लगा कर श्रद्धा एवं संयमपूर्वक तीर्थ यात्रा करते हैं उन्हें ईश्वर के प्रेम अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा जो लोग लौकिक एवं पारलौकिक कामना से श्रद्धा एवं संयमपूर्वक तीर्थ यात्रा करते हैं उनको अपने भाव तथा तीर्थ की शक्ति के अनुसार उनकी कामना के अनुरूप फल प्राप्त होता है। तीर्थों का वायुमण्डल पवित्र होने के कारण वहाँ पहुँचने वाले यात्रियों का मन भी पवित्र होकर उसमें सद्भावना का प्रवेश होता है। ऐसी धारणा भी है कि तीर्थ यात्रा से व्यक्ति के पाप धुल जाते हैं। तीर्थ यात्रा करने से भिन्न-भिन्न लोगों से सम्पर्क, उनकी वेश-भूषा, रहन-सहन, आचार-विचार, रंग-रूप, भाषा, वनस्पति आदि से सम्पर्क के कारण तीर्थ यात्री के ज्ञान एवं अनुभव में वृद्धि होती हैं। धार्मिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, कलात्मक, सामाजिक, आर्थिक तथा समसामयिक ज्ञान के अतिरिक्त जब यात्री मंदिर एवं मूर्ति के सामने जाकर श्रद्धा से नतमस्तक हो, अपने कालुष्य का विसर्जन करके कुछ समय तक यात्री आत्म विस्मृत हो इस लोक से उस लोक में पहुंच जाता है। उसके हृदय में संसार की अनित्यता और विलास तथा वैभव के क्षणिक एवं मिथ्या अस्तित्व का ज्ञान होता है उसे अपने पूर्वजों तथा प्राचीन इतिहास की महत्ता की अनुभूति होती है। इसके अतिरिक्त जलवायु परिवर्तन एवं नाना प्रकार के मनोहर दृश्य, झरने, पर्वत, कन्दरायें, जंगल, पशु-पक्षी आदि उसके स्वास्थ्य एवं मन पर अमिट प्रभाव डालते हैं।

अभिलेखों में तीर्थ

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में भी अनेक तीर्थ स्थलों सरिताओं आदि का उल्लेख मिलता हैं। इनमें से कतिपय तीर्थ यथा- सौकर (सौरो), हरिद्वार गंगा एवं यमुना राजस्थान से बाहर स्थित हैं। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में हिन्दुओं के प्रमुख तीर्थ स्थल पुष्कर का उल्लेख कृत संवत् 282 के नान्दसा यूप लेख[97] एवं वि०सं० 1013 के थांवला अभिलेख में मिलता हैं। पौराणिक मान्यतानुसार पुष्कर को तीर्थों का गुरू भी माना जाता है। हिन्दुस्तान के पंचतीर्थ और पंचसरोवरों में इसकी गणना की जाती है। पंचतीर्थों में पुष्कर, कुरूक्षेत्र, गया, गंगा एवं प्रभास तथा

पंचसरोवरों में मानसरोवर, पुष्कर, बिन्दुसरोवर (सिद्धपुर), नारायण सरोवर (कच्छ) एवं पम्पा सरोवर (दक्षिण) की गणना की जाती है।[98] महाकाव्यों एवं पुराणों में पुष्कर की गणना एक पवित्र स्थल के रूप में की गई है। रामायण में विश्वामित्र को पुष्कर में तप करते हुये बताया गया है।[99] अप्सरा मेनका का पुष्कर में स्नान करने का भी वर्णन रामायण में मिलता है।[100] महाभारत में पुष्कर की गणना एक महान तीर्थ तथा तपस्थली के रूप में है। विष्णुपुराण में पुष्कर को प्रयाग एवं कुरूक्षेत्र के समान पवित्र तथा यहाँ पर कार्तिक मास के स्नान का महत्व वर्णित है।[101] पुष्कर के सम्बन्ध में यह मान्यता प्रचलित रही है कि सन्ध्याकाल में असंख्य तीर्थों का समावेश पुष्कर में रहता है। सभी देवता वहीं वर्तमान में रहते हैं। यहाँ पर ब्रह्मा का नित्यवास है। मन से इस तीर्थ का ध्यान करने पर ही सभी पाप धुल जाते हैं। इस तीर्थ में जो पुरूष पितर एवं देवों की अर्चना करते हुये स्नान करता है वह अश्वमेध से भी दस गुना अधिक पुण्य पाता है। पुष्कर में एक ब्राह्मण को भी भोजन करा देने पर इस लोक एवं परलोक में आनन्द प्राप्त होता है। जो पुरूष कार्तिक पूर्णिमा के दिन पुष्कर स्नान करता है वह अक्षय ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। अभिलेखीय दृष्टि से पुष्कर का प्राचीनतम उल्लेख ई०पू० द्वितीय शताब्दी के सांची के स्तूप से प्राप्त लेखों में हुआ है।[102] इनमें कतिपय बौद्ध भिक्षुओं द्वारा दिये गये दान का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ई०पू० द्वितीय शताब्दी के लगभग पुष्कर बौद्धों के लिये भी पवित्र स्थान था । ई० सन् द्वितीय शताब्दी के प्रारंभ के नासिक लेख में नहपान के दामाद ऋषभदत्त द्वारा मालवों को पराजित करने के बाद पुष्कर तीर्थ में स्नान करने एक गाँव तथा तीन हजार गायें दान में देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[103] इस उल्लेख से भी पुष्कर की पवित्रता की पुष्टि होती है। इसी प्रकार हर्ष संवत् 1030 के हर्ष (सीकर) शिलालेख में चाहमान नरेश सिंहराज द्वारा पुष्कर में स्नान करके हर्षनाथ (सीकर) के मंदिर को गाँव दान में देने का उल्लेख मिलता हैं।[104] इस प्रकार स्पष्ट है कि पुष्कर की पवित्रता के कारण स्नान एवं दानादि के उल्लेख प्राचीनकाल से ही मिलने लगते हैं।

कोटि तीर्थ

महाभारत तथा पुराणों में कोटि तीर्थ नाम के अनेक स्थलों का उल्लेख मिलता है। महाभारत में गंगा द्वार या हरद्वार को ही 'कोटितीर्थ कहा गया है। इसके अतिरिक्त कालिंजर, नर्मदा के उद्भव स्थल अमरकण्टक एवं प्रयाग के निकट शिवकोटि आदि स्थानों पर भी कोटि तीर्थ माने गये हैं। वाराणसी एवं गोमती के मध्य के प्रदेश में भी एक कोटि तीर्थ का वर्णन मिलता है जहाँ गुह या कार्तिकेय की पूजा होती थी। ऐसा लगता है कोटि तीर्थ का अर्थ उस स्थान से था जिस

स्थान पर करोड़ों तीर्थ हों। इस प्रकार यह नाम प्रायः सामान्य विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। नान्दसा (भीलवाड़ा) के तिथिविहीन यूप लेख (लगभग ई० सन् तृतीय शताब्दी) में भी कोटि तीर्थ का उल्लेख मिलता है जिसके निकट शाल्मलि वृक्षों से घिरा हुआ तपस्वियों का आश्रम वन था।

गंगोद्भेद

इस तीर्थ का उल्लेख वि०सं० 1001 के भर्तृपट्ट द्वितीय के आहाड़ अभिलेख में हुआ हैं।[107] आहाड़ के सोते से बहने वाली पवित्र जल धारा से भूमि के तट पर बना गंगोद्भेद तीर्थ ऐसा लगता है, मानो स्वयं गंगा का प्रवाह उस स्थान पर तीर्थ होकर प्रकटीभूत हुआ हो।

रेवती कुण्ड

इस तीर्थ का वर्णन वि०सं० 1226 के बिजोलिया अभिलेख में मिलता है।[108] इस तीर्थ के बारे में यह मान्यता थी कि चारों वर्णों का कोई भी व्यक्ति यदि इसमें स्नान करता तो उसे उत्तम गति प्राप्त होती, उसे धन धान्य एवं बुद्धि की प्राप्ति होती अभिलेख में यह भी उल्लेख मिलता है कि इस तीर्थ में स्नान करने पर कुष्ठ,भूत-प्रेत बाधा, कुज्वर एवं हीनांग व्यक्ति स्वस्थ् हो जाता था।

एकलिंग जी

उदयपुर से 12 मील की दूरी पर श्रीएकलिंग जी का विशाल मन्दिर स्थित है । यह लकुलीश सम्प्रदाय का प्राचीन मन्दिर है। एकलिंग जी की मूर्ति (लिंग मूर्ति) में चारों ओर मुख हैं। मन्दिर के पश्चिम द्वार के निकट पीतल की नन्दी विराजमान हैं। एक लिंग जी मेवाड़ के राणाओं के आराध्य देव हैं । मेवाड़ के संस्थापक बप्पारावल ने इनकी आराधना की है।विसं 1028 की नाथ प्रशस्ति में इसे प्रथम तीर्थ बताते हुए कहा है कि ' प्रथम तीर्थ (एकलिंग या भृगुक्षेत्र) में ईश्वर लकुलीश के सम्मुख देवी ने अपने हाथों में जल को लेकर कहा कि हे तात! इसे पीओ |[109]

कायावरोहण

बड़ोदरा के निकट स्थित कायावरोहण नामक तीर्थ को पाशुपत सम्प्रदाय के प्रवर्तक लकुटधारी लकुलीश की जन्मस्थली माना जाता है। भृगुकच्छ (भड़ोंच) देश में जहाँ मेखला कन्या नर्मदा बहती है, विष्णु के द्वारा भृगु को शाप दिया गया उसने भगवान शिव की आराधना की । ऋृषि के समक्ष शिव हाथों में लकुट लिए प्रकट हुए ।भगवान शिव लकुलीश रूप में साक्षात् काया

रूप में यहाँ अवतरित हुए इसलिए यह कायावरोहण के नाम से जाना जाता है।[110] पाशुपत संप्रदाय के ग्रंथ गणकारिका, कारवण महात्म्य के परिशिष्ट में प्रथम तीर्थ के रूप में कायावरोहण का नाम आता है। जहाँ लकुलीश का अवतार हुआ ।

स्थितः स भगवान् तत्र कायरूपी महेश्वर : |
भृगुक्षेत्र पवित्रार्थ अवतीर्णो युगे युगे ।।
भृगुक्षेत्रोपकाराय त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।
तत्र पश्चिम मार्गे त्रिषु लोकेषु कायावरोहणम् ।
सर्वतीर्थ इदं देवि विख्यातं भृगुमण्डले ।।

वि .सं 1028 की नाथ प्रशस्ति[111] में कायावरोहण का वर्णन करते हुए लिखा है कि लाट देश (लकुलीश का प्राकट्यस्थल) स्नान के लिए निमज्जित होती वहाँ की वधुओं के सघन स्तन तटों से ऊर्ध्व भाग में उछलती हुई तरंगों से युक्त वह मेखलकन्यका (नर्मदा नदी) की तटवर्ती भूमि है। उस देश की विशुद्धि के निमित्त हाथों में लकुल लिए भगवान शिव ने कायावतार ग्रहण किया । इसी से वह कायावरोहण नामक क्षेत्र करबद्ध सा, उद्बुद्ध बाल बकुल पुष्पावली वाला था जिसके सौन्दर्य से मुग्ध भगवान शिव कभी कैलाशवास का स्मरण नहीं करते हैं। वहीं विचरण करते हैं। कायावरोहण तीर्थ पाशुपत योग के साधक व सिद्धि के धारणकर्ता कुशिक मुनि जनों एवं भस्मोद्धलन के अंगराग एवं द्रुमों के वल्कल की जटाओं से संयुक्त जटाजूट धारी पुरातन मुनिजनों से व्याप्त था। श्रेष्ठकाय, आत्मतेज को प्रकट करने के सामर्थ्य से युक्त परमयोगी, वरदान एवं शाप देने में समर्थ, हिमशिलाओं एवं रत्नों के समान उज्ज्वल, हिमालय से दक्षिण सेतुबन्ध तक रघुवंश के प्रतिष्ठापक तपस्वियों से युक्त था।

वि . सं .1173 के पालड़ी अभिलेख[112] में उल्लेख है कि स्वयं मूर्त रूप में अवतरित शिव का पृथ्वी पर अलौकिक धाम है। यह कायावरोहण नामक तीर्थ भृगुकच्छ (भड़ौंच) का आभूषण स्वरूप है। ऐसे अद्भुत तीर्थ में कुशिक आदि सम्प्रदायों के आचार्य गण पाशुपत योग को प्राप्त करने वाले, ज्ञानाग्नि से पापों को भस्म करने वाले, ब्रह्मतेज से संपन्न संसार सागर को पार किए हुए महोदय मुनिजन निवास करते हैं। ऐसे पावन तीर्थों का दर्शन मनुष्य को पापों से मुक्ति दिलाने वाला होता है।

इन तीथों के अतिरिक्त वि०सं० 894 के जोधपुर के बाऊक अभिलेख[113] में में त्रेता तीर्थ, गंगा, हरिद्वार तथा वि०सं० 1043 के मांदकिला ताल अभिलेख[114] में भागीरथी के किनारे सीकर

(सौरों) तीर्थ का भी उल्लेख मिलता है।

सारांशतः कहा जा सकता है कि प्राचीन राजस्थान में तीर्थ न केवल धार्मिक आस्थाओं के केन्द्र थे अपितु सामाजिक सद्भाव के पर्याय थे जहाँ अन्यान्य जातियों एवं वर्गों के व्यक्ति सद्भाव से भवबाधाओं से मुक्ति की कामना करते थे।

संदर्भ

1.त्रिगुणायत, एस०के० प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म- एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण, पृ. 85-93

2. अल्तेकर , ए०एस, नान्दसा यूप इंशक्रिप्शंस, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 27 (1948), पृ. 252-267

3. अल्तेकर , ए०एस०, टू यूप इंशक्रिप्शंस फ्रॉम बर्नाला कृत ईयर 284 एण्ड 335 एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 26, पृ. 118-123

4. फ्लीट, जे० एफ, कॉर्पस इंसक्रिप्शंस इंडिकेरम्, वाल्यूम 3, पृ. 252-254

5. फ्लीट, जे० एफ० पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 72-78

6. भण्डारकर, डी०आर०, बुचकला इंशक्रिप्शन ऑफ नागभट्ट सं0 872 एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ. 198-200

7. वही, मिश्र, वी० व्ही, दि गुर्जर प्रतिहारज् एण्ड देयर टाइम्स, पृ. 104-105

8. साहनी, डी०आर, 'एक्स्कवेशंस एट मंडोर एनुअल रिपोर्ट आर्क्यूलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 1909-10, पृ. 100; शर्मा, जी०एन०, राजस्थान स्टडीज, पृ. 116

9. सरकार, डी०सी०, सेलेक्ट इंशक्रिप्शंस, वाल्यूम 2, पृ. 236-241

10. बनर्जी, आर .डी ., दि बयाना इंशक्रिप्शंस ऑफ चित्रलेखा वि०सं० 1012 एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 22 (1933-34) पृ. 121

11. कीलहर्न, एफ, उदयपुर इंशक्रिप्शन ऑफ अपराजित', एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 4, पृ. 29-32

12. ओझा, जी०एच०, एनुअल रिपोर्ट ऑफ दि राजपूताना म्यूजियम अजमेर 1914, पृ. 2

13. श्यामलदास, वीरविनोद, भाग प्रथम, पृ. 381 एवं आगे

14. भण्डारकर, डी०आर०, प्रोग्रेस रिपोर्ट वेस्टर्न सर्कल, 1905 , पृ. 62-63

15. अग्रवाल, आर०सी०. 'ईसवाल का अज्ञात विष्णु मन्दिर 'शोध पत्रिका, वर्ष 14 अंक 3 1963, पृ. 195 एवं आगे ।

16. त्रिगुणायत एस०के० 'राजस्थान में वैष्णव धर्म चौहान शासकों का योगदान, वैचारिकी भाग 21 अंक 4 (2006), पृ. 60

17. साहनी, डी०आर० पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 102

18. इन्द्रजी, भगवान लाल, इंशक्रिप्शन फ्रॉम कामवन एपिग्रैफिया इण्डिका , वाल्यूम 24 (1937-38) पृ. 331
19. मार्शल, सर जॉन, मोहनजोदडो इंडस सिविलिजेशन, जिल्द 1 पृ. 393
20. सोमानी, आर. वी. शोधक, भाग 2, पृ. 274
21. सरकार, डी०सी० एपिग्रैफिया इण्डिका, भाग 30, पृ. 122
22. एपिग्रैफिया इण्डिका भाग 34, पार्ट -द्वितीय, पृ. 53
23. नमः स्वान्यस्थीनि मरुत्वते प्रथिने प्रीतो दधीचो । दृष्टव्य शर्मा, मथुरालाल, कोटा राज्य का इतिहास, पृ. 25
24. मुंशी देवीप्रसाद, मारवाड के प्राचीन लेख1984, पृ.7,प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल, 1906-7, पृष्ठ 7 व 81
25. सरकार, डी०सी०, वही, पृ. 60
26. शिवात्मजो खण्डित शक्ति संपदर्थः समाक्रान्त भुजंग शत्रुः तनेन्द्र वत्स्कन्द इव प्रणेता वृतो महाराज वराहसिंहः !!4!! दृष्टव्य, गोयल एस०आर०मौखरी पुष्यभूति चालुक्य युगीन अभिलेख, पृ. 174
27. गहलोत, पुरोहित, शर्मा, राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, पृ. 41
28. प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल, 1905-06, पृ. 56
29. एतत्कण्वाश्रमं ज्ञात्वा सर्वपापहरं शुभम् कृतवान मन्दिर शम्भो धर्म कीर्ति विवर्धनम् ||20|| दृष्टव्य पाठक, नाथूलाल, कन्सुआ का पुरातात्विक दिग्दर्शन, पृ.93
30. जी०एच० ओझा ने जिन्हें सर्वप्रथम यह अभिलेख प्राप्त हुआ, इसे वि०सं० 701 (644 ई0) पढ़ा है दृष्टव्य, एनुअल रिपोर्ट ऑन दि वर्किंग ऑफ राजपूताना म्यूजियम्, अजमेर, वर्षान्त 1935 पृ. 2 एवं 9. दशरथ शर्मा ने 'राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ. 378 में इसी तिथि को दर्शित किया है, साथ ही उन्होंने अपने लेख (विश्वम्भरा), वर्ष 2. अंक-4 पृष्ठ 17) में इस तिथि को अमान्य करते हुए डॉ० डी०सी० सरकार के मतानुसार हर्ष संवत् 201 (807 ई0) (दृष्टव्य एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 34 पार्ट 4, पृ. 159) को उपयुक्त माना है।
31. पुष्करिणी कारिता येन त्रेता तीर्थ च पतनं सिद्धेश्वरो महादेव कारितस्तुंग मन्दिर दृष्टव्य, मुंशी देवी प्रसाद, मारवाड़ के प्राचीन लेख, पृ. 2.

32. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 36 पार्ट द्वितीय, अप्रैल 1965, पृ. 53
33. भंडारकर, डी०सी०, 'जर्नल ऑफ बॉम्बे ब्रान्च ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, वाल्यूम 22, 1908, पृ. 151
34. भंडारकर, डी०आर०, प्रोग्रेस रिपोर्ट आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिका, वेस्टर्न सर्किल 1910, पृ. 53-55
35. फ्लीट, कार्पस इंशक्रिप्शनम् इंडिकेरम्, वॉल्यूम 3, पृ. 74-76
36. सरकार, डी०सी०, टू इशक्रिप्शंस ऑफ गौरी एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 30, पृ. 120-132
37. रामकरण, 'दधिमति माता-इंशक्रिप्शन ऑफ दि टाइम ऑफ धुलन (गुप्त) सं0 289' एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 11, पृष्ठ 299-304
38. भण्डारकर, डी०आर०, बसन्तगढ इंशक्रिप्शन ऑफ वर्मलात, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ. 139–192
39. हलदर आर०आर०, 'सामोली इंशक्रिप्शन ऑफ दि टाइम ऑफ शिलादित्य, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 20, पृ. 97-99
40. दृष्टव्य, श्रीमाली, जी०एल०, राजस्थान के अभिलेख, भाग 1, पृ. 20-21
41. व्यास, एस०पी०, राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 86
42. ओझा, जी०एच०, 'प्रतापगढ इंसक्रिप्शन ऑफ दि टाइम ऑफ दि प्रतिहार) किंग महेन्द्रपाल द्वितीय ऑफ महोदय सं0 1003' एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 14, पृ.176-188
43. रामकरण,' किणसरिया इंशक्रिप्शन ऑफ दधिचिक (दहिया) चच्च (वि०) सं० 1056' एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 12, पृष्ठ 56-61
44. छाबरा बी०सी०.' सकराई स्टोन इंसक्रिप्शन वि०सं० 699' एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 27, पृ. 27-33
45. शर्मा, दशरथ अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ. 263
46. कीलहर्न, एफ०. सुण्डाहिल इंशक्रिप्शन ऑफ चाचिगदेव, (वि०) सं0 1319' एपिग्रैफिया इण्डिका, पृ. 70-79
47. शर्मा, दशरथ, पूर्व निर्दिष्ट,पृ. 283
48. व्यास , एस०पी०,पूर्व निर्दिष्ट , पृ. 88

49. दृष्टव्य व्यास, राजशेखर, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 88
50. ब्यूलर जी०, इण्डियन एण्टीक्वेरी, वॉल्यूम 5, पृ. 180-183
51. इण्डियन एण्टीकोरी वॉल्यूम 14, पृ. 45-46
52. सरकार, डी०सी०, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस वाल्यूम 2,पृ. 363-371
53. शर्मा, दशरथ,पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 19
54. शर्मा , जी०एन०, राजस्थान इतिहास के स्रोत , पृ. 58
55. ओझा, जी०एच०. ओझा निबन्ध संग्रह, भाग 4. पृ. 1-21
56. शर्मा, दशरथ, वरदा, वर्ष 5 (2), पृ. 2-7
57. छाबडा, वी०सी० मांदकिला ताल इशक्रिप्शन वि०सं० 1043 एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 34, पृ. 77-90
58. सोमानी, आर०बी०. शोध पत्रिका, वर्ष 22 (2) 1971, पृ. 67-69
59. कीलहर्न, एफ. बसन्तगढ इंशक्रिप्शन ऑफ पूर्णपाल, दि विक्रम ईयर 1099 एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ. 10-15
60. पाण्डे, जी०सी०, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. 25 एवं आगे
61. शर्मा, के०जी०. अर्ली जैन इंसक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, पृ. 1
62. शर्मा, जी०एन०, राजस्थान के इतिहास के स्रोत, पृ. 42-43
63. मिश्र, आर०एल०, इंशक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, वाल्यूम 4, पृ. 11
64. सोमानी, आर०वी० जैन इंश्क्रिप्शनस ऑफ राजस्थान, पृ. 251
65. श्रीमाली जी०एल०, राजस्थान के अभिलेख प्रथम भाग, पृ. 21
66. वही, पृ. 36 एवं आगे
67. दृष्टव्य जैन, राजेश मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म, पृ. 28
68. शर्मा, जी०एन, राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ. 65
69. पुरोहित, चन्द्रशेखर मेवाड का संस्कृत साहित्य, पृ. 24-25
70. शर्मा, दशरथ अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ. 43
71. पुरोहित, चन्द्रशेखर, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 23
72. जैन, के०सी०, जैनिज्म इन राजस्थान, पृ. 20
73. भण्डारकर, डी०आर०, 'दि चाहमानाज ऑफ मारवाड सेवाड़ी स्टोन इंशक्रिप्शन ऑफ अश्वराज (वि०) सं0 1167 एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 11, पृ. 28-30

74. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ. 43
75. रामकरण, बीजापुर इंशक्रिप्शन ऑफ धवल ऑफ हस्तिकुण्डी, वि०सं० 1053', एपिग्रैफिया इण्डिका वाल्यूम 10, पृ. 17-24
76. शर्मा, के०जी०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 73
77. व्यास एस०पी०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 97
78. भण्डारकर, डी०आर०, अशोक, पृ. 76-78, 291-292
79. मिश्र आर0एल0, पूर्व निर्दिष्ट, वाल्यूम 3, पृ. 8
80. हुएनसांग का भारत भ्रमण, पृ. 634
81. वही, पृ. 180
82. जैन के०सी०, एन्सेंट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ. 238
83. दुबे, एस०आर०, 'राजस्थान में बौद्ध पुरातात्विक स्थलों का सांस्कृतिक अध्ययन, कल्चरल हेरिटेज ऑफ राजस्थान, पृ. 8-11
84. शर्मा, जी०एन०, राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ. 65
85. सारस्वत रावत, दो प्रतिहार ताम्रलेख, वरदा वर्ष 28 अंक 3, 1986 पृ. 2 एवं आगे
86. भण्डारकर, डी०आर० जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी वॉल्यूम 21, पृ. 411
87. ओझा, जी०एच०, ओझा निबन्ध संग्रह, भाग चतुर्थ, पृ. 1-21
88. श्रीमाली, जी०एल०, राजस्थान के अभिलेख, भाग 1, पृ. 76-77
89. वही, पृ. 75-76
90. अल्लेकर, ए०एस० राष्ट्रकूट्ज एण्ड देयर टाइम्स
91. कीलहर्म, एफ० 'खालिमपुर प्लेट ऑफ धर्मपाल देव, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 4, पृ. 254
92. नियोगी, रोमा, हिस्ट्री ऑफ दि गाहड़वाल डायनेस्टी, पृ. 199
93. दृष्टव्य , इम्पीरियल कन्नौज, पृ. 290
94. वही,
95. नियोगी, रोमा, वही, पृ. 199
96. कल्याण (तीर्थांक) वर्ष 31 (पंचम संस्करण, सं० 2056)
97. अल्तेकर, ए०एस०, नांदसा यूप इंशक्रिप्शंस, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 27, पृ.

252-265

98. कल्याण (तीर्थांक) वर्ष 31 (पंचम संस्करण, सं० 2056)

99. रामायण, बालकाण्ड 61.3-4

100. वही, 63.3

101. विष्णुपुराण, 6.8.20

102. ब्यूलर , जी० फर्दर इंसक्रिप्शंस फ्रॉम सांची एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 2, पृ. 396-398

103. मिराशी, वी०वी० सातवाहनों एवं पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास एवं अभिलेख, पृ. 98

104. कीलहर्न, एफ०, हर्ष स्टोन इंशक्रिप्शन ऑफ दि चौहान विग्रहराज वि०सं० 1030, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 2, पृ. 116-130

105. माथुर वी०के० ऐतिहासिक स्थानावली, पृ. 231

106. अल्तेकर, ए०एस०, वही, पृ. 266-267

107. अग्रवाल, आर०सी०, ऐन अनपब्लिश्ड इंसक्रिप्शन ऑफ भर्तृपट्ट II ऑफ मेवाड, जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, वाल्यूम 35 (1) 1957, पृ. 355-358

108. व्यास, अक्षय कीर्ति, बिझोली रॉक इंशक्रिप्शन ऑफ चाहमान सोमेश्वर , वि०सं० 1226, एपिग्रैफिया इंडिका वॉल्यूम26, पृ. 84-112

109. Mishra, Ratan Lal, INSCRIPTIONS OF RAJASTHAN,Vol.1 (Jawahar Kala Kendra, Jaipur,2006) p.42

110. त्रिगुणायत सतीश कुमार, शर्मा रेखा देवी, प्राचीन राजस्थान में धार्मिक जीवन (अभिलेखों के विशेष संदर्भ में), राजस्थानी ग्रन्थागार जोधपुर, पृ. 21

111. Mishra, Ratan Lal, INSCRIPTIONS OF RAJASTHAN,Vol.1 (Jawahar Kala Kendra, Jaipur,2006) p.42

112. वही, पृ. 46-47

113. मजूमदार, आर०सी०, जोधपुर इंशक्रिप्शन ऑफ प्रतिहार बाऊक वि०सं० 84. एपिडेफिया इण्डिका, वॉल्यूम 18, पृ. 87-

114. छाबरा, वी०सी०, मांदकिला ताल इंशक्रिप्शन वि०सं० 1043, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 34, पृ.77-90

अध्याय – नवम्

प्रशासनिक व्यवस्था - राजा, प्रशासन, न्याय व्यवस्था, लोककल्याणकारी कार्य

अध्याय-नवम्

प्रशासनिक व्यवस्था- राजा, प्रशासन, न्याय व्यवस्था, लोक कल्याणकारी कार्य

राजस्थान में सभ्यता के प्रस्फुटन के बाद जैसे-जैसे नगरों एवं कस्बों का विकास हुआ वहाँ शांति एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिये प्रशासनिक तंत्र की स्थापना की आवश्यकता अनुभव की गई। नगर एवं कस्बे प्रशासन के केन्द्र बन गये। प्रत्येक नगर एवं कस्बे का प्रशासन भिन्नता लिये हुये था। कभी कभी एक ही अधिकारी विभिन्न नगरों में एवं काल में अलग-अलग नामों से जाना जाता था। पूर्व मध्यकाल में जब नगरों एवं कस्बों का तीव्र गति से विकास हुआ तो विभिन्न कर्त्तव्यों की पालना के लिये अधिकारियों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई तथा एक प्रशासनिक तंत्र स्थापित हुआ। शहरी जीवन के विकास के साथ लोग स्थानीय निकायों के माध्यम से जीवन के विभिन्न पहलुओं में रुचि लेकर अपने नागरिक कर्तव्यों को समझने लगे।

प्राचीन राजस्थान के आरंभिक काल की प्रशासनिक जानकारी हमें सिक्कों एवं कतिपय अभिलेखों से प्राप्त होती है। यह वह समय था जब यवन आक्रमण के फलस्वरूप अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से मालव, शिवि, यौधेय, अर्जुनायन आदि आयुधजीवी जातियों का पंजाब से राजस्थान में संक्रमण हुआ तथा वे राजस्थान के विभिन्न भागों में बस गईं। ये जातियाँ जनपद के रूप में संगठित थीं। इनमें भरतपुर का राजन्य जनपद एवं मत्स्य जनपद, नगरी का शिवि जनपद एवं अलवर क्षेत्र का शाल्व जनपद प्रमुख है। इसी काल से लगाकर चतुर्थ शताब्दी के प्रारंभ तक मालव, अर्जुनायन तथा यौधेयों की प्रभुता भी राजस्थान में रही। इस समय कुषाण शक्ति निर्बल हो चुकी थी और भारत में गुप्तों से पूर्व एक केन्द्रीय शक्ति का अभाव था । इन आयुधजीवी जातियों के कतिपय अभिलेख एवं सिक्कों से इनके संविधान के बारे में जानकारी मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें अर्धराजसत्तात्मक एवं अर्धगणतंत्रात्मक शासन व्यवस्था का प्रचलन था। नगरी (चित्तौड) एवं नगर (टोंक) से जो सिक्के प्राप्त हुये हैं उन पर शासक के स्थान पर जनजाति के नाम का उल्लेख प्राप्त होता है जो गणतांत्रिक व्यवस्था का प्रतीक है।

कृत संवत् 282 के नान्दसा यूप लेख में मालवगण का प्रमुख श्री सोम को वंशानुगत रूप से शासन करने वाला बताया गया है।[1] यह उल्लेख राजतंत्रात्मक व्यवस्था का द्योतक है। कतिपय

अभिलेखों एवं सिक्कों पर मुखिया के नाम के साथ महासेनापति उपाधि भी मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपाधि गणतांत्रिक एवं राजशाही दोनों ही व्यवस्थाओं में लोकप्रिय थी । रेढ़ से प्राप्त ई.पू. तृतीय-द्वितीय शताब्दी के सिक्कों पर सेनापति वछाघीस का अंकन राज्य के सर्वोच्च अधिकारी का प्रतीक है।[2] इसी प्रकार कृत संवत् 295 के बडवा पाषाण यूप लेख में मह ासेनापति बल के पुत्र सोमदेव[3] तथा भट्टि सोम सोगी के नान्दसा यूप लेख में महासेनापति सोगी भट्टि सोम का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] ई.सन 300 के लगभग विजयगढ़ (बयाना) के यौधेय लेख[5] में यौधेय गण द्वारा मनोनीत महाराज तथा महासेनापति का उल्लेख इस तथ्य का प्रतीक है कि यौधेय व्यवस्था में अर्ध-राजसत्तात्मक शासन प्रणाली को अपनाया गया था और उनके प्रमुख नेता को महाराज - महासेनापति कहा जाता था। उसकी नियुक्ति यौधेयगण करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाण एवं शक- क्षत्रपों से निरन्तर युद्ध की स्थिति ने यौधेय सेनापति को महाराज की उपाधि से भी अलंकृत कर दिया पर उसके आधिकारों पर नियंत्रण जनपद का था।

गुप्त एवं उसके बाद वर्द्धन साम्राज्य के पतन के बाद एक बार पुनः राजनीतिक एकता का लोप हो गया और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो गईं। परिणाम- स्वरूप उत्तर भारत में छोटे-छोटे राज्यों का उदय हुआ। इन विभिन्न राज्यों को एकता के सूत्र में बांधने वाली सार्वभौम सत्ता का लम्बे समय तक अभाव बना रहा। 7 वीं शताब्दी से लेकर 12वीं शताब्दी का यह काल भारतीय इतिहास में राजपूत काल के नाम से जाना जाता है। इन राजपूत राजवंशों में गुर्जर प्रतिहार, गुहिल, चाहमान तथा परमार विशेष उल्लेखनीय हैं। राजस्थान के बड़े-बडे भौगोलिक प्रदेश समय-समय पर इनके नियंत्रण में रहे। अनेक नगरों एवं कस्बों का इस काल में विकास हुआ अतः एक विस्तृत प्रशासनिक प्रणाली आवश्यक थी। इस समय की शासन व्यवस्था को समझने के लिये हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि इस समय सामन्त पद्धति का विकास हो गया था। महाराजाधिराज की अधीनता में बहुत से छोटे-बडे सामन्त राजा होते थे जो अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से शासन करते थे। इनकी अपनी स्वतंत्र सेना होती थी, राजकोष होता था और अपने क्षेत्र में इनकी स्थिति स्वतंत्र शासकों के समान होती थी।

राजा - सम्पूर्ण शासन का सर्वेसर्वा राजा होता था। उसे दैव प्रतिनिधि के रूप में बहुत पहले से माना जाता रहा फिर भी ऐतिहासिक सन्दर्भ में राजाओं की महाराज, राजाधिराज एवं दैव पुत्र आदि उपाधियों का समारम्भ संभवतः इण्डोग्रीक एवं ईरानी शासकों विशेषकर कुषाणों के यहाँ आने के बाद हुआ ।इस प्रकार की उपाधियों के अभिलेखीय दृष्टान्त हमें गुप्त- काल से प्रचुर मात्रा

में मिलने आरम्भ हो जाते हैं। गुप्त शासकों द्वारा महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक[6] एवं परम दैवत[7] आदि उपाधियों का लोकमान्य प्रचलन होने के बाद ये उपाधियां जो राजा के दैवी प्रतिनिधि होने के सिद्धान्त की अक्षरशः पुष्टि करती हैं , शताब्दियों तक चलती रही। राजस्थान से प्राप्त विभिन्न अभिलेख इस बात की पुनर्पुष्टि करते हैं।

अभिलेखों एवं तत्कालीन साहित्य के अनुशीलन से विदित होता है कि शासक ही प्रशासन का मुख्य केन्द्र होता था। राजा वैधानिक एवं सामाजिक सभी मान्यताओं के अनुसार अपने क्षेत्र की प्रजा का स्वामी होता था और प्रशासन के नागरिक, सामरिक एवं न्यायिक आदि सभी अधिकार राजा में निहित थे। लेखों में राजा को परमेश्वर कहा गया है। परमेश्वर के अतिरिक्त शासकों की तुलना विष्णु, वराह राम से भी की गई है, विष्णु के विभिन्न अवतारों से तुलना के आधार पर यह कहा जा सकता है राजा को देवांश माना जाता था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि विभिन्न राजपूत वंशों के आदि संस्थापकों का सम्बन्ध हिन्दू धर्म के अग्नि, चन्द्रमा, ब्रह्मा अथवा विष्णु एवं उनके अवतार आदि देवताओं से प्रचलित हुआ, माना गया है। राजा एक प्रकार से भूमि के उद्धारक तथा प्रजा के सरंक्षक के रूप में थे, जो म्लेच्छों से देश और प्रजा की रक्षा करते थे। प्रतिहार नागभट्ट प्रथम व द्वितीय अपने को नारायण का स्वरूप[8] मानते थे और भोज ने आदिवराह का रूप धारण किया।[9] गुहिल और चौहान शासक परमेश्वर आदि विरुद से विख्यात थे। इन सभी विरुदों में जन नेतृत्व तथा म्लेच्छों से समाज के संरक्षण की भावना छिपी हुई प्रतीत होती है। तत्कालीन साहित्य में शासक के लिए 'प्रभु' और 'वल्लभ' शब्दों का भी सम्बोधन मिलता है ।[10] 'प्रभु ' शब्द से उन्की शक्ति एवं नेतृत्व का बोध होता है वहीं 'वल्लभ' शब्द उनकी लोकप्रियता का प्रतीक था। अर्थात् इस युग के शासकों में इन दोनों गुणों का समावेश होना आवश्यक था। प्रतिहार सामन्तों द्वारा प्रतिहार सम्राटों के लिए परमभट्टारक, महाराजाधिराज आदि उपाधियों के सम्बोधन का उल्लेख विभिन्न अभिलेखों में प्राप्त होता है, लेकिन प्रतिहार राजा अपने को केवल राजा या महाराजा ही कहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका उद्देश्य लोगों को एकजुट करने का रहा हो ।इसी प्रकार प्रतिहार शासकों की नीति का उद्देश्य भी विदेशी आक्रान्ताओं के विरुद्ध अभियान में समाज के प्रत्येक वर्ग का समर्थन प्राप्त करना प्रतीत होता है। प्रतिहार शासक देवशक्ति वैष्णव था लेकिन उसका पुत्र वत्सराज परम महेश्वर था। नागभट्ट द्वितीय भगवती का उपासक था जबकि रामभद्र सूर्योपासक था। भोज भगवती का उपासक था तथापि उसने विष्णु के मंदिर का निर्माण करवाया ।[11] राजपूत काल में बड़ी संख्या में निर्मित हरिहर (विष्णु एवं शिव),

सूर्यनारायण (सूर्य एवं विष्णु) हरिहर - पितामह (विष्णु, शिव एवं ब्रह्मा) आदि प्रतिमाऐं भी उपरोक्त दृष्टिकोण की पुष्टि करती हैं। धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वय का यह दृष्टिकोण राजपूत शासकों ने हिन्दू धर्म के अतिरिक्त बौद्ध धर्म और जैन धर्म के प्रति भी अपनाया । उदाहरणार्थ राष्ट्रकूट नरेश जैन मतावलम्बी थे लेकिन उसी राजवंश के प्रसिद्ध शासक दन्तिदुर्ग ने ब्राह्मण धर्म का अवलम्बन किया । इसी प्रकार बहुसंख्यक पाल नरेश बौद्ध धर्म को मानने वाले थे। इस वंश के सबसे प्रबल प्रतापी शासक धर्मपाल ने नर - नारायण के निमित्त दान दिया । प्रतिहार नरेश वत्सराज ने कन्नौज में 100 गज ऊँचा मंदिर बनवाया तथा उसमें स्वर्ण की महावीर प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई ।[12] धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वय की नीति का यह परिणाम निकला कि प्रतिहार शासक सामन्तों एवं जनता को अपने पक्ष में रखने के कारण लम्बे समय तक साम्राज्य के अंदर शांति एवं व्यवस्था बनाए रखने में सफल रहे । भोज मुसलमानों के आक्रमण के विरुद्ध एक सुरक्षा दीवार की भांति खड़ा रहा । संभवतः इसी कारण अरब यात्री सुलेमान यह लिखता है कि भोज भारतीय राजाओं में इस्लाम का सबसे बड़ा शत्रु है । इस प्रकार धार्मिक सह अस्तित्व की नीति के कारण ही तत्कालीन शासक संस्कृति की रक्षा करने में सफल रहे । जैसाकि पूर्व में कहा गया है कि राजा में प्रशासन के नागरिक, सामरिक ,न्यायिक एवं आर्थिक सभी अधिकार समाहित थे । उनकी शक्तियां अनियंत्रित थी तथापि स्वेच्छाचारी नहीं थे। उन्हें अनेक सामन्तीय एवं नैतिक मर्यादाओं के अन्तर्गत शासन करना पड़ता था । लोकप्रिय राजाओं के नेतृत्व में प्रजा अपने को सुखी अनुभव करती थी । गुहिल वंशी शील के राज्य में उसकी जनप्रियता के कारण ही अन्य क्षेत्रों से लोग आकर वहाँ बसने लगे थे। संवत् 918 के घटियाला लेख[13] के अनुसार कक्कुक, आभीरों से त्रस्त जनता की कुशलार्थ उनके घर - घर जाता है एवं उनके लिए हाट - बाजारों का निर्माण करवाता है। जो महाजनों, विप्रों, क्षत्रियों तथा व्यापारियों से भरा हुआ था। शक्तिकुमार की प्रशस्ति में भर्तृभट्ट द्वितीय (गुहिल) को तीनों लोकों का तिलक मानकर राजाओं के नेतृत्व की कल्पना की है।[14] जिनेश्वर ने कथाकोष में लिखा है कि अच्छे लोग ऐसे राज्य में नहीं रह सकते जहाँ का शासक स्वेच्छाचारी हो ।[15] शासकों की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाने वाली अनेक संस्थाएं थीं जिनमें मंत्रीमंडल, सामन्त, स्थानीय शासन संस्थाऐं, धर्मशास्त्रीय नियम, लोकमत एवं परम्पराऐं प्रमुख हैं।

अभिलेखों से विदित होता है कि उस समय सामन्तवर्ग बहुत सबल था जिनका राज्य के प्रशासन पर पर्याप्त प्रभाव रहता था। ऐसी स्थिति में राजा का स्वेच्छाचारी होना मुश्किल था।

सामन्तों की शाक्ति एवं महत्ता का आभास अभिलेखों में प्रयुक्त उनके विरुदों यथा महाराजाधिराज परमेश्वर, महाराजाधिराज, महासामन्ताधिपति, महासामन्त, महामाण्डलिक, राजा, ठाकुर आदि से होता है।[16]

लेखों में उस समय के शासकों को धर्म - प्रतिपाल एवं धर्मपरायण आदि कहा गया है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि राजा सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु थे। इस सन्दर्भ में कतिपय अन्य अभिलेखों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। गुहिल नरेश भर्तृभट्ट द्वितीय जो स्वयं शैव था द्वारा सूर्य मंदिर के लिये भूमि अनुदान का उल्लेख 942 ई. के प्रतापगढ़ अभिलेख[17] में मिलता है। आहाड़ के जैन मंदिर की देवकुलिका के संवत् 1034 के लेख[18] में गुहिलवंशी शक्ति कुमार जैन धर्म के प्रति उदार दर्शाया गया है। भगवती उपासक प्रतिहार नरेश भोज ने विष्णु के एक मंदिर का निर्माण करवाया।[19] चौहान शासक विभिन्न देवताओं के उपासक होते हुए भी हर्षनाथ के मंदिर में भेंट समर्पित कर अपने आपको धन्य समझते हैं। अर्णोराज की व्यक्तिगत आस्था शैव धर्म के प्रति थी किन्तु पुष्कर में उसके द्वारा वराह के मंदिर का निर्माण करवाया गया[20] और खरतरगच्छ के जैन धर्मावलम्बियों को मंदिर निर्माण के लिये अजमेर में भूमि अनुदान का उल्लेख मिलता है। उसने श्वेताम्बर जैन धर्मघोष सूरि को जयपत्र प्रदान कर उसकी विद्वता के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया।[21] विग्रहराज चतुर्थ शैव होते हुए भी अन्य हिन्दू सम्म्रदायों के अतिरिक्त जैनियों को भी आदर एवं सहायता प्रदान करता था। उसके द्वारा जैनाचार्य धर्मघोषसूरि के आग्रह पर एकादशी के दिन जीव हिंसा पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाया गया।[22] इसी प्रकार हस्तिकुण्डी के राष्ट्रकूट नरेश विदग्ध द्वारा अपने गुरु वासुदेव की प्रेरणा से हस्तिकुण्डी में जैन देवालय का निर्माण करवाया।[23] धर्म में गहरी आस्था होने के फलस्वरूप उसे संसार के प्रति विरक्ति भाव पैदा हो गया था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजसी जीवन में धर्म का अत्यधिक महत्व था । शासक वर्ग सभी धर्मों के प्रति उदारता का दृष्टिकोण रखते थे। अपने राज्य विस्तार तथा आक्रमणों से अपने राज्य को सुरक्षित रखने के लिये शासक को सभी वर्गों के सहयोग की आवश्यकता होती थी। ऐसी स्थिति में उनके लिये निरंकुश होना संभव नहीं था।

हमारे अध्ययन कालीन शिलालेखों में विभिन्न शासकों हेतु विविध गुणों एवं विशेषताओं का वर्णन प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ मालव संवत् 480 के गंगधार शिलालेख[24] में राजा नरवर्म के वंश को सुविख्यात, पराक्रमी और कीर्तिशाली तथा पृथ्वीपति बताया गया है। इसी लेख में

विश्ववर्मा को बृहस्पति के समान बुद्धिवाला, सकल कलान्वित चन्द्रसम तथा राम और भागीरथ के समान बताया गया है। संवत् 746 के सामोली अभिलेख[25] में शीलादित्य को शत्रुओं को जीतने वाला, देव, ब्राह्मण और गुरुजनों को आनन्द देने वाला तथा निरन्तर विजयशील बताया गया है। संवत् 718 के कुण्डेश्वर अभिलेख[26] में गुहिल वंशी राजा अपराजित को दुष्टों के गर्व का हन्ता, अन्य राजाओं द्वारा वन्दनीय तथा उत्तम चरित्र वाला बताया गया है। संवत् 746 के झालरापाटन के शिव मंदिर अभिलेख[27] में दुर्गगण की तुलना अन्धकासुर के विनाशक शिव से की गई है । चाटसू अभिलेख[28] में शंकरगढ की पत्नी यज्जा को महान पृथ्वीपालक राजा की पुत्री बताया गया है । इसी लेख में राजा गुहिल को अस्त्र विद्या का ज्ञाता बताया गया है। युद्ध के समय राजा सेना का नेतृत्व करता था। संवत् 1136 के अर्थूणा के शिव मंदिर प्रशस्ति[29] से विदित होता है कि युद्धार्थ धनुर्विद्या तथा खड्ग के प्रयोग का ज्ञान राजपरिवार के लिए आवश्यक माना जाता था और युद्ध अश्वारूढ़ तथा गजारूढ़ होकर लड़ा जाता था। परमार शाखा का धारावर्ष धनुर्विद्या में निपुण था। एक अवसर पर उसने सफलता पूर्वक एक ही बाण के प्रहार से तीन भैंसों का भेदन किया था।

इस घटना का उत्सव मनाने के निमित्त आबू पर्वत पर अचलेश्वर मंदिर के बाहर मंदाकिनी सागर के किनारे उसकी एक मूर्ति बनाई गई जिसमें उसने एक हाथ में धनुष तथा उसके सामने तीन भैंसे खड़े थे जिनके उदर फटे हुये थे।[30]

राजपद मुख्यतः आनुवांशिक ही होता था। सामान्यतः ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकारी बनाने की परम्परा थी। कतिपय ऐसे उदाहरण - उपलब्ध हैं जब साहसी राजकुमारों ने अपने पराक्रम से नये राज्य की स्थापना की। उदाहरणार्थ चाहमान लक्ष्मण ने नाडोल में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था।[31] संवत् 894 के जोधपुर के बाउक शिलालेख[32] में नागभट्ट के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र तात ने संसार को नश्वर जान कर अपने अनुज भोज को शासन भार प्रदत्त कर स्वयं का माण्डव्य आश्रम जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी प्रकार से सं. 918 के अभिलेख[33] में राजा कक्कुक का उल्लेख मिलता है जो बाउक का सौतेला भाई था। इसी प्रकार गुहिल शासक अम्बाप्रसाद के बाद उसका अनुज शुचिवर्मा शासक बना ।

प्रशासन प्राचीन परम्पराओं एवं नियमों के आधार पर चलता था। प्रशासन में प्रजा के सुख पर विशेष बल दिया जाता था। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में शासकों द्वारा अनेक लोकोपकारी कार्यों का वर्णन मिलता है। यथा कृत संवत (वि.सं.) 282 के नान्दसा यूप[34] लेखानुसार

मालव नेता श्री सोम ने स्थानीय लोगों की जलापूर्ति हेतु तालाब एवं कूप खुदवाए थे। मालव संवत् 480 के गंगधार शिलालेख[35] में विश्ववर्मा एवं उसके मंत्री मयूराक्षक द्वारा तालाब, उपवन एवं कूपों के निर्माण का अंकन मिलता है। इसी प्रकार वि.सं. 770 के मानमोरी शिलालेख[36] में राजा भोज के पुत्र मान ने पूजा के लिये जल की व्यवस्था हेतु झील के निर्माण का उल्लेख मिलता है। बसन्तगढ़ की लाण बावड़ी का निर्माण आबू के परमार पूर्णपाल की बहिन रानी लाहनी द्वारा लोक कल्याणार्थ करवाया था । चाहमान नरेश अर्णोराज द्वारा अपनी राजधानी के समीप अन्नासागर झील, परमार शासक भोज द्वारा चित्तौड़ के निकट भोजासर तालाब तथा चाहमान नरेश बीसलदेव द्वारा विशालसर नामक तालाब के निर्माण के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

युवराज एवं महादेवी

शासक के बाद युवराज या महाराजकुमार का स्थान महत्वपूर्ण था। प्रायः शासक अपने छोटे पुत्रों को उच्च पद प्रदान करते थे ताकि शासक बनने से पूर्व प्रशासन का अनुभव एवं उचित प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें । बहुविवाह की परम्परा के कारण राजाओं के अनेक राजकुमार हुआ करते थे । अतः उनमें से एक को उत्तराधिकारी चुन लेना आवश्यक भी था। राजा अपने जीवन काल में ही अपना उत्तराधिकारी चुन लिया करते थे ताकि युद्ध एवं शांति के अवसर पर राजा के सहायक बने रहें और बाद में उत्तराधिकार की समस्या भी उपस्थित न हो। पृथ्वीराज विजय से विदित होता है कि युवराज की शिक्षा-दीक्षा का उत्तम प्रबन्ध किया जाता था।[37] किष्किंधा (कल्याणपुर) के गुहिल शासकों द्वारा जारी अनुदानों में युवराज का उल्लेख प्राप्त होता है।[38] नाडोल के चौहान शिलालेखों से भी विदित होता है कि उन्हें अपने पिता के राज्य में हिस्सेदारी प्राप्त थी।

अभिलेखों से ऐसे उदाहरण भी प्राप्त होते हैं जब पुत्र के अभाव में अनुज को युवराज बना दिया जाता था। हस्तिमाता मंदिर अभिलेख से विदित होता है कि गुहिल नरेश अम्बाप्रसाद की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई युवराज शुचिवर्मा मेवाड़ के सिंहासन पर बैठा।[39] इसी प्रकार भीमदेव द्वितीय के संवत् 1205 के आबू शिलालेख[40] से ज्ञात होता है कि चन्द्रावती के परमार शासक धारावर्ष के काल में उसका छोटा भाई युवराज पद पर कार्य कर रहा था। कभी- कभी राजा किन्हीं विशेष कारणों अथवा बीमारी के कारण अपने जीवन काल में ही राज्य कार्य से अपने को अलग कर शासन का भार महाराज कुमार को दे दिया करते थे। पृथ्वीराजविजय में शाकम्भरी के चौहान नरेश अजयराज द्वारा अर्णोराज को राज्य भार सौंप कर स्वयं पुष्कर के जंगलों में जाने का

उल्लेख मिलता है।[41] बापा का राज्य छोड़ कर संन्यास लेना और खुम्माण को राज्य सुपुर्द करना प्रसिद्ध है। वि.सं. 894 के बाउक लेख के प्रतिहार तात द्वारा अपने भाई भोज के पक्ष में राज्य परित्याग का उल्लेख मिलता है। इसी लेख में भिल्लादित्य का अपने पुत्र को राज्य देकर हरिद्वार जाने का उल्लेख मिलता है ।अभिलेखों में कतिपय रानियों के नाम का भी उल्लेख मिलता है जिन्होंने प्रशासन पर प्रभाव डाला। ये रानियाँ राजमहिषी अथवा महादेवी कहलाती थीं। अन्तःपुर में महादेवी को विशेष अधिकार प्राप्त थे। उसकी प्रतिष्ठा सभी रानियों से ज्यादा होती थी। संवत् 894 के जोधपुर से बाउक के लेख में भाटी वंश की महाराज्ञी पद्मिनी का उल्लेख मिलता है।[42] इसी प्रकर परमार यशोधवल के वि.सं. 1202 के सिरोही राज्य से प्राप्त अभिलेख में पटरानी सौभाग्यदेवी का उल्लेख प्राप्त होता है।[43] ये रानियाँ राजाओं की बीमारी अथवा राज्य के उत्तराधिकारी की अल्पवयस्कता के समय संरक्षिका के रूप में राज्य का शासन भार चलाती हुई दर्शित होती हैं। पृथ्वीराज विजय के अनुसार सोमेश्वर की रानी कर्पूरदेवी ने अपने पुत्र पृथ्वीराज तृतीय के अल्पवयस्क होने के कारण शासन भार संभाला था।[44] चाहमान अजयराज की रानी सोमल .देवी का नाम सिक्कों पर अंकित मिलता है।[45] इसी प्रकार पृथ्वीराज विजय में यह उल्लेख मिलता है कि चाहमान नरेश चन्दनराज की रानी रुद्राणी अथवा आत्मप्रभा का राज्य में पर्याप्त प्रभाव एवं सम्मान था।

मंत्री परिषद एवं केन्द्रीय प्रशासन

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में निर्णय से पूर्व मंत्रणा और सलाह देने के विचार से मंत्रीपरिषद का प्रमुख स्थान होता है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने मंत्रीपरिषद की महत्ता पर विचार करके ही किसी भी राजा अथवा राज्य के लिये इसकी उपस्थिति की अनिवार्यता पर बल दिया। महाभारत में मंत्रिमण्डल अथवा मंत्रीपरिषद के महत्व पर बल देते हुए कहा गया है कि राजा अपने मंत्रीमण्डल पर उसी प्रकार आश्रित होता है जैसे संसार के सभी प्राणी वर्षा पर, ब्राह्मण वेदों के अनुशासन पर और स्त्रियां अपने पति पर आश्रित होती हैं ।[47] कौटिल्य के अनुसार राजा की प्रशासनिक सफलता सर्वथा उसके योग्य मंत्रिमंडल की सलाह पर निर्भर करती है क्योंकि प्रशासन का रथ एक पहिए पर आधारित होकर नहीं चल सकता।[48] मनु ने भी राजनीति विषयक समस्या के समाधान के लिये मंत्रीपरिषद की सलाह पर जोर दिया है।[49] इस प्रकार इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि राजा अथवा किसी भी राजनीतिक संस्था के लिये मंत्रीपरिषद की अनिवार्य उपादेयता थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा के उच्च पदाधिकारियों के रूप में 'रत्निन' का उल्लेख मिलता है । जिनमें

पट्टमहिषी, पुरोहित, सेनानी, सूत, ग्रामणी, संग्रहिता आदि प्रमुख थे। धर्मशास्त्रों में मंत्री, सचिव एवं अमात्यों का उल्लेख मिलता है।

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि तत्समयक शासन व्यवस्था में मंत्रियों एवं उच्चाधिकारियों का राज्य व्यवस्था में विशेष स्थान था। प्रतिहार अभिलेखों में राज्याधिकारियों को राजपुरुष की संज्ञा दी गई है। मंत्री, महाप्रतिहार, महासामन्त ,महापुरोहित, धर्मस्थनीय, वंदिन अथवा वंदिपुत्र, जैसे अनेक राजदरबारी या तो सैनिक सेवाओं के सम्बन्ध में या धार्मिक क्रियाकलापों के सम्बन्ध में अथवा राजा की प्रशस्ति गान के लिये राजदरबार में उपस्थित हुआ करते थे। किन्तु वहाँ सबसे मुख्य स्थान रखने वाले मंत्री लोग ही होते थे, जिनसे परामर्श करना और प्रायः तदनुसार कार्य करना राजा आवश्यक मानता था। राजस्थान और गुजरात के जन-जीवन की प्रभूत जानकारी रखने वाले तत्कालीन लेखक महेश्वर सूरि के अनुसार वही इस लोक का शासक है, क्योंकि सम्पूर्ण कटक (सेना अथवा नौकरशाही) उसी की आज्ञाओं का वहन करती है। यदि विपत्तियों से बचाने के लिये मंत्री न हों तो राजा का नाम ही समाप्त हो जायेगा।[50] दशरथ शर्मा के अनुसार राजदरबार दो भागों में विभाजित था- बहिर-उपस्थान अथवा महास्थान एवं अभ्यंतरोप-स्थान ।[51] बहिर-उपस्थान प्रभावशाली लोगों से मिलने एवं न्याय करने का स्थान था इसमें मंत्रिमण्डल के सदस्य, सेनापति, महाप्रतिहार, महामण्डलेश्वर, महासामन्त, महापुरोहित, धर्मस्थ विद्वान ब्राह्मण, महान कवि, वन्दिपुत्र (चारण-भाट), भाषाविद्, चिकित्सा विशेषज्ञ, नाट्यशास्त्र, ज्योतिषी धातु विज्ञान, शकुन शास्त्र और स्वप्न शास्त्र के ज्ञाता एवं नगर वधुएं आदि आमंत्रित किए जाते थे। राज्य एवं प्रजा से सम्बन्धित ऐसे विषयों पर यहाँ चर्चा कर निर्णय लिया जाता था जिनमें गोपनीयता की आवश्यकता नहीं थी। अभ्यन्तरोप-स्थान (आन्तरिक दरबार) में उपस्थिति में ऐसे लोगों की थी जो राजा के विश्वासपात्र होते थे। जैन मुनि महेश्वरसूरि के अनुसार शासन का संचालन वस्तुतः मंत्रिगण ही करते थे।[52] राज्य के सभी उच्च पदाधिकारी मंत्रियों से आदेश प्राप्त करते थे। राजा नीति विशारद और विलक्षण बुद्धि वाले मंत्रियों द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुसरण करते थे। मंत्रियों की संरखा निश्चित नहीं थी। प्रमुख मंत्री इस प्रकार थे -

महामंत्री या महामात्य

राज्य में महामंत्री अथवा महामात्य का पद सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। कुवलयमाला में

महामंत्री को वंशानुगत और शासक द्वारा अत्यधिक सम्मानित बताया गया है।[53] अन्य सभी मंत्री एवं सामंत उन्हें सम्मानपूर्वक ' महामंत्रिन्' से सम्बोधित करते थे । महामंत्रिन् राजा का अति विश्वासपूर्ण और राज्य का अतीव प्रभावशाली व्यक्ति होता था। राज- शासन की मुद्रा को सुरक्षित अपने पास रखना तथा प्रशासन से सम्बन्धित राज्य के सभी विभागों (विशेषकर राजस्व विभाग) के सामान्य पर्यवेक्षण आदि महामात्य के प्रमुख कार्य थे। हमारे अध्ययन अपेक्षित अभिलेखों में महामंत्री अथवा महामात्य के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं । मालव संवत् 480 के लेख में[54] विश्ववर्मन के मंत्री मयूराक्षक का उल्लेख प्राप्त होता है जिसने वैष्णव मंदिर मातृदेवियों का मंदिर तथा एक बावड़ी का निर्माण करवाया । संवत् 746 के झालरापाटन के शिव मंदिर अभिलेख[55] में वोप्पक का उल्लेख प्राप्त होता है जो दरबार का एक अधिकारी था तथा जिसने झालरापाटन के राजा दुर्गगण के सामन्तों के राजनीतिक क्रिया - कलापों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । चतुर्थ विग्रहराज के महामंत्री श्रीधर[56] एवं राजपुत्र सलक्षणपाल के उल्लेख क्रमशः ललित विग्रहराज नाटक एवं संवत् 1220 के शिवालिक स्तम्भलेख[57] में प्राप्त होते हैं। पृथ्वीराज विजय में कदम्बवास को पृथ्वीराज चौहान तृतीय का महामंत्री बताया गया है ।[58] अल्हण के राज्यकाल में नाडौल में संवत् 1218 में लक्ष्मीधर महामात्य के पद पर आसीन था[59] और संवत् 1249 के केल्हण के समय बाल्हण महामात्य के पद पर नियुक्त था।[60] जालौर के इतिहास में यशोवीर एवं जेटा देवड़ा महामंत्रियों के रूप में प्रसिद्ध थे।[61]

सेनापति अथवा दण्डनायक

महामंत्री अथवा महामात्य के बाद सेनापति अथवा दण्डनायक का पद महत्वपूर्ण होता था । राजा सेनापति से सैन्य से जुड़े सभी विषयों पर मंत्रणा किया करते थे । बड़वा से प्राप्त यूपलेखों में महासेनापति बल का उल्लेख प्राप्त होता है ।[62] इसी भांति नान्दसा के तिथि विहीन लेख में महासेनापति सोगी भट्टि सोम[63] तथा विजयगढ के यौधेय शिलालेख में भी महासेनापति का अंकन है।[64] संवत् 718 के कुण्डेश्वर शिवमंदिर से प्राप्त शिलालेख में अपराजित के सेनापति वराहसिंह का उल्लेख प्राप्त होता है।[65] संवत् 1003 के प्रतापढ़ लेख[66] में महासामन्त दण्डनायक माधव था । सेना से सम्बन्धित अन्य पदाधिकारियों का वर्णन सैन्य प्रशासन शीर्षक के अंतर्गत आगे किया जाएगा ।

संधिविग्रहिक

सांधिविग्रहिक जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है राज्य के संधि एवं विग्रह जैसे प्रकरणों का अधिकारी होता था । इसकी तुलना आजकल के विदेशमंत्री से की जा सकती है । सामान्यतः इस पद पर धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र, मीमांसा एवं अर्थशास्त्र आदि विषयों में प्रवीण व्यक्ति को ही नियुक्त किया जाता था । संवत् 1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति में अल्लट के सांधिविग्रहिक दुर्लभराज का कथन है।[67] प्रबन्ध चिंतामणि में विग्रहराज (चतुर्थ) के सांधिविग्रहिक को सुप्रसिद्ध व्याकरणाचार्य बताया गया है । चाहमान नरेश अल्हण के किराडू से प्राप्त लेख का लेखक खेलादित्य उसका सांधि - विग्रहिक था।[68]

अक्षपटलिक

अक्षपटलिक का मुख्य कार्य राज्य के आय व्यय का ब्यौरा रखना था । इसे राज्य का सर्वोच्च लेखाधिकारी कहा जा सकता है । लक्ष्मीधर को उद्धृत करते हुए दशरथ शर्मा ने लिखा है कि उसके पास राज्य के आय -व्यय तथा उपज सम्बन्धी समस्त जानकारी होती थी ।[69] तिलकमंजरी के अनुसार वह अभिलेखागार का सर्वोच्च अधिकारी होता था और जागीरों एवं दानपत्रों की व्यवस्था करता था।[70] संवत् 1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति में अल्लट के अक्षपटल मयूर एवं समुद्र का उल्लेख प्राप्त होता है।[71] बाद में नरवाहन के समय में मयूर का पुत्र श्रीपति और शक्ति कुमार के समय श्रीपति का पुत्र मत्तट इस पद पर विराजमान थे। इन उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह पद वंश परम्परागत बन गया था।

भण्डागारिक

भण्डागारिक राजकीय कोठारों अथवा भण्डारों का मुख्य अधिकारी होता था जिसे अमात्य की संज्ञा दी गई है । दशरथ शर्मा के अनुसार उसकी तुलना कौटिलीय अर्थशास्त्र में उल्लिखित 'सन्निधाता' से की जा सकती है ।[72] समराइच्चकहा में छैल्ल भण्डागारिक का वर्णन मिलता है जो राजकीय आभूषणों के भण्डार का पदाधिकारी होता था। नाडौल की चाहमान शाखा के संस्थापक लक्ष्मण ने अपनी वैश्य पत्नी से उत्पन्न पुत्रों को राजकीय भण्डारों को संभालने का कार्य दिया था । वे भण्डागारिक कहलाते थे ।[73]

महाप्रतीहार या दौवारिक

महाप्रतीहार या दौवारिक राजसभा का उपरीय अधिकारी होता था। राजदरबार में आने - जाने वाले लोगों पर नियंत्रण करता था तथा उन्हें अभिवादन की शिक्षा भी देता था।[74] यह सभी दरबारियों से अनुशासन की अपेक्षा रखता था। इस पद का महत्व इस बात से समझा जा सकता है कि प्रतिहारों के समय के सीमदोनी अभिलेख[75] में उण्डभट नामक महाप्रतीहार को महासामन्त और महासामान्ताधिपति कहा गया है। वसन्तढ़ से प्राप्त संवत् 682 के एक अभिलेख में प्रतिहार पदाधिकारी भोटक का उल्लेख मिलता है।[76] तिलक मंजरी में महाप्रतीहारों के कार्यों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

धर्मस्थ तथा पुरोहित

न्याय विभाग का अधिकारी धर्मस्थ या धर्मस्थेय होता था। यह राजा को शासन व्यवस्था में सहायता करता था।धर्मस्थेय का मुख्य कार्य यह देखना था कि किसी के साथ अन्याय न हो।[77]

इनके अतिरिक्त राज्य में धार्मिक कार्यों के लिये महापुरोहित नामक पदाधिकारी होता था। तिलक मंजरी में महापुरोहित या पुरोहित का उल्लेख प्राप्त होता है। भोजदेव के बराह ताम्रपत्र[78] में 'व्यवहारिन्' नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है। संभवतः यह न्याय विभाग का पदाधिकारी था और सभी विषयों के कानूनी दृष्टिकोण का विश्लेषण किया करता था। दौलतपुरा दानपत्र[79] में व्यवहारिन् के विषय में वर्णन मिलता है।

राजदरबार से सम्बंधित अन्य पदाधिकारियो में वैद्य, नैमतिक (ज्योतिषी) बन्दी पुत्र (भाट) और अन्तर्वशिक (अन्तःपुर या पदाधिकारी) विशेष उल्लेखनीय हैं। सारणेश्वर प्रशस्ति में रूद्रादित्य नामक भिषगधिराज तथा नाग नामक बंदी पुत्र का उल्लेख मिलता है।[80]

गुहिल एवं चाहमान अभिलेखों में अन्य पदाधिकारियों के नाम भी मिलते हैं।[81] इनमें प्रतिहार महल या राजधानी के द्वार का अधिकारी होता था। प्रमार्तृ_राजा के हिस्से के अनाज को मापने का प्रभारी अधिकारी था।सेनापति_बलाधिकृत के नाम से विदित था । चौरोधरनिक, चोरी के मामलों से निपटने के लिए पुलिस अधिकारी का नाम था।_दण्डपाशिक_पुलिस कर्मियों के समूह का मुखिया होता था।_शौल्किक_ सीमा शुल्क विभाग का पदाधिकारी होता था।

प्रतिशारक_का कार्य टोल से सम्बन्धित था । सभी महत्वपूर्ण नगरों में संग्रहार्थ कस्टम हाउस हुआ करते थे । जिनका कार्य नगर में आने वाले सामान से कर वसूलना था। ई.सन् 1156 के कुमारपाल एवं सन्1171 के अल्हणदेव के प्रस्तर लेखों में कस्टम हाउस का वर्णन मिलता है।[82] सन्1018 के शेरगढ़ लेख[83] में_वरांग नामक पदाधिकारी का कार्य सड़कों पर टोल वसूली बताया है। तलार शहर का कोतवाल था।

अभिलेखों में यत्र -तत्र नियुक्तक, आनियुक्तक तथा गमागमिक जैसे पदाधिकारियों के भी उल्लेख किए हैं। संवत्1016 के मथनदेव के राजौर अभिलेख[84] में नियुक्तक का अंकन तथा उपमितिभवप्रपंचकथा में महासन्नियुक्तक को राजकीय पाकशाला का अधिकारी बताया गया है । इस उद्धरण से यह अनुमानित होता है कि नियुक्तक विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते थे।[85] वृहत्कथाकोष में 'गतागत' शब्द आया है ।दशरथ शर्मा के अनुसार यह राजदूत या राजभृत्य रहा होगा। उसका कार्य राजा के आदेश पत्रों को निर्धारित पदाधिकारी तक पहुंचाना था ।[86]

तत्कालीन ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर यह भी ज्ञात होता है कि मंत्रिमण्डल, राजतंत्र का अभिन्न अंग होते हुए भी राजा मंत्रियों की राय मानने को बाध्य नहीं था। चाहमानों के इतिहास में ऐसे कई दृष्टान्त मिलते हैं । जब राजा ने मंत्रियों की सलाह मानने से इंकार कर दिया। उदाहरणार्थ विग्रहराज (चतुर्थ) ने कई अवसरों पर श्रीधर की सलाह को नहीं माना और अर्णोराज ने भी अपने अनुभवी एवं कुलीन मंत्रियों की सलाह से असहमति व्यक्त की थी ,किन्तु राज्य की आपातकालीन स्थिति में प्रायः मंत्रियों से गहन विचार-विमर्श किया जाता था और उनकी सलाह को महत्व भी दिया जाता था। उदाहरणार्थ पृथ्वीराज (द्वितीय) के देहान्त के बाद उसका कोई उत्तराधिकारी न होने पर सोमेश्वर को गुजरात से बुला कर शासन भार सम्भालने का महत्वपूर्ण निर्णय मंत्रिपरिषद ने ही लिया था। इसी प्रकर सोमेश्वर की भी मृत्यु के उपरान्त पृथ्वीराज (तृतीय) के अल्प वयस्क होने की अवस्था में मंत्रिपरिषद ने अपने स्वयं के निर्णय के अनुसार उसकी माता कर्पूरदेवी को 'राजचिन्तक' बनाकर शासन का संचालन करने में मदद की थी|

प्रान्तीय शासन

हमारे विवेच्याधीन प्रस्तरलेखों से उस समय के प्रान्तीय शासन की व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है । राज्य का सर्वेसर्वा राजा होता था तथापि साम्राज्य सामन्तवादी व्यवस्था पर भी आधारित थे ।प्रतिहारों के प्रभाव वशीभूत शाकम्भरी के चौहान, दिल्ली के तोमर, मेदपाट के गुहिल

और महोबा के चन्देल जैसे सामन्त थे। सामन्त महाराजाधिराज, परमेश्वर, सहासामन्ताधिपति, राजा, राजकुल एवं ठाकुर आदि उपाधियाँ धारण करते थे। राज्य का बहुत बड़ा भूखण्ड सामन्तों के अधीन होता था। बागड़, जालौर एवं आबू आदि चौलुक्यों के सामन्ती क्षेत्र में थे। प्रतिहार एवं चौहान शासक अपने विशाल साम्राज्य पर अपने सामन्तों के माध्यम से ही शासन करते थे , जो क्षेत्र ठाकुर, रणक और भोक्ता नामक सामन्तों के अधीन थे उनके अपने महल, किले, एवं दरबार होते थे। किन्तु वे शासक (राजा) के आधिपत्य को स्वीकार करते थे। वे राजा को निश्चित संख्या में सैन्य टुकड़ी प्रदान करते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के मैदान में भी जाते थे। राज्य द्वारा निर्धारित राशि का वे राजा को भुगतान करते थे। अपने क्षेत्र में भी जाते थे। अपने क्षेत्र में शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखना उनका कर्तव्य था। प्रान्त के गर्वनर को 'राजस्थानीय' भी कहा जाता था। चित्तौड़ से प्राप्त लगभग ई. सन् 6 वीं शताब्दी के एक खण्डित शिलालेख[87] में वराह के पौत्र का उल्लेख प्राप्त होता है जो मालवा के राजा के अधीन राजस्थान क्षेत्र में दशपुर एवं मध्यमा का ' राजस्थानीय' (गवर्नर) था। यह राजस्थानीय नैगम परिवार का प्रतीत होता है जो दशपुर के औलिकरों के अधीन काम करता था । डॉ. दशरथ शर्मा ने प्रतिहार साम्राज्य में भुक्ति का भी वर्णन किया है जो साम्राज्य की सबसे बड़ी इकाई थी। प्रतिहार प्रस्तर लेखों में कान्यकुब्ज एवं श्रावस्ती का वर्णन है जिनमें कालिंजर और श्रावस्ती मंडल सम्मिलित थे। इस प्रकार ' भुक्ति ' मंडलों ' में विभाजित थे। ' मण्डल ' के राजा 'मण्डलिक ' कहलाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह राज्यपाल की ही उपाधि थी । मेनाल से मिले संवत् 1212 के लेख के अनुसार शाकम्भरी के चौहानों के प्रति निष्ठा रखने वाले मेघनाद नामक ' मण्डलिक' का शासन था।[88] ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब शासकों ने प्रशासनिक उद्देश्य हेतु विजित प्रान्तों के लिए राज्यपाल नियुक्त किए । संवत् 1207 के कुमारपाल द्वितीय के लेख से ज्ञात होता है कि कुमारपाल ने मधुसूदन के पुत्र सोमेश्वर को अपने चित्तौड़ दौरे के समय वहाँ का राज्यपाल नियुक्त किया ।[89] इसी प्रकार नाडोल को दण्डाधीश वज्जलदेव के अधीन किया । ई.सन् 1276 में चाचिगदेव के शासनकाल में धर्मसिंह जो आयात - निर्यात का प्रभारी था, वह सांचोर, रतनपुर एवं रदधर का गवर्नर भी था।

भुक्ति एवं मण्डलों के अधीन अन्तर्गत विषय होते थे जिनका उपरीय अधिकारी 'विषयपति' कहलाता था। भोजदेव के बाडा और प्रथम महेन्द्रपाल के दिगहवा दुबौली ताम्रपत्रों से विदित होता है कि मण्डल से छोटी इकाई 'विषय ' थी। प्रतापगढ़ लेख के अनुसार विषयों के भाग 'पथक' एवं 'खेटक' होते थे।

न्याय व्यवस्था

किसी भी राज्य में कानून और व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से न्यायिक व्यवस्था का प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में तत्कालीन न्याय-व्यवस्था पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता लेकिन तत्कालीन साहित्यिक स्रोत इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। वृहत्कथाकोष से विदित होता है कि चोरी उस समय एक भीषण अपराध माना जाता था और चोर को कठोरतम, शारीरिक दण्ड दिया जाता था। मक्का की तौल में धोखाधड़ी करने के आरोपी व्यक्ति की जीभ, पैर एवं हाथ काट लिये जाते थे। परस्त्री के साथ दुराचार करने वाले व्यक्ति को लोहे से निर्मित लाल एवं गर्म महिला की मूर्ति को आलिंगन करने की सजा दी जाती थी। सत्य परीक्षण के लिए अग्नि-परीक्षा भी देनी होती थी।[90] हरिभद्रसूरि ने समराइच्चकहा में राजकीय कारागार का वर्णन दूसरे नरक के रूप में किया है। अपराध सम्बन्धी प्रारंभिक जाँच तलार, दण्डपाशिक और आरक्षिक नामक अधिकारी द्वारा की जाती थी। समराइच्चकहा के अनुसार विवादास्पद प्रकरणों में राजा धर्मशास्त्र के विशेषज्ञों से सलाह - मशवरा करता था। राजा सर्वोच्च न्यायाधिकारी होने के कारण उसके समक्ष अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील की जाती थी। वृहत्कथाकोष में, 'साधनिक' नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है जिनका कार्य अपराध से सम्बन्धित प्रकरण के साक्ष्य एकत्रित करके अभियोगी को धर्माधिकारियों की उपस्थिति में अपना अपराध स्वीकार करवाना होता था। दशरथ शर्मा ने 'साधनिक' की तुलना वर्तमान राजकीय अभियोजक से की है। हमारे अध्ययनसापेक्ष अभिलेखों[91] में 'दशापराध' का उल्लेख मिलता है। इन दशापराधों में राजाज्ञा का उल्लंघन, स्त्री -वध, वर्णसंकरता, परस्त्री गमन, बिना पति के 'गर्भ धारण करना, वाक् पारुष्य (कठोर वाणी), अवाच्य (गाली-गलौच),दण्डपारुष्य एवं गर्भपात सम्मिलित थे।

उपमितिभव-प्रपंचकथा और समराइच्चकहा से विदित होता है कि केन्द्र की भांति भुक्ति एवं मण्डलों में सामन्तगण न्याय व्यवस्था के मुख्य होते थे, जो किसी भी व्यक्ति को अपराधी पाये जाने पर धर्मशास्त्र पाठकों की सलाह से दण्डित किया करते थे। उपरोक्त ग्रन्थों में चोरी का सामान खरीदने और बेचने वाले व्यापारियों की सम्पूर्ण सम्पत्ति हड़प लेने और उन्हें दण्डित करने आदि के उल्लेखों से इस बात की पुष्टि होती है। न्याय के कार्य में सलाह देने के लिये नियुक्त 'धर्मशास्त्र ' पाठकों के अतिरिक्त प्रमाणादि के विवरणों का लेखा-जोखा रखने के लिए 'धर्माधिकरणिक भी रखे जाते थे। 'करणिक ' अथवा 'धर्माधिकरणिक' नाम के सहयोगी

अधिकारियों के अतिरिक्त न्याय के कार्य में अपराधियों से उनका अभियोग स्वीकार करवाने और अपराध को प्रमाणित करने के कार्य में 'नगर महत्तर ' और पंचकुल नामक प्रतिनिधि का भी सहयोग लिया जाता था। 'कुवलयमाला' में 'नगर महत्तरों ' को 'नगर महल्लक ' नाम से अभिहित किया गया है। भोज प्रथम के वराह एवं दौलतपुरा लेख में 'व्यवहारिन ' नामक एक अधिकारी का भी उल्लेख आया है जिसकी भूल के कारण कालंजर मण्डल के एक दान पत्र पर लंबे काल तक कार्यवाही नहीं हो सकी । गाँव में स्थानीय मामले पंचकुल तय करते थे । प्रकरणों के निर्णय में नैतिक बन्धन और मानव धर्म को प्रधानता दी जाती थी । ऐसा होने से उस समय अपराध कम होते थे।

डॉ. दशरथ शर्मा की यह मान्यता है कि राज्य की सुरक्षा विषयक और सार्वजनीन हित के विरुद्ध किये गये अमानुषिक अपराधों आदि में राजा का ही निर्णय प्रधान होता था। न्याय सम्बन्धी स्थानीय महत्व की संस्थाओं के होते हुए भी यह निश्चित नहीं था कि प्रत्येक व्यक्ति न्याय के लिये उनसे ही याचना करने जायें। खरतरगच्छपट्टावली एवं लेख पद्धति जैसे साहित्यिक ग्रन्थों से भी इस बात के दृष्टान्त मिलते है जब लोग न्याय पाने के लिये सीधे राजकुल से भी याचना करते थे।[92]

लेख पद्धति में वादी एवं प्रतिवादी दोनों से ही मांगी जाने वाली 'गर्दभ-पत्र' से निष्पक्ष न्याय का अनुमान लगाया जा सकता है।[93] लेख पद्धति में 'गर्दभ - पत्र ' का विवरण देते हुए बताया गया है कि जब किसी ब्राह्मण के विरुद्ध न्यायालय में अभियोग पर सुनवाई, होती थी तब उस ब्राह्मण से निर्णय सुनाये जाने से पूर्व एक घोषणापत्र इस आशय का ले लिया जाता था कि यदि निर्णय उसके पक्ष में न हुआ अथवा वह निर्णय से सन्तुष्ट न हुआ और उसके फलस्वरूप उसने आत्महत्या करली तो उस पाप के भागी राजा, न्यायाधीश , पंडित तथा धर्माधिकरणिक नहीं होंगे, बल्कि वह स्वयं उस पाप का भागी होगा। इस 'गर्दभ-पत्र' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि न्यायादि के मामलों में ब्राह्मणादि विशिष्ट वर्गों के लोगों को विशेषाधिकार के रूप में प्रदान की गई कतिपय, सुविधाओं के बावजूद भी यदि वे अपनी सीमा पार कर राज्य और समाज द्वारा समर्थित मर्यादाओं का उल्लंघन करते थे तब न्यायालय द्वारा उन्हें किसी भी प्रकार की छूट दिये बिना निष्पक्ष रूप से दण्डित किए जाने का प्रावधान था।

सैन्य प्रशासन

राज्य के अस्तित्व और तदनुरूप राजा की सम्प्रभुता के अस्तित्व की रक्षा के लिये न केवल अतीत में अपितु वर्तमान में भी सेना की उपस्थिति नितान्त रूप से आवश्यक बनी हुई है। राजनीतिक व्यवस्था चाहे राजतांत्रिक रही हो अथवा प्रजातांत्रिक दोनों में ही राज्य और उसकी सीमाओं की सुरक्षा का प्रश्न प्रधान रहा है। हमारे अध्ययनकाल में युद्ध और उसके द्वारा राज्य विस्तार को प्रधानता दी जाती थी और सैन्य संगठनों का राज्य के कार्यों में प्रमुख स्थान था। हमारे अध्ययन कालीन अभिलेखों में विभिन्न शासकों को युद्धकला में निपुण बताया गया है। ई.पू.द्वितीय- प्रथम शताब्दी के नगरी (मध्यमिका-चित्तौड़) लेख[94] में सर्वतात अश्वमेधयाजी बताया गया है । कृत् संवत् 282 के नांदसा यूप लेख[95] के नायक सोम को युद्ध में विजयोपरान्त नर्तन करने वाला बताया गया है। संवत् 480 के गंगधार लेख[96] में राजा विश्ववर्मा को कुशल सैन्य संचालक एवं खड्ग विद्या में निपुण बताया गया है। संवत् 770 के मानमोरी लेख[97] में अवन्तिपुर के राजा भीम को नौ सैनिकों को प्रशिक्षित करने में दक्ष तथा राजा भोज को गज युद्ध में दक्ष बताया गया है। इसी प्रकार लगभग 10 वीं शताब्दी के चाटसू लेख[98] में गुहिल वंशी भर्तृपट्ट का युद्धकला में अत्यन्त दक्ष तथा कृष्णराज को रथचक्र एवं सैन्य चक्र से शत्रुओं पर विजय पाने वाला बताया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह वह समय था जब निरन्तर युद्ध होते रहते थे। सैन्य प्रशासन का संचालन बलाधिकरण (सैनिक विभाग) द्वारा होता था जो राजधानी अथवा राज्य के केन्द्र में स्थित होता था। सेना या सर्वोच्च पदाधिकारी स्वयं राजा होता था। सिद्धान्ततः वह युद्ध काल में सेना का नेतृत्व तथा संचालन करता था। जब किसी भाग को विजय करके राज्य में सम्मिलित कर दिया जाता था तो साधारण एवं सैन्य शासन की व्यवस्था में बहुत कम अन्तर रहता था। इसलिए पुलिस अधिकारी, मंत्री और अदालत के काम और पद में साम्यता दर्शित होती है।हमारे अध्यनकालीन अभिलेखों एवं तत्कालीन साहित्य में सैन्य अधिकारियों का अंकन मिलता है । उनमें, सेनापति या महादण्डनायक, दण्डनायक,बलाधिकृत, महायुद्धपति, पीलुपति , अश्वपति, पाइक्काधिपति, कोट्टपाल एवं मर्यादाधुर्य आदि प्रमुख हैं।[99] इनमें से महादण्डनायक को जिनके नाम और पद वाहिनीपति, दण्डाधिपति, सेनानायक सेनाधिपति, सैन्यपति, दण्डनायक और दण्डपति आदि नाम भी मिलते हैं। विद्वानों ने इसे पुलिस का मुखिया, न्यायाधीश, मुख्यमंत्री और अधीनस्थ सामन्त आदि माना है। परन्तु मंजरी के लेखक धनपाल ने दण्डाधिपति को ही वाहिनीपति और महादण्डाधिपति आदि के रूप में उल्लिखित करने से विदित होता है कि

दण्डनायक मुख्यरूप से सेनापति की ही उपाधि थी जो बहुत सम्भवतः प्रशासन की आवश्यकतानुसार, शान्त समय में अन्य कामों का भी पर्यवेक्षण करता था। दशरथ शर्मा ने 'दण्डनायकों' को दिल्ली सल्तनत के समय के 'इक्तादार' के समकक्ष माना है जिसका कार्य भी राज्य में प्रथम बार सम्मिलित की गई रियासतों का इन्तजाम देखना होता था।[100]

इसके प्रमाण अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ चौलुक्य कुमारपाल ने चित्तौड़ विजयोपरान्त दण्डनायक, सज्जन को चित्तौड़ का प्रशासक नियुक्त किया था ।[101] संवत् 1003 के प्रतापगढ़ शिलालेख में तंत्रपाल महासामन्त महादण्डनायक माधव की नियुक्ति उज्जयनी में होना उल्लिखित है। वह प्रतिहार साम्राज्य के उज्जयनी क्षेत्र का प्रतिनिधि था।[102] नाडोल में दण्डाधीश वैजल्यदेव ने चालुक्य कुमारपाल के प्रतिनिधि के रूप में शासन किया। इसी प्रकार चालुक्य भीम ने अर्बुदमण्डल पर अधिकार कर प्राग्वाट वंश के दण्डनायक विमल को प्रशासन हेतु नियुक्त किया था। तिलक मंजरी में दक्षिण एवं उत्तर में सैन्यबल रखने का उल्लेख हुआ है।[103] प्रतिहारों द्वारा राष्ट्रकूटों की गतिविधियों पर ध्यान रखने के लिये एक सेना दक्षिण में रखी गई थी। एक सैन्य टुकडी मुसलमानों के प्रतिरोध हेतु पश्चिम क्षेत्र में दण्डनायक के नेतृत्त्व में रखी गई तथा दो सैन्य टुकडी ऐसी थी जिन्हें आवश्यकतानुसार किसी भी ओर भेजा जा सकता था। बलाधिकृत, सेना का दूसरा मुख्य अधिकारी था। 'हर्षचरित' में उसे सेनापति से भिन्न दर्शाया गया है। कक्क द्वितीय के आन्तरोली, छारोली से प्राप्त दानपत्र में बलाधिकृत को 'चोरोद्धरणिक ' से ऊपर और सेनापति से नीचे की कोटि का अधिकारी बताया गया है। 'उपमितिभवप्रपंचकथा' में बलाधिकृत को नगर शासन का अधिकारी बताया गया है, शासन कार्य में उसकी सहायता के लिये महत्तम (महत्तर) नामक एक अन्य अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। संवत् 1003 के प्रतापगढ़ शिलालेख में महासामन्त दण्डनायक श्री माधव को उज्जयिनी का अधिकारी कहा गया है वहीं पर श्री शर्मन को 'बलाधिकृत' कोक्कट द्वारा अधिकृत मण्डपिका का प्रमुख बताया गया है।[104]

प्रतिहारों के एक अन्य अभिलेख में 'तत्तक' नाम के बलाधिकृत की भी सूचना मिलती है जो 'कोटपाल ' अल्ल के सहयोग से शासन करता था।[105] चाहमान अभिलेखों में बलाधिकृत या बलाधिप नगर स्थित सैन्य टुकड़ी का नायक तथा मण्डपिकाओं से सम्बन्धित पदाधिकारी बताया गया है ।[106]

बलाधिकृत के बाद 'महायुद्धपति' एवं एक अन्य पदाधिकारी था जिसे समराइच्छकहा में शस्त्रागार का पदाधिकारी बताया गया है।[107] 'पीलुपति' हस्ति सेना का प्रमुख था और 'अश्वपति' घुड़सवार सेना का प्रमुख था। पैदल सेना का पदाधिकारी 'पाइक्काधिपति' कहलाता था।[108] यद्यपि रथों की उपादेयता बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी थी। फिर भी यत्र-तत्र रथ सेना का प्रबन्ध देखने वाले 'स्यन्दनपति' नामक अधिकारियों का उल्लेख आता है। समराइच्चकहा में रथों की व्यवस्था का प्रबन्ध भी महायुद्धपति के हाथ में ही बताया गया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि रथ- सेना का अपना अलग अस्तित्व प्रायः समाप्त हो चुका था। लेकिन संवत् 1003 के प्रतापगढ़ शिलालेख में प्रतिहार देवशक्ति के नौकाओं, हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदल सेना से सम्पन्न सैन्य शिविर का उल्लेख प्राप्त होता है।[109] पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज द्वारा गौड़पुर के विरुद्ध अभियान में ऊंटों के प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है।[110] दुर्ग का प्रधान 'कोटपाल' कहलाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान का 'कोतवाल' शब्द कोटपाल का ही अपभ्रंश हो। ग्वालियर अभिलेख में अल्ल का उल्लेख प्राप्त होता है जिसने अपने पिता से 'मर्यादाधुर्यु' का कार्यभार सम्भाला था ,ग्वालियर के दुर्ग का कार्यभार भी 'कोट्टपाल' की हैसियत से देखता था।[111] चण्डियन नाम के एक अन्य 'कोट्टपाल ' का भी उल्लेख प्राप्त होता है। जिसने अपने स्वामी गुणराज के हितों की रक्षार्थ मधुवेणी नदी के तट पर हुये युद्ध में आत्माहुति दी थी |[112]

सेना सम्बन्धी उपरोक्त अधिकारियों के अतिरिक्त मर्यादाधुर्य नामक अधिकारी का भी उल्लेख प्राप्त होता है। मर्यादाधुर्य से तात्पर्य उस व्यक्ति या अधिकारी से है जो राज्य की मर्यादा अथवा सीमा की निगरानी का अधिकारी होता है। दशरण शर्मा ने इस प्रकार के अधिकारियों की तुलना मौर्य कालीन सेना अंतःपाल नामक अधिकारियों से करते हुये उन्हें सेना के प्रधान प्रयाण सम्बन्धी प्रबन्ध का भी मुख्य माना है।[113]

सैनिकों की पोशाक के बारे में जिनेश्वर के कथाकोष एवं सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इनमें भी कथाकोष की अपेक्षा 'यशस्तिलक_चम्पू' से प्राप्त होने वाली सूचना अधिक उपयोगी है। इसमें कहा गया है कि सैनिक प्रायः अधोवस्त्र के रूप में धोती पहनते थे जो उनके घुटनों तक लटकती थी। कमर में भैंस के सींग के बने हत्थों वाले कटार बंधे होते थे। सैनिकों का शरीर नैसर्गिक रूप से उगे बालों से आच्छादित रहता था जो कवच का कार्य करते थे। उनके सिर पर बालों की लम्बी लटें तथा दाढ़ी एवं मूछों के बालो से पूरा चेहरा ढका रहता था। उनके कन्धों के पीछे तरकश टंगे रहते थे जिनसे वे धनुर्विद्या में दक्ष दिखते थे। घुड़सवारों के पास भाला,

तलवार एवं ढाल रहती थी।[114] गुप्तचर्या की व्यवस्था का विवरण 'ललितविग्रहराज नाटक' में उल्लिखित है।

बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा के लिये दुर्गों का निर्माण किया गया। प्रतिहार नरेशों ने जालौर, मण्डोर एवं ग्वालियर के दुर्गों का निर्माण करवाया। तारागढ़, हाँसी, सिवाना, नागौर, चित्तौड़ आदि हमारे अध्ययनकाल के प्रसिद्ध दुर्ग थे।

सेना के प्रयाण के सम्बन्ध में भोज परमार के राज्याश्रित कवि धनपाल ने 'तिलक मंजरी' में वर्णन करते हुए लिखा है कि जब सेना प्रयाण करती हुई ग्रामों आदि के पास से होकर गुजरती थी तब थोड़ी देर के लिये हाथियों पर सज-धज कर बैठी हुई वेश्याओं और अच्छे-अच्छे वस्त्र पहन कर छतरी लगाये साथ में चलते हुये, रसद का प्रबन्ध संभालने वाले व्यापारियों आदि को देख कर ग्रामीणों का मनोरंजन तो अवश्य होता था किन्तु जिन लोगों के खेत सेना के रास्ते में पड़ने के कारण बर्बाद हो जाते थे या उजाड़ दिए जाते थे । वे इससे बुरी तरह दुःखी भी होते थे।[115] सेना के प्रयाण के समय राजा सेना के साथ शिविर में रहता था। चालुक्य कुमारपाल के संवत् 1207 के लेख से विदित होता है कि जब उसने शाकम्भरी के राजा को पराजित कर सपादलक्ष का मर्दन कर दिया तब शालिपुर नामक स्थान पर उसने अपना शिविर लगाया।[116] ऐसे शिविरों का विस्तृत विवरण माघ के शिशुपाल वध में प्राप्त होता है। राजा का शिविर केन्द्र में होता था।[117] आवश्यक वस्तुओं के लिये बाजार की व्यवस्था रहती थी । सैन्य शिविर में सेना-नायकों एवं सामन्तों के मनोरंजन हेतु राज स्त्रियों के अतिरिक्त वेश्याऐं भी होती थी ।

राजस्व प्रशासन

आर्थिक साधनों की उपादेयता और धनोपार्जन की अनिवार्यता प्रत्येक युग में रही है। आर्थिक, साधनों के अभाव में राजा और राज्य के अस्तित्व की कल्पना भी असंभव थी, क्योंकि राजा को सेना के खर्च तथा प्रशासन के लिये धन की आवश्यकता थी। इनके अतिरिक्त राजा स्वयं और उसके परिवार के सदस्यों के अपनी पद एवं गरिमा के अनुरूप वैभवपूर्ण जीवन निर्वाह के लिये एवं सांस्कृतिक, धार्मिक अनुष्ठानों एवं कर्तव्यों की सार्वजनिक सम्पूर्ति के लिये भी आर्थिक संसाधनों की आवश्यकता थी। यह आवश्यकता, विशेषकर राजा के लिये वर्तमान की अपेक्षा कहीं अधिक थी, क्योंकि आज के प्रशासक वैधानिक रूप से जनता के सेवक होते हैं, जबकि राजा उनका स्वामी होता था। अतः राजा अपनी प्रजा के साथ इस विशिष्टता को बनाये रखने के लिये अपने

राज्य के सभी आर्थिक साधनों को सुरक्षा और प्रोत्साहन प्रदान करता था और उसके बदले में प्रजा से अमुक अमुक प्रकार की आर्थिक संस्थाओं से कर के रूप में अपना स्वयं का अंश भी वसूल करता था।

राज्य की आय के तीन प्रमुख परम्परागत आय के साधन थे - भाग (उपज में राजा का भाग), शुल्क (चुंगी), एवं दण्ड से प्राप्त धन । राज्य में कृषक, श्रमिक, व्यापारी एवं शिल्पी प्रमुख करदाता थे। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में राज्य की आय के निम्नांकित साधनों का उल्लेख मिलता है - भाग, उद्रंग, दानी, हिरण्य, भोग, दान, दण्ड, आभाव्य, प्रतिभाग, स्कन्धक, मार्गणक, प्रस्थक, चोल्लक, वैणी, वैणिक कोश्य एवं मयुत आदि।

भाग और उद्रंग

उद्रंग भूमि कर के रूप में उन कृषकों से लिया जाता था जिनका भूमि पर आनुवांशिक अधिकार होता था । भूमि कर को अभिलेखों में उद्रंग के स्थान पर 'भाग' भी कहा गया है। 'उद्रंग' अथवा कृषि उपज का 1/6, 1/8 अथवा 1/12 वां भाग राजा द्वारा लिया जाता था। राजनीति-प्रकाश के आधार पर विष्णु धर्मोत्तर में कहा गया है कि राजा के द्वारा शंकुधान्य (गेंहू और जौ आदि) का 1/6 भाग, शिम्बी धान्य (दाल आदि) का 1/8 भाग, काफी दिनों से परती पड़ी जमीन पर की गई ऊपज का 1/10भाग, बरसात के समय बोई गई फसल का 1/8 भाग तथा जायज (बसन्त) के समय होने वाली फसलों का 1/6 भाग कर के रूप में वसूला जाता था।[118] संवत् 1016 के मथनदेव के राजोर अभिलेख[119] में 'समस्त शस्यानां भागः' के उद्धरण से यह विदित होता है कि सम्भवतः अपनी भूमि को स्वयं जोतने- बोने वाले कृषक थे वहाँ पर राजा को 'उद्रंग' नाम का कर देते थे , वहीं पर केवल राजा की भूमि पर काम करने वाले श्रमिकों को कुल उत्पादन का केवल आधा भाग मिलता था और शेष भाग राजकोष में चला जाता था। संवत् 1236 के फलौदी अभिलेख में उपज का 1/5 भाग कर के रूप में लिये जाने का उल्लेख है।[120] ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि के प्रकार और उर्वरता को ध्यान में रख कर ही 'भाग' की मात्रा निश्चित की जाती थी।

हिरण्यक

हिरण्यक कर मुद्रा के रूप में लिया जाता था। राष्ट्रकूट शासक ध्रुव (द्वितीय) के बड़ौदा से मिले दान पत्र जिसमें 'हिरण्य' और उसके विपरीत 'धान्य' दोनों प्रकार के करों का उल्लेख है, से ज्ञात होता है कि 'हिरण्य' बहुत संभवत: नकद रूप में वसूला जाने वाला कर था ।[121]

भोग

अभिलेखों में 'भोग' नामक भूमि कर का उल्लेख प्राप्त होता है। यह कर फल, सब्जियों, दूध-दही और इस प्रकार के अन्य भोगोपयुक्त वस्तुओं पर लगाया जाने वाला कर था । राजोर लेख में 'भोग' का 'उद्रंग' के साथ उद्धरण मिलता है।

दान और शुल्क

'दान' और शुल्क' वर्तमान कालीन 'चुंगी' के समान थे जो शुल्क मण्डपिका अथवा दान मण्डपिका द्वारा वसूले जाते थे।[122] 'मण्डपिका' पर वसूल किये जाने वाले 'शुल्क' से धार्मिक स्थानों की व्यवस्था के लिये कुछ धन राशि दिये जाने के उदाहरण भी मिलते हैं। संवत् 1218 के नाडौल ताम्रपत्र में नाडौल शासक अल्हणदेव ने इस नगर में स्थित संडेरकगच्छ के उपास्यदेव भगवान महावीर की पूजा के लिये धूप-दीप की व्यवस्था हेतु मण्डपिका की आय में से प्रति माह 5 द्रम्म देने की घोषणा की थी।[123] इसी प्रकार नाडौल से ही प्राप्त संवत् 1213 के ताम्रपत्र में तीन जैन मंदिरों के निर्वाह हेतु बादरी नगर की मण्डपिका से प्रति दिन एक रूपक दान में दिये जाने का उल्लेख मिलता है। शुल्क राज्य की आय का प्रमुख स्रोत माना जाता था। शुल्क दो प्रकार के होते थे। प्रथम वे जो स्थल मार्ग द्वारा लाये जाने वाले सामान पर लिये जाते थे। उनकी वसूली मण्डपिका के माध्यम से होती थी । द्वितीय में जो जल मार्ग द्वारा लाने जाने वाले सामान पर लिये जाते थे। इनकी वसूली घाटों पर स्थित चौकियों पर की जाती थी। राजस्थान में द्वितीय प्रकार के शुल्क का उल्लेख अभिलेखों में अनुपलब्ध है। परमार राज्य में प्रथम प्रकार के शुल्क को मण्डपिकादाय तथा द्वितीय प्रकार के शुल्क को घट्टादाय की संज्ञा दी गई थी।

दण्ड अथवा जुर्माना

राजा द्वारा जब किसी को राज्य अथवा समाज के विरुद्ध आचरण करने के कारण शारीरिक दण्ड देने के साथ-साथ आर्थिक दंड भी दिया जाता था, उसे दण्ड कहते थे। लेखों और स्मृतियों में इस प्रकार के अर्थदण्ड वाले अपराधों को प्रायः दशापराध के नाम से अभिहित किया गया है।

आभाव्य अथवा विभिन्न प्रकार के अन्य कर

महेन्द्रपाल द्वितीय के प्रतापगढ़ शिलालेख[124] में आभाव्य शब्द का उल्लेख मिलता है।

इसके अन्तर्गत 'स्कन्धक'. एवं 'मार्गणक' नामक करों का उल्लेख है। इसी प्रकार 'तलाराभाव्य', शेलहथाभाव्य और बलाधिपाभाव्य के उल्लेख अन्यत्र मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह संभवतः एक प्रकार का अतिरिक्त कर होता था जो जनता को तलार, शेलहथ और बलाधिप आदि राज कर्मचारियों को उनकी सेवाओं के लिये देना होता था।

इन आभाव्य अथवा विभिन्न प्रकार के अतिरिक्त करों में से कतिपय का उल्लेख मथनदेव के राजोर अभिलेख में मिलता है। इनमें से स्कन्धक, मार्गणक, प्रस्थक और

खलभिक्षा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

स्कन्धक

आर० एस० त्रिपाठी के अनुसार स्कन्धक कर एक कन्धा भार के सामान पर लगने वाली चुंगी थी।[125] ग्रामवासी दौरा करने वाले राजकीय अधिकारी का सामान ढोने का प्रबन्ध करते थे । उनका सामान कंधे पर उठाकर ले जाया जाता था। इस लिये इस लाग का नाम स्कन्धक प्रचलित हो गया ।

मार्गणक

'मार्गणक' अन्य लाग अथवा कर था जो ग्रामवासियों एवं नगरवासियों से वसूल किया जाता था। दशरथ शर्मा ने इसे मुगलकालीन 'नजर' से सम्बन्धित मानते हुये 'मांगना' (चंदा) से अर्थ लिया है।[126]

प्रस्थक

यह कर कृषि उत्पादनों से सम्बन्धित था जो फसल होने पर अनाज की तौल किये जाने के समय किसान को प्रति प्रस्थ तौल के अनाज पर प्रस्थक राज्याधिकारियों को देना होता था ।[127]

खल भिक्षा

मथनदेव के संवत् 1016 के राजोर अभिलेख[128] में इस कर का उल्लेख मिलता है। यह कर किसानों के खलिहान से समाज के विभिन व्यवसाय जैसे नाई, धोबी, बढ़ई एवं लुहार आदि को दिया जाता था जो कृषकों की सेवा करते थे।

उपरोक्त विभिन्न प्रकार के आभाव्यों के अतिरिक्त साहित्य एवं अभिलेखों में कुछ अन्य छोटे करों का भी उल्लेख मिलता है जिनमें चोल्लक, वैणी, वैंगिक, कोश्य, एवं मयुत आदि प्रमुख है। चोल्लक का उल्लेख संवत् 1016 के राजौर अभिलेख में मिलता है जिसमें कहा गया है कि राज्य के बाहर से लाये जाने वाले पत्तों (पानादि) की एक टोकरी या चोल्लिका पर पचास पत्तियों का कर लगाया जाता था।[129] बलवर्मन के ऊना लेख में वैणी 'नामक कर का उल्लेख मिलता है। दशरथ शर्मा के विचार से यह संभवतः बाँस एवं उससे निर्मित वस्तुओं पर लिया जाता था।[130] ऊना अभिलेख में ही ' वैंगिक ' का उल्लेख आता है किन्तु उसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। कुए से चमड़े के चरस द्वारा पानी निकालकर सिंचाई की जाती थी तो प्रत्येक चरस के हिसाब से 'कोश्य' नामक कर लिया जाता था। 'मयुत ' कर का उल्लेख राजौर लेख में मिलता है। रमाशंकर त्रिपाठी ने इसे 'भाग' नामक कर के साथ सम्बन्वित होने के कारण इसे फल-फूल और काष्ठादि के रूप में देने से सम्बन्धित कर माना है।[131] नमक की झीलों से भी आय होती थी । उस समय सामान ढोने के लिये ऊंट, अश्व, बैल तथा बैलगाड़ी का प्रयोग होता था। इन पशुओं तथा गाड़ी पर सामग्री की मात्रा एक समान नहीं रहती थी, इस कारण कर भी कम या ज्यादा लिया जाता था । संवत् 1195 के रायपाल के नाडलाई शिलालेख[132] में मार्ग से होकर बाजार में आने वाली बैलगाड़ी का उल्लेख मिलता है। संभवतः किराना सामग्री पर अधिक कर देना पडता था क्योंकि साधारण सामग्री जो मात्रा में 20 पैला होती थी और बैलों पर लदी रहती थी उस पर दो रूपया ही कर लगता था। संवत् 1202 के नाडलाई शिलालेख[133] में ऊंट तथा बैलों के समूह पर लदा सामान यदि बाजार में आता था तो एक पैला कर के रूप[134] में लिया जाता था। संवत् 1012 के बयाना अभिलेख में घोड़े पर लदी सामग्री पर एक द्रम्म चुंगी (कर) का उल्लेख मिलता है।

बाजार में सामान संग्रह के लिये भवन, अथवा आड़त के उल्लेख भी अभिलेखों में मिलते है। जहां व्यापारी अपने सामान को सुरक्षित रख सकते थे। इसके लिये व्यापारी को 'कर' की अदायगी करनी होती थी। संवत् 1353 के जालौर प्रस्तर लेख[135] में गोदाम में सुरक्षित सामान पर कर का विवरण मिलता है। प्रतिमन दो पैला अनाज कर के रूप में लिया जाता था जो मंदिर को समर्पित कर दिया जाता था।

उपरोक्त करों से आय होती थी उसका अधिकांश भाग सैन्य व्यवस्था पर खर्च होता था। इसके अतिरिक्त राजकीय व्यय राज कर्मचारियों के वेतन, सार्वजनिक कार्यों, वैयक्तिक तथा सार्वजनिक दान , सिंचाई के साधनों तथा बड़े जलाशयों का निर्माण आदि पर होता था।

स्थानीय शासन

इस समय ग्राम, ग्रामसमूह एवं नगर प्रशासन के सुचारू संचालन के लियेग्रामसभा, महाजन सभा तथा पंचकुल जैसी स्थानीय एवं सार्वजनिक संस्थाऐं विद्यमान थी ।

प्राचीन नगरों में विभिन्न स्थानीय कॉरपेट निकाय काम करते थे । सबसे पहले शिल्प श्रेणियां अस्तित्व में आई। बहुत से व्यवसाय होने के कारण उनकी संख्या में वृद्धि हुई एवं वे महत्वपूर्ण हो गईं। व्यापार एवं वाणिज्य में वृद्धि के कारण व्यापारियों ने भी ऐसा किया और अपने स्वयं के संघ बनाये । धीरे-धीरे आर्थिक रूप से मजबूत व्यापारी संघ ने पुराने शिल्प संघों पर नियंत्रण स्थापित कर लिया और फिर बाहर पर भी नियंत्रण करना शुरू कर दिया। अंततः उन्होंने नगर परिषद का गठन किया और स्वयं को शहर का वास्तविक शासक बना लिया ।

प्रायः नगर समिति या व्यापारी सभा शहर के प्रशासन का संचालन करती थी लेकिन कभी-कभी यह धार्मिक मामलों का प्रबन्धन भी करती थी। संवत् 682 के वसन्तगढ़ अभिलेख[136] से विदित होता है कि नगरसभा के निर्देश पर सत्यदेव नामक एक व्यापारी द्वारा देवी क्षेमरिया का मंदिर बनवाया। इसी प्रकार सकराय के एक मंदिर के एक शिलालेख[137] में 8 वीं शताब्दी में एक संघ या ग्यारह सदस्यों की एक समिति द्वारा देवी शंकरा के सामने एक मण्डप के निर्माण का उल्लेख है। ये सभी बैंकर थे।

नगर समिति में सभी वर्गों एवं कलाकारों का प्रतिनिधित्व रहता था। शहर को वार्डों में विभाजित किया जाता था। प्रत्येक वार्ड नगर समिति में अपना प्रतिनिधि भेजता था। संवत् 1198 के रायपाल के नाडौल शिलालेख[138] से विदित होता है कि धालोप कस्बे में 8 वार्ड थे प्रत्येक वार्ड से दो-दो प्रतिनिधि भेजे गये थे।

ग्राम अथवा नगर के सार्वजनिक कार्यों के सम्पादनार्थ पंचकुल का एक कार्यकारिणी के रूप में 'महंत' नामक पदाधिकारी की अध्यक्षता में होता था ।[139] 'पंचकुल' को आधुनिक पंचायत का प्रारंभिक रूप माना जा सकता है। सोमदेव के 'नीतिवाक्यामृत' की टीका में निम्नांकित पाँच सदस्यों का उल्लेख किया गया है- (1) आदायक (आय प्राप्त करने वाला)(2) निबंधक (लेखा-जोखा रखने वाला) (3) प्रति- बन्धक (मुद्रा अधिकारी) (4) नीवीग्राहक (वित्त सम्बन्धी अधिकारी) और (5) राज्याध्यक्ष (पंचकुल का अध्यक्ष) राज्याध्यक्ष संभवतः राजा द्वारा मनोनीत होता था। पंचकुल की सदस्य संख्या कभी-कभी- पाँच से अधिक भी होती थी। कई बार इन्हें 'वार' या 'वारिक'

भी कहा जाता था। वारिक' शब्द का सम्बन्ध इस समिति के सदस्यों के बारी -बारी से बदलने की पद्धति से लगता है। भीनमाल से प्राप्त ग्यारहवीं शताब्दी के एक अभिलेख में एक सज्जन को चालू वर्ष का वारिक बताया गया है।[140]

वारिकों के कार्यालय को स्थान नाम से सम्बोधित किया जाता था। यहां नगर प्रशासन से सम्बन्धित समस्त दस्तावेज संधारित कराए जाते थे। एक स्थायी सचिव (कर्णिक) समिति के रिकार्ड एवं पत्राचार का प्रभारी था। बाजार से कर वसूल करने के लिये 'कौप्तिक ' नामक अधिकारी होता था।[141] पंचकुल संस्था का अधिकार क्षेत्र व्यापक था। नगर अथवा ग्राम में शांति एवं व्यवस्था बनाये रखने में राजकीय पदाधिकारियों को सहयोग देना भी पंचकुल का कार्य था। इसके अतिरिक्त चोरी का पता लगाना, लौकिक न्याय के आधार पर अपराधियों को दण्ड, पारस्परिक विवादों का निपटारा, दानपत्रों को मान्यता प्रदान करना, व्यापारियों व्यापार का स्वीकृति पत्र, गाँव की खेती का बंटवारा करना आदि कार्य पंचकुल द्वारा किये जाने के उल्लेख समराइच्चकहा, वृहत्कथा कोश तथा लेखपद्धति आदि साहित्यिक ग्रन्थों में मिलते हैं। बड़े गांवों, कस्बों एवं मण्डियों की 'मण्डपिकायें' करती थी ।[142] ये संस्थायें राजकीय, स्थानीय तथा सार्वजनिक संस्थाओ के लिये कर वसूल करती थी और विभिन विभागों के लिये कोष बनाती थी और उसका उचित बंटबारा करती थीं।

इस प्रकार अभिलेखों के पर्यालोचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था सुगठित थी। यवन आक्रमण के कारण अपने अस्तित्व की रक्षार्थ राजस्थान में मालव, शिवि, यौधेय, अर्जुनायन आदि जातियों का आगमन हुआ, जो जनपद रूप में संगठित थीं। इन जनपदों में अर्धराजसत्तात्मक एवं अर्धगणतंत्रात्मक शासन व्यवस्था प्रचलित थी। गुप्त एवं वर्धन साम्राज्य के पतन के बाद छोटे - छोटे राज्यों के उदय के साथ गुर्जर, प्रतिहार, चाहमान तथा परमार आदि राजवंशों का उदय हुआ। भौगोलिक क्षेत्रों के विस्तार के कारण नगर एवं कस्बों में सामन्ती शासन व्यवस्था विकसित हुयी । राजा द्वारा मनोनीत सामन्त आदि स्वतंत्र रूप से प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन करते थे तथापि राजा के प्रति उत्तरदायी होने के कारण प्रशासन में राजा का सर्वोच्च एवं महत्वपूर्ण स्थान था। प्रशासन के नागरिक, सामरिक, आर्थिक एवं न्यायिक समस्त शक्तियाँ राजा में निहित थीं तथापि वह स्वेच्छाचारी नहीं था । प्रजा का सुख एवं सुरक्षा का ध्यान रखना उसका परम कर्तव्य था । अतः प्रजा की विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओं, आजीविकाओं, धार्मिक आस्थाओं आदि की पूर्त्यर्थ विविध कल्याणकारी कार्य

उसके द्वारा किए जाते थे। समस्त पंथों एवं धर्मों को राजा का संरक्षण प्राप्त था । धार्मिक उदारता एवं सहिष्णुता की नीति का पालन करने के कारण प्रजा का राजा के प्रति परम आदर था। राजा की निरंकुशता पर अंकुश लगाने के लिए मंत्रिमण्डल, सामन्त गण, प्रशासनिक स्थानीय निकाय, धर्मशास्त्रीय नियम, लोकमत एवं परम्पराऐं प्रमुख थी । मंत्रिपरिषद में विभिन्न पदाधिकारी थे। आपात काल में राज्यहित को देखते हुए मंत्रिपरिषद स्वतन्त्र निर्णय भी लेती थी। विशाल राज्यों को सामन्त नियुक्त कर संचालित किया जाता था। सामन्त शासन के लिए स्वतन्त्र थे तथापि राजा के प्रति निष्ठावान थे। राज्य प्रान्त, भुक्ति, मंडल, विषय एवं खेटक में विभाजित थे , जहाँ पर स्थानीय पदाधिकारी नियुक्त कर शासन किया जाता था । कानून और न्याय व्यवस्था सुदृढ़ एवं व्यवस्थित थी । न्याय प्रणाली में भिन्न -2 न्यायिक कार्यों में सहयोग हेतु विविध पदाधिकारी नियुक्त थे । दशापराध, चोरी, मिलावट एवं बलात्कार आदि जघन्य अपराध थे जिनके लिए कठोर शारीरिक एवं आर्थिक दण्ड का प्रावधान था | बाह्य आक्रमणों से प्रजा की सुरक्षा हेतु सैन्य प्रशासन का समुचित प्रबन्धन था। सेना में पैदल चलने वाले, रथ, घोड़े, हाथी, ऊँट आदि पर आरूढ़ सैनिकों के साथ जलयुद्ध में सहायक नौका आदि भी सम्मिलित थीं, जिनके लिए विविध पदाधिकारी नियुक्त किए जाते थे। राज्य की आर्थिक समृद्धि एवं प्रोत्साहन हेतु किसानों, वाणिज्य - व्यापारियों, राज्यकर्मचारियों से विविध करों के माध्यम से राजस्व की वसूली की जाती थी । राजस्व की वसूली एतदर्थ नियुक्त पदाधिकारियों द्वारा की जाती थी। प्राचीन नगरों में प्रायः नगर समिति या व्यापारी सभा शहरी प्रशासन का संचालन करती थी , जो श्रेणियों के रूप में विकसित हुयी । पंचकुल संस्था के माध्यम से स्थानीय स्तर के सार्वजनिक कार्य किए जाते थे । पंचकुल की सहायता के लिए सहयोगी पदाधिकारी होते थे। बडे गाँव, कस्बों एवं मंडियों की व्यवस्था मंडपिकाऐं करती थी । इस प्रकार राजस्थान में प्रशासनिक व्यवस्था सुदृढ़ थी जिसका नियोजन एवं विस्तार जनहिताय था।

संदर्भ

1. अल्तेकर, ए.एस., एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 27, पृ. 252-265

2. पुरी, के.एन., एक्सकवेशन एट रेढ़, पृ.50-51

3.अल्तेकर, ए.एस., एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 23, पृष्ठ 48

4.अल्तेकर, ए.एस., वही, वॉल्यूम 27, पृ.266-267

5. गुप्त, पी.एल., प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग1 ,पृ.211-212

6. भण्डारकर, डी. आर.,एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 21, पृ.8

7. बसाक, आर.जी.,एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम15, पृ.130

8. मजूमदार, आर . सी .,एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम18, पृ.99-113

9. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रु दि एजेज, पृ. 306

10. वही, पृ. 308

11. त्रिगुणायत, एस.के., प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म -एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण, पृ.125-128

12. वही, पृ.121

13.भण्डारकर, डी आर .,एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 9, पृ.279-281

14. शर्मा, जी.एन., राजस्थान का इतिहास, पृ.107

15. दृष्टव्य, शर्मा, दशरथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.308

16. वही, पृ.309

17. ओझा, जी.एच.,एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम14, पृ.176-188

18. जुगनु, श्रीकृष्ण, राजस्थान के प्राचीन अभिलेख, पृ.69-71

19. त्रिगुणायत, सतीश, वैचारिकी, भाग 8, अंक 1, पृ.14

20.त्रिगुणायत, सतीश, वैचारिकी, भाग 23, अंक 2, पृ.42

21. व्यास, एस. पी ., राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ.16

22. वही, पृ.17

23. करन, राम,एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम10, पृ.19

24. फ्लीट, जे. एफ ., भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड 3, पृ.90-97

25.जुगनु, श्रीकृष्ण,पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.34-35

26. कीलहर्न, एफ ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 4, पृ.29-32
27. पुरोहित, एस.के. एवं अन्य, राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, पृ.44-47
28. सरकार, डी. सी., सेलेक्ट इंश्क्रिप्शंस, वॉल्यूम 2, पृ. 363
29. शर्मा, जी.एन., राजस्थान के इतिहास के स्रोत, पृ.73
30. गांगुली, डी.सी., परमार राजवंश का इतिहास, पृ.216-217
31. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ.139
32. सरकार, डी . सी ., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.236-241
33. देवीप्रसाद, मुंशी, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 9, पृ. 280
34. अल्तेकर, ए.एस., एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 27, पृ.252-265
35. फ्लीट, जे. एफ ., पूर्वनिर्दिष्ट
36. जुगनु, श्रीकृष्ण,पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.44-45
37. दृष्टव्य, पाठक, विशुद्धानंद, उत्तरभारत का राजनीतिक इतिहास, पृ.639
38. जैन, के.सी., एन्शेंट सिटीज एण्ड हाउस ऑफ राजस्थान, पृ.474
39. व्यास, एस.पी., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.21
40. शर्मा, जी.एन.,पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 100
41. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ.47
42. सरकार, डी.सी., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.236-241
43. गांगुली, डी.सी.पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.214
44. पृथ्वीराजविजय, 9 .1
45. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ.46
46. पृथ्वीराजविजय,5.39
47. महाभारत,5.37-38
48. अर्थशास्त्र,1.3
49. मनुस्मृति,1.3
50. जिनपंचमी कथा,5.25 एवं आगे
51. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रु दि एजेज, पृ.315-316
52 दृष्टव्य, वही, पृ.316
53. जैन, प्रेमसुमन, कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ.167

54. फ्लीट, जे . एफ ., पूर्वनिर्दिष्ट

55. पुरोहित, एस.के., पूर्वनिर्दिष्ट

56.शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ.220

57. इण्डियन एण्टीक्वेरी, वॉल्यूम19, पृ.218

58.पृथ्वीराजविजय,9.36-37

59. कीलहर्न, एफ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ. 64

60. प्रसाद, अगम, राजस्थान की प्राचीन राजनीतिक संस्थाएं, पृ. 74

61.शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ.173-182

62. अल्तेकर, ए.एस., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 23, पृ.48

63.अल्तेकर, ए.एस., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 27, पृ.266-267

64.गुप्त, पी.एल., प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग1 पृ.211-212

65.कीलहर्न, एफ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 4, पृ. 29-32

66. ओझा, जी.एच., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम14, पृ.176-188

67. शर्मा, जी .एन ., राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ.61-63

68.शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ.225

69.शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रु दि एजेज, पृ. 319 टिप्पणी 2

70. तिलकमंजरी, पृ. 84

71.शर्मा, जी .एन ., वही, पृ. 62

72.शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रु दि एजेज, पृ. 319

73.. शर्मा, जी .एन ., राजस्थान का इतिहास , पृ.110

74. वही

75.कीलहर्न, एफ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 1, पृ. 167

76. भण्डारकर, डी. आर., एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 9, पृ.190

77.शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रु दि एजेज, पृ. 322

78. शास्त्री, हीरानंद, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 19, पृ. 18

79.कीलहर्न, एफ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 5, पृ. 208-213

80. शर्मा, जी.एन., राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ.62

81. दृष्टव्य, जैन, के.सी., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.478-479

82. वही, पृ .478

83.अल्तेकर, ए.एस., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 23, पृ.138

84.कीलहर्न, एफ ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम3, पृ.263-267

85. दृष्टव्य, व्यास, एस.पी., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 31

86.शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रु दि एजेज, पृ. 323

87. सरकार, डी.सी. एवं घई जी. एस ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 34, पृ.53-58

88. जैन, के.सी. ,पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 404

89.शर्मा, जी.एन., राजस्थान इतिहास के स्रोत, पृ. 86

90.,शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रु दि एजेज, पृ. 342

91. संवत्1167 का चालुक्य दुर्लभराज के समय का ताम्रपत्र । दृष्टव्य, श्रीमाली, जी.एल., राजस्थान के अभिलेख, पृ.57

92.शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ.240

93. वही, पृ.241

94.भण्डारकर, डी. आर., एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 22, पृ.198-205

95. अल्तेकर, ए. एस, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 27, पृ.252-265

96. फ्लीट, जे.एफ., भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड 3, पृ. 90-97

97. शर्मा, जी.एन., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.51-52

98 सरकार, डी.सी. सेलेक्ट इंश्क्रिप्शंस, वॉल्यूम 2, पृ.363-371

99.शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रु दि एजेज, पृ. 331

100. वही

101. कीलहर्न, एफ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 2, पृ.424

102. ओझा, जी.एच., पूर्वनिर्दिष्ट, वॉल्यूम14, पृ.176-188

103. दृष्टव्य, शर्मा, दशरथ,राजस्थान थ्रु दि एजेज, पृ.332

104.ओझा, जी.एच., पूर्वनिर्दिष्ट

105. ई. हुल्तज, एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम1, पृ.159

106.शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ.225

107. यादव, झिनकू, समराइच्चकहा एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ.72

108.शर्मा, दशरथ,राजस्थान थ्रु दि एजेज, पृ.335

109.ओझा, जी.एच., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम14, पृ.176-188

110. पृथ्वीराज विजय,10.20

111. ई. हुल्तज, पूर्वनिर्दिष्ट

112.शर्मा, दशरथ,राजस्थान थ्रु दि एजेज, पृ.335

113. वही, पृ.336

114. वही, पृ. 336-337

115. वही, पृ. 337

116.कीलहर्न, एफ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 2, पृ.422

117 दृष्टव्य, शर्मा, दशरथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.338

118. वही, पृ.323-324

119.कीलहर्न, एफ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 3, पृ.263-267

120. श्रीमाली, जी.एल., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.177

121.दृष्टव्य, शर्मा, दशरथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.325

122. वही, पृ.326

123.कीलहर्न, एफ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ.63

124. ओझा, जी.एच., एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम14, पृ.176-188

125. त्रिपाठी, आर.एस., हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ.347

126.शर्मा, दशरथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.327-328

127. वही, पृ.328

128.कीलहर्न, एफ., एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 3, पृ.263-267

129. वही

130.शर्मा, दशरथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.329-330

131.त्रिपाठी, आर.एस., हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ.347

132. भण्डारकर, डी. आर . एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 11, पृ.36-37

133. वही, पृ.42-43

134. बनर्जी, आर. डी., एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम 22, पृ.120-127

135. भण्डारकर, डी. आर.,एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम11, पृ.60-61

136. भण्डारकर, डी. आर. एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 9, पृ. 189

137. छाबरा, बी०सी०, एपिग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम 27, पृ. 28

138.भण्डारकर, डी. आर.,एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम11, पृ.37-38

139. दृष्टव्य, व्यास, एस ०पी०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 58

140. जैन, के०सी० ,पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 485

141.वही,

142. दृष्टव्य,व्यास, एस.पी. पूर्वनिर्दिष्ट, पृ.61

उपसंहार

उपसंहार

साहित्य समाज का आइना है। प्रत्येक युग का समाज तत्कालीन साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है। इस संदर्भ में आभिलेखिक विषय वस्तु अकाट्य एवं प्रामाणिक साक्ष्य हैं । प्राचीनतम आभिलेखिक प्रमाण कालीबंगा से प्राप्त मुद्राएं हैं। पुरालिपि शास्त्र की दृष्टि से इन मुद्राओं का महत्व इस रूप से स्पष्ट है कि उनके आधार पर सैंधव लिपि की दिशा दायें से बायें निर्धारित की गई है।

प्राचीन राजस्थान के उदयपुर, चित्तौड़, भीलवाड़ा, कोटा, झालावाड़, सिरोही, प्रतापगढ़, पाली, जोधपुर, भरतपुर, धौलपुर, सीकर, जयपुर, पुष्कर आदि एवं अन्यान्य स्थलों से ई.पू. की प्रारम्भिक शताब्दियों से 12 वीं शताब्दी पर्यन्त संस्कृत अभिलेखों की एक दीर्घ श्रृंखला प्राप्त हुयी है।

अभिलेख लेखन हेतु ताड़पत्र, ताम्रपत्र, भोजपत्र, कागज, कपड़ा, एवं पाषाण का प्रयोग किया जाता था। सहज सुलभता एवं दीर्घकालिकता के कारण पाषाण का प्रयोग राजस्थान में सर्वाधिक हुआ । अभिलेखों की विवेच्यवस्तु के आधार पर उन्हें प्रतिष्ठा लेख, प्रशस्ति लेख, स्मारक लेख, स्तम्भ लेख और दानपत्र के रूप में विभाजित किया जाना समीचीन है ।

घोसुण्डी - नगरी का शिलालेख, सामोली अभिलेख, कुंडेश्वर मंदिर अभिलेख, मंडोर बाबड़ी अभिलेख, खण्डेला अभिलेख, महावीर मंदिर अभिलेख आदि को प्रतिष्ठा लेख की श्रेणी में रखा जा सकता है क्योंकि ये लेख देवालय, प्रतिमा, कूप, बावड़ी आदि के निर्माण, प्रतिष्ठा (स्थापना) एवं जीर्णोद्धार से सम्बधित हैं।

प्रशस्ति लेख किसी मंदिर, तालाब, कूप, बावड़ी आदि के निर्माता द्वारा अपने वंशादि की कीर्ति के चिस्स्थायित्व की भावना से उत्कीर्ण करवाए जाते थे। नान्दसा यूप लेख, गंगधार लेख, मानमौरी शिलालेख, बाउक प्रशस्ति, चाटसू अभिलेख, एकलिंगनाथ प्रशस्ति, हर्षनाथ लेख, अर्थूणा लेख, किराडू लेख आदि इस श्रेणी में सम्मिलित हैं । '

स्मारक लेखों में किसी विशिष्ट पुरुष की स्मृति में छतरी, चबूतरा या अन्य स्मारक बनाकर उसमें चरणचिह्न अंकित करके उस व्यक्ति के जन्म, राज्यकाल और निधन तिथि का उल्लेख किया जाता है।

इनको सती लेख, झुंझार लेख और गोवर्धन स्मारक लेखों में विभाजित कर अध्ययन किया है। संवत् 106 का पुष्कर लेख न केवल राजस्थान का प्रथम सती लेख है अपितु इस लेख को सती का उल्लेख करने वाला भारत का भी प्रथम लेख माना जा सकता है।

युद्ध में मरने पर वीरों की स्मृति में अंकित लेख झुंझार लेखों की श्रेणी में आते हैं।इस श्रेणी में तीसरी शताब्दी ई.पू. का खंडित खंडेला अभिलेख (प्राकृत भाषा) प्राचीनतम एवं घटियाला के खंडित स्मृति लेख (संवत् 947), चरलु से प्राप्त शिलालेख (संवत्1200), नाडौल से प्राप्त स्मृति लेख (सं.1124) हैं।

गायों की रक्षार्थ मरना गौरव एवं धार्मिक कर्तव्य माना जाता था। इन वीरों की स्मृति में लिखे लेख गोवर्धन स्मारक लेख कहे जाते हैं। ये लेख राजस्थान के उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रांत से लेकर नागौर, डीडवाना, सांभर के पास भादवा गाँव तक से मिले हैं, जो प्रायः 10 वीं शताब्दी से 13 वीं शताब्दी तक के हैं। जैसलमेर के लोद्रवा से प्राप्त संवत्970 का शिलालेख अब तक ज्ञात लेखों में प्राचीनतम है।

स्तंभ लेख भी महत्वपूर्ण है स्तंभों को यष्टि, यट्टि , लष्टि , लग केतन , यूप आदि नामों से जाना जाता है ।राजस्थान से प्राप्त स्तंभ लेखों को - यज्ञ स्तूप संबंधी लेख,कीर्ति स्तंभ के लेख और अन्य स्तंभ लेख में विभाजित कर अध्ययन किया गया है ।

यज्ञ स्तूप यज्ञों की स्मृति को चिरस्थाई रखने के लिए बनाए जाते थे ।राजस्थान में यज्ञ से संबंधित प्राचीनतम लेख नगरी का है । लगभग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के इस लेख में अश्वमेध यज्ञ संपन्न करने का उल्लेख है । नांदसा यूप (कृत सं.282), बड़वा यूप (कृत संवत्295), बर्नाला यूप (कृत संवत् 284), विजयगढ़ , बयाना (कृत संवत्428), विचपुरिया यूप लेख (संवत् 321) आदि अन्य यज्ञ स्तम्भ लेख हैं।

किसी राजा या वीर पुरुष द्वारा संपादित परोपकारी कार्य या विजयोपरांत स्थापित लेख कीर्तिस्तम्भ की श्रेणी में परिगणित किए जा सकते हैं। संवत् 918 के घटियाला शिलालेख को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। राजस्थान से दान - पत्र भी पर्याप्त रूप में प्राप्त हुए हैं। स्थायी अनुदानों का उत्कीर्णन ताँबे की चद्दरों पर किया जाता था , जिससे वे नष्ट न हों। इसमें दान दाता एवं प्रतिगृहीता के वंश, वर्ण, शाखा आदि के साथ दान का अवसर, दान की वस्तु, मात्रा और दान के प्रयोजन या उद्देश्य का स्पष्टीकरण प्राप्त होता है। दान के स्थायित्व के लिए वंशजों से प्रदत्त दान

को स्थायी रखने का सानुरोध निवेदन भी निहित है। धूलेव दान -पत्र, बधाल ताम्रपत्र, दौलतपुरा ताम्रपत्र, मथनदेव ताम्रपत्र आदि उल्लेखनीय हैं।

राजस्थान से प्राप्त प्रारंभिक अभिलेख जहाँ ब्राह्मी लिपि में हैं वहीं पूर्वमध्यकालीन बहुसंख्यक अभिलेख कुटिल लिपि में है। इन लेखों की भाषा संस्कृत है । संस्कृत के साथ - साथ प्राकृत अथवा पाली भाषा का भी पर्याप्त विकास हुआ । बड़ली तथा वैराट से प्राप्त ई. पू. तृतीय शती के अभिलेखों की भाषा प्राकृत है। ई. पू . द्वितीय - प्रथम शताब्दी का घोसुण्डी - नगरी (प्राचीन मध्यमिका) का अभिलेख राजस्थान का ही नहीं अपितु भारत का प्राचीनतम संस्कृत अभिलेख है।10 वीं शताब्दी के प्रारंभिक एवं परवर्ती अभिलेख नागरी लिपि में हैं जिनमें संस्कृत के अतिरिक्त राजस्थानी एवं हिन्दी का प्रयोग मिलता है।

राजस्थान से प्राप्त विविध अभिलेखों में विविध संवत् प्रयुक्त हुए हैं। वीर संवत् का प्रयोग सर्वप्रथम राजपूतकालीन जैन अभिलेखों में प्रयुक्त हुआ है। कृत एवं मालव संवत् ही कालांतर में विक्रम संवत् कहलाया । गुप्त संवत् का प्रयोग भी विवेच्चकालीन अभिलेखों में हुआ है, किन्तु अध्ययनकालीन किसी भी अभिलेख में शक संवत् का प्रयोग नहीं मिलता है।

अभिलेखों के अध्ययन से उस युग के सांस्कृतिक जीवन यथा सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक को सम्यक् रूपेण जाना जा सकता है। विषय वस्तु की स्पष्टता, समसामयिकता एवं भूतकालीन घटनाओं के विवरण की विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता तथा काल विषयक निश्चित अभिव्यक्ति के कारण साहित्य की अपेक्षा अभिलेखों का महत्व अधिक हो जाता है।

राजस्थान का सांस्कृतिक वैभव अत्यन्त उच्चादर्शमय एवं गौरवपूर्ण रहा है। यहाँ की संस्कृति का इतिहास हजारों वर्ष पूर्व सरस्वती और दृषद्वती की उपत्यकाओं में पल्लवित होकर बनास, बेड़च, आहाड़ और चम्बल तक उसका विस्तार हुआ । यहां से प्राप्त पुरावशेषों में मिले हव्य पात्रों से धर्म की मान्यता, खिलौनों से आमोद - प्रमोद प्रियता और फलकों पर प्राप्त चित्रांकन इस बात के द्योतक हैं कि उस समय मानव को रूप, सौन्दर्य एवं सौहार्द्र आदि का सूक्ष्म बोध अवश्य था। आहाड़ की भोजन एवं पाकशालाएं, कालीबंगा की नगर व्यवस्था सह जीवन के ही बोधक हैं।

भारतीय संस्कृति वत् राजस्थान की संस्कृति का ध्येय मानव का आत्मिक विकास कर लोक से परलोक की साधना है। सत्यं शिवम् सुन्दरम् की मूल अवधारणा से समवेत राजस्थानीय

संस्कृति का दिग्दर्शन यहाँ के समाज के धर्म, दर्शन, कला, भाषा, विज्ञान, सामाजिक आचार - विचारों आदि में दर्शित होता है।

अभिलेखों में अंकित राजा एवं नागरिकों द्वारा किए गए लोकोपकारी कार्य यथा कूप, नहर,तड़ाग,बाबड़ी, धर्मशाला निर्माण, बाग - बगीचों का विस्तार, राज्य में गोचर भूमि की व्यवस्था आदि इस बात के स्पष्ट साक्ष्य हैं कि यहाँ के जनजीवन में कर्म एवं पुनर्जन्म के प्रति दृढ आस्था थी। यहाँ का सामाजिक इस बात से भिज्ञ था कि शुभकर्म पुण्य लोकों के प्रदाता हैं तथा अशुभ कर्म करने वाला पाप का भागी बन नरकगामी बनता है। अस्तु कर्म एवं पुनर्जन्म सिद्धान्त का मूल ध्येय मनुष्य को नैतिकता के उच्च धरातल पर स्थापित कर मानव कल्याण के मार्ग पर प्रशस्त करना था।

अवतारवाद भारतीय संस्कृति के समान राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन में दृढ़ता से दर्शित होता है। विध्वंसक तत्वों के बढ़ जाने पर पुण्यजन पृथ्वी पर अवतरित होकर सद्भाव के प्रेरक होते हैं । 12 वीं शताब्दी के अजमेर अभिलेख में एक साथ दशावतारों का उल्लेख हुआ है। गंगधार शिलालेख (मालव संवत 480) , घटियाला ओसियां, भडूंद लेख में रामावतार, कुंडेश्वर शिवमंदिर अभिलेख (संवत् 718), लाण प्रशस्ति आदि में कृष्णावतार, कोशवर्धन लेख (संवत्847) में बुद्धावतार, चाटसू लेख, शिव मंदिर लेख और संवत् 1173 के पालड़ी आदि लेखों में वामनावतार, विष्णु अवतार कलिकाल, वराह एवं नृसिंह अवतार का उल्लेख इनके प्रति आस्था एवं विश्वास के सूचक हैं। कालान्तर में सामाजिक सुधारक लोकदेवों के रुप में संज्ञित हुए । स्थानीय लोगों में ये लोकदेवता आज भी लोकावतार के रूप में पूज्य हैं।

हमारे अध्ययन कालीन अभिलेखों में इन लोकदेवताओं का उल्लेख नहीं मिलता है लेकिन मध्यकाल तक ऐसे अनेक लोकावतार आदर एवं श्रद्धा के पात्र बने। राजस्थान में लोकदेवों में गोगाजी, जम्भोजी, मीराबाई, दादू, रामचरण जी, रैदास आदि हैं।

व्रतोपवास एवं पर्व मानसिक स्वच्छता एवं शारीरिक सुदृढ़ता के आधार हैं। व्रत संकल्प और नियम के रूप में अभिलेखों में दर्शित हैं। प्रारम्भिक शताब्दियों से ही स्वयं एवं अपने कुल के पुण्य हेतु संकल्पना पूर्वक यज्ञादि विधानों का उल्लेख मिलता है। बिचपुरिया लेख में उल्लेख है कि भट्ट नामक ब्राह्मण ने धर्म की वृद्धयर्थ पूर्णिमा पर्व के अवसर पर यज्ञ एवं गोदान किया था। नवमी, एकादशी पूर्णिमा, अमावस्या आदि तिथियों के साथ मीनसंक्राति का विशिष्ट महत्व था।

प्रतापगढ़ लेख (संवत् 1003) में उल्लेख है कि मीन संक्रान्ति के दिन महाकाल मंदिर में पूजा के उपरान्त राजा ने परलोक की सिद्धयर्थ इन्द्रादित्य देव की खंडपीठ रचना के लिए दान दिया था। प्राचीन राजस्थान में दीपोत्सव, महाशिवरात्रि, दमनक पर्व विशेष स्थान रखते थे । संवत् 1100 के परमार उदयादित्य के शिलालेख में दमनक पर्व का उल्लेख मिलता है।

व्रत और पर्वादि सामाजिक संचेतना के साथ साथ पर्यावरण और अर्थ व्यवस्था के लिए भी उपयोगी थे । जहाँ विविध विशिष्ट अवसरों पर भोज्य एवं पेय पद्वार्थों के विधानों से मांग और आपूर्ति के संतुलन से बाजार को मजबूती मिलती है, वहीं संयमित आहार विहार प्रकृति के अनावश्यक दोहन को रोक कर प्रकृति और पर्यावरण में संतुलन का कार्य करते हैं। दान एवं परोपकार की अतिशय भावना राजस्थान वासियों को विशिष्ट बनाती है। चित्तौड़ के मानमौरी शिलालेख (संवत्770) में राजा मान द्वारा निर्मित मानसरोवर का दान के बड़े स्मारक के रूप में उल्लेख है। भडूंद लेख में यश एवं परोपकारी भाव से गाँव के कुछ लोगों के द्वारा समाज के लिए जल की बावड़ी बनाने का वर्णन आम जन में दान एवं परोपकार की महिमा को प्रकाशित करता है। राजा एवं श्रेष्ठ नागरिकों द्वारा भूदान, गोदान, स्वर्णदान के विविध उल्लेख राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन को विशिष्ट बनाते हैं।

राजस्थान का सामाजिक जीवन उच्च जीवन मूल्यों से प्रेरित रहा है। ये जीवन मूल्य ही संस्कृति के वाहक हैं। संस्कृति के चिरन्तनता एवं वैशिष्ट्य में उसकी सामाजिक संस्थाओं का महत्वपूर्ण स्थान है । सामाजिक जीवन की महत्वपूर्ण संस्थाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था का अहम योगदान है । हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों का उद्देश्य चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का वर्णन करना नहीं है |केवल सं० 1013 के ओसियाँ के महावीर मंदिर अभिलेख एवं सं० 1226 के बिजौलिया अभिलेख में चातुर्वर्ण्य वर्णव्यवस्था का एक साथ उल्लेख प्राप्त होता है। वर्णव्यवस्था कर्मज न होकर जन्मज थी । अतः चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त अन्य जातियों का विकास भी देखा जाता है।

समाज में ब्राहमणों का महत्वपूर्ण स्थान था। उन्हें समाज में पर्याप्त आदर एवं सम्मान दिया जाता था। समाज को शिक्षित करने, धर्मगत कृत्यों को सम्पादित करने, याज्ञिक क्रियाओं को सम्पन्न करने में वह सहायक होता था । उसे कर्म एवं ज्ञान का सच्चा जीवन दर्शन माना जाता था। मुसलमानों के आगमन के पश्चात स्थानीय एवं संकुचित भावनाऐं प्रबल होने लगी फलस्वरूप विवाह, भोजन, सामाजिक सम्पर्क आदि के नियमों को कठोर एवं जटिल बनाया गया । नियमों के

उल्लंघनकर्ताओं का बहिष्कार किया जाने लगा । खान पान के कठोर नियमों के पालन में जिन ब्राह्मणों ने शिथिलता अपनायी उनका स्वतः ही भेद हो गया । जो ब्राहमण किन्हीं कारणवश मुसलमानों के सम्पर्क में आए वे अन्य ब्राह्मणों द्वारा हेय दृष्टि से देखे गए । राजस्थानी ब्राह्मण स्वयं को पूर्वी भारत के ब्राह्मणों से श्रेष्ठ मानते थे क्योंकि वहाँ के कतिपय ब्राह्मण माँस का भक्षण करते थे। इस पार्थक्य से राजस्थानी ब्राह्मण का बाह्य सम्पर्क कम हो गया जिससे उनकी बौद्धिक प्रगति को आघात लगा । राजपूत शासकों ने हिन्दू धर्म के प्रणेता ब्राह्मणों को पर्याप्त सम्मान दिया क्योंकि हिन्दू धर्म के अगवा ब्राह्मण ही सनातन हिन्दू धर्मशास्त्रों के ज्ञाता थे तथा उनके साथ मिलकर हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की रक्षा में संलग्न थे। अतएव ब्राह्मणों के प्रति सम्मान हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के प्रति सम्मान माना जाता था।

भारतीय समाज में क्षत्रियों की स्थिति ब्राह्मणों के पश्चात थी किन्तु समाज में उनका सम्मान एवं गौरव ब्राह्मणों से न्यून नहीं था। उनका जातीय गुण शौर्य,शासन और सैन्य संचालन था। उनका प्रमुख कार्य चारों वर्णों को संरक्षण प्रदान करना था। पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में क्षात्र गुणों से सम्पन्न राजपूत जाति नवोदित हुयी। यद्यपि कर्तव्यों की दृष्टि से राजपूत क्षत्रिय ही थे तथापि क्षत्रिय की सन्तान मान लेना उचित नहीं होगा। सूर्य, चन्द्र, अग्नि विषयक दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त को अस्वीकृत कर टॉड, क्रुक, भण्डारकर आदि विद्वानों ने राजपूतों को शक, हूण, गुर्जर आदि विदेशी जातियों की सन्तान स्वीकार किया वहीं सी० वी० वैद्य ने विशुद्ध क्षत्रियों की सन्तान माना। गोपीनाथ शर्मा ने क्षत्रियों (राजपूत) को ब्राह्मणों से उत्पन्न माना है। वस्तुतः नवोदित राजपूत जाति को विदेशी जातियों, ब्राह्मणों, गणजातियों व क्षत्रियों का सम्मिश्रण मानना अनुचित न होगा। राजस्थान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रतिहार, परमार, गुहिल, चौहान एवं राष्ट्रकूट वंशों के साथ ही नाग, भाटी, गौड़, यौधेय एवं दहिया वंश प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपेण शासन-व्यवस्था से जुड़े हुए थे। राज्य की समग्र सुरक्षा, सांस्कृतिक मूल्यों का उपस्थापन, प्रजानुरंजन, धार्मिक भावना एवं आस्था का समादर तथा उत्थान राजपूतों के मुख्य कर्तव्य थे।

वर्णव्यवस्था में तृतीय स्थान पर परिगणित वैश्य मुख्यतः व्यापार एवं वाणिज्य से जुड़े हुए थे। वे मुख्यतः थोक व्यापारी थे। सं० 723 के सामोली अभिलेख के उल्लेखानुसार प्राचीन राजस्थान में चाँदी, जस्ता एवं ताँबे का व्यापार भी होता था। सं० 918 के घटियाला अभिलेख एवं स्तम्भलेख से सिद्ध होता है कि राज्य की अर्थव्यवस्था प्रधानतया वैश्य वर्ग पर निर्भर होने के कारण प्रशासन के द्वारा इनके संरक्षण एवं परिवर्धन के प्रयास भी किये जाते थे। दान की प्रवृत्ति,

लोकोपकारी कार्य यथा कूप निर्माण, देवालय स्थापना, बाबड़ी एवं सरोवर आदि बनवाये जाने के कारण इस वर्ग को समाज में समुचित आदर प्राप्त था। वैश्य वर्ग शासन में भी सहभागी था।

वर्णव्यवस्था में चतुर्थ स्थान शूद्रों को प्राप्त था। द्विजातियों की सेवा का भार उसके ऊपर था। यद्यपि अभिलेखों में शूद्रों का वर्णन अल्प है तथापि संवत् 1226 के बिजौलिया अभिलेख से स्पष्ट होता है कि शूद्र अस्पृश्य नहीं थे। वैश्य वर्ण द्वारा कृषि एवं शिल्प कार्य छोड़ देने के पश्चात हाथों से सम्पन्न होने वाले कार्य शूद्र वर्ग द्वारा अपना लिए गए। कालान्तर में शूद्र ही किसान, लोहार, रंगरेज, धोबी, तक्षक, जुलाहा, माली, तम्बोली, तेली, कुम्हार, बढ़ई आदि बन गए। शनैः शनैः पेशे के अनुसार ये भिन्न-भिन्न जातियों में बंट गए।

पूर्वमध्यकाल में कतिपय अन्य जातियों यथा-कायस्थ, आभीर, स्वर्णकार, अन्त्यजादि का उल्लेख भी प्राप्त होता है। कायस्थ मुख्यतः लेखन कार्य से जुड़े हुए थे जिन्हें मध्यकालीन राजस्थान की राजपूत रियासतों में विशेष स्थान प्राप्त था। अभिलेख लेखन के लिये दूसरे राज्यों से कायस्थों को आमंत्रित किया जाता था। गौड देश के कायस्थ सुन्दर लेखन के लिये प्रसिद्ध थे। कुटिल लिपि को लोकप्रिय बनाने में इनका अहम् योगदान रहा। अभिलेखों के उत्कीर्णन का कार्य अधिकांशतः स्वर्णकारों के द्वारा किया गया है। यद्यपि इन जातियों का वर्ण-व्यवस्था में स्थान निश्चित नहीं था तथापि समाज में इनके कार्य का महत्व एवं स्थान की स्वीकारोक्ति अवश्य थी।

परिवार सामाजिक जीवन की आधारशिला है। राजस्थान में मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक दोनों ही प्रकार के परिवारों का अस्तित्व रहा है। नगरी चित्तौड़ (ई . पूर्व द्वितीय - प्रथम शताब्दी) एवं सारणेश्वर उदयपुर (संवत् 1010) की प्रशस्ति में राजा सर्वतात एवं अल्लट का माता के नाम से उल्लेख इसके स्पष्ट साक्ष्य हैं। पुत्र का परिवार में विशिष्ट स्थान था। ज्येष्ठ पुत्र ही परिवार का उत्तराधिकारी होता था।

अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन राजस्थान में आश्रम-व्यवस्था की पालना की जाती थी तथा यहाँ के निवासी ज्ञान-प्राप्ति (ब्रह्मचर्य) के प्रति सावचेत थे, ताकि शास्त्रों का सम्यक ज्ञान एवं तदनुरूप आचरण करते हुए समाज के उत्थान में योगदान दे सकें। समाज में ब्रह्मचर्य आश्रम का मूलादर्श तप, त्याग और संयमपूर्वक ज्ञान और विज्ञान का अर्जन करना था। मन और मस्तिष्क से संतुलित व्यक्ति गृहस्थाश्रम में व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं नैतिक आदि विभिन्न कर्तव्यों का पालन करता था। गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वों से मुक्त

मनुष्य वानप्रस्थ की ओर मुड़ता था। वानप्रस्थी सन्यास में प्रवेश कर मोक्ष की कामना करता था। अभिलेखों से स्पष्ट है कि आश्रम-व्यवस्था का मूल रूप में आयु अनुसार प्रचलन नहीं था तथापि उद्देश्यात्मक रूप में व्यवस्था विद्यमान थी। इसका प्रमुख उद्देश्य जीवन को व्यवस्थित ढंग से निर्देशित एवं संचालित करना था. जिससे व्यक्ति समग्ररूपेण जीवन के परमलक्ष्य की प्राप्ति कर सके। इससे जीवन अर्थपूर्ण और आशावादी बना। आश्रम-व्यवस्था मनुष्य में कर्तव्यपरायणता, ज्ञान, शक्ति और शान्ति का समावेश करती हुयी पुरुषार्थ-चतुष्टय की साधिका थी। ब्रहाचर्य में धर्म का अभ्यास करता था। अर्थ और काम पुरुषार्थ के आश्रम गृहस्थाश्रम में व्यक्ति कामेच्छा की पूर्ति का अवसर प्राप्त करता था। अर्थार्जन करता हुआ, कर्तव्यों का निर्वहन करते हुए ऋणों से उऋण होने का प्रयास करता था। वानप्रस्थ तथा सन्यास में मोक्ष सबसे बड़ा पुरुषार्थ था।

आश्रम व्यवस्था का एक अन्य आधार ऋणों की धारणा थी। तीनों ऋण (देव, ऋषि, और पितृ) को पूर्ण करके ही व्यक्ति मोक्षगामी होता है। मोक्षेच्छुक के लिये यह आवश्यक था कि वह वेदों का सम्यक् ज्ञानार्जन करे, शक्त्यानुसार यज्ञानुष्ठान और तदनन्तर मोक्ष की प्राप्ति करे। वस्तुतः ऋणों की व्यवस्था सामाजिक विकास की ही कारक है। देव ऋण प्रकृति संरक्षण, ऋषि ऋण ज्ञान केन्द्रों की निरन्तरता एवं पितृ ऋण समाज की गतिशीलता के ही पर्याय थे।

धर्मशास्त्रों में ऋणों से उऋण होने हेतु पंचमहायज्ञों का विधान किया है। 7 वीं सदी के बाभट के ताम्रपत्र में पंचमहायज्ञों के कर्त्ता पाँच भाइयों के उल्लेख से स्पष्ट है कि पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में पंचमहायज्ञों का प्रचलन था। इसी प्रकार नगरी अभिलेख (प्रथम शती), नान्दसा यूप लेख (225 ई०), बर्नाला यूप लेख (कृत सं० 284), बिचपुरिया लेखों से समाज में वैदिक परम्परा के वाहक अश्वमेध यज्ञ, एकषष्टिरात्र यज्ञ, त्रिरात्र यज्ञ, आप्तोर्याम यज्ञ, अग्निहोत्र और पुण्डरीक यज्ञ आदि के महत्व का बोध होता है।

मनुष्य के समग्र जीवन के उन्नयन हेतु संस्कारों का समावेशन भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है। प्राचीन राजस्थान में पुंसवन संस्कार, विद्यारम्भ, वेदारम्भ, विवाह और अन्त्येष्टि संस्कार प्रचलित थे।

अभिलेखों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन राजस्थान में नारी की स्थिति संतोषप्रद थी। पुत्री के रूप में उसे माता-पिता का संरक्षण एवं स्नेह प्राप्त था साथ ही उसके विकासार्थ शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध किया जाता था। कुण्डेश्वर मंदिर, अभिलेख (सं० 718)

बुचकला अभिलेख (सं० 872), लाणबावड़ी प्रशस्ति (सं० 1099), आदि अभिलेख समाज में राजकुमारियों, रानियों एवं धनाढ्य वर्ग की नारियों के महत्वपूर्ण स्थान के सूचक हैं। समय-समय पर इनके द्वारा बनवाये जाने वाले कूप, जलाशय एवं मन्दिर आदि से स्पष्ट है कि स्त्रियाँ जनहित के कार्यों में निर्बाध रूप से धन व्यय कर सकती थीं जो उनका आर्थिक रूप से निर्भर होने का भी द्योतक है। रानी जायावली, राहामुसकदेवी, अजयराज की रानी सोमलदेवी, कल्हणदेव की रानी जाल्हणदेवी, पृथ्वीराज तृतीय की माता कर्पूर देवी आदि तत्कालीन समाज में राजनैतिक क्षेत्र में नारी की सहभागिता के ज्वलंत उदाहरण हैं। माता के रूप में उसका महात्म्य उसकी मृत्यु के उपरान्त भी उतना ही था जितना उसके विद्यमान होने पर। महाराजा गौरी द्वारा अपनी माता की पुण्य-स्मृति में जलाशय, कूप, नगरों एवं ग्रामों में धर्मशालाओं का निर्माण तथा महाराजा श्री सावट के द्वारा स्वर्गीय माता की स्मृति में व्याघ्रवाटक ग्राम का दान माता की महिमा के द्योतक हैं।

प्राचीन राजस्थान में सती प्रथा नामक कुरीति के प्रचलन से नारी की स्थिति पर दयनीयता का आरोपण किया जाता है। हमारी यह मान्यता है कि किसी भी प्रथा के प्रचलन के पीछे तात्कालिक कारण मुख्य होते हैं जो उन परिस्थितियों में समाज की माँग या मजबूरी बन जाते हैं। लगातार बाह्य आक्रमण, नारी के प्रति दुराचार सती प्रथा के पोषक रहे हैं। अतएव एक कुरीति के आधार पर नारी की स्थिति विशेषतया राजपूत काल में शोचनीय थी कहना अनुचित होगा। जहाँ राजनीति में उसका परामर्श स्वीकार्य हो, शासन में सहभागिता हो एवं जनहित के कार्य संचालित किये जा रहे हों ऐसे में तात्कालिक परिस्थितियों की उपज एक कुप्रथा के आधार पर नारी का मूल्यांकन बेमानी होगा। यह प्रथा सर्वमान्य अथवा बाध्यकारी हो ऐसा नहीं था। गणिका बूटा का नाम मन्दिर के गोष्ठिकों की सूची में होना, गणनी सर्वदेवा द्वारा माता की मूर्ति का निर्माण धार्मिक कृत्यों में उनकी सहभागिता का द्योतक है। मन्दिर में नर्तकी वजिला को दान का भाग एवं अन्य सहायिकाओं को पुरूषों के समान वित्त प्रदान किया जाना राजकीय संरक्षण एवं परिवर्धन का सूचक है। गणिकाएँ राजकीय आय का प्रमुख स्रोत थीं अतएव राज्य में उनका सम्मान था वहीं इनको राजकीय संरक्षण प्राप्त था। गणिकाओं को आवश्यकतानुसार देवदण्ड कर से भी मुक्त कर दिया जाता था जो इस वर्ग के प्रति राज्य की सदाशयता का द्योतक है। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजकीय क्षेत्र में स्त्रियों का योगदान स्वीकार्य था।

अभिलेखों के पर्यालोचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन राजस्थान में शिक्षा का

व्यापक प्रचार - प्रसार था । घर में माता - पिता द्वारा पितृविधि से एवं गुरुकुल आदि में गुरु द्वारा शिक्षा देने का प्रचलन था। गुरुकुल, मठ, मंदिर, विहार आदि शिक्षा के प्रसार केन्द्र थे। महावीर मंदिर अभिलेख (संवत् 1013)एवं नाथ प्रशस्ति (संवत् 1028)के अनुसार उपकेशपुर का तपनेश्वर मंदिर एवं लकुलीश वेश्म उस समय शिक्षा के लिए प्रसिद्ध थे।राजस्थान के चित्तौड़, भिन्नमाल (भीनमाल), अजमेर, जालौर, आबू, चन्द्रावती, भड़ानक (बयाना), मालवनगर और चाटसू आदि नगर विद्या के प्रमुख केन्द्र थे। ये विद्या के केन्द्र जिनभट्ट, हरिभद्र, रोलाचार्य, जिनवल्लभ सूरि, ब्रह्मदत्त जैसे ज्योतिषाचार्य एवं माघ जैसे उद्भट्ट कवियों से विभूषित थे।जहां गुरु द्वारा इहलोक एवं परलोक साधिका शिक्षा दी जाती थी ।

पठन-पाठन के विषयों में वेद, वेदाङ्ग, गणित, नाट्यशास्त्र, रामायण महाभारत, धर्मशास्त्र, दर्शन, न्याय शास्त्र, साहित्य के साथ चित्रकला, संगीत, नृत्य, चिकित्सा आदि विषयों को उचित स्थान प्राप्त था। बाउक अभिलेख (संवत् 894), नाथ प्रशस्ति (संवत् 1028),लाण प्रशस्ति (संवत् 1099), दौलतपुरा ताम्रपत्र (हर्ष संवत् 100), दुर्लभराज समयक ताम्रपत्र (संवत्1067) आदि अभिलेख समाज में वैदिक शिक्षा के प्रचार -प्रसार एवं महत्व के सूचक हैं। रत्नपाल के ताम्रपत्र (संवत् 1176) समाज में शास्त्रज्ञों के महत्वपूर्ण स्थान का बोधक है ।महाराज श्री पृथ्वीपाल के पुत्र रत्नपाल ने पूर्वजों द्वारा प्रदत्त गुंदकूर्चा यज्ञादि षट्कर्म, इतिहास, पुराण, रामायण, पदवाक्य (प्रमाणज्ञः) याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों, षट्दर्शन, होत्राग्निष्टोम यज्ञकर्ता, चातुर्मास्यादि यजुक्रिया में संलग्न, कल्मषग्रंथों के भेदक वेद वेदाङ्गों से विस्तीर्ण बुद्धि वाले, सुन्दर श्लोकों से युक्त प्रशंसनीय ब्राह्मणों को प्रदत्त किया था।राजकुमारों को सैन्य एवं राजनीति के साथ नीतिशास्त्र एवं धार्मिक शिक्षा भी दी जाती थी। हस्तिकुण्डी अभिलेख (संवत् 1053), किणसरिया अभिलेख (संवत् 1056) आदि अभिलेख राजाओं के लिए धार्मिक और न्याय शास्त्र की शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्व के साथ -साथ समाज में गुरु के गौरवपूर्ण स्थान के बोधक हैं। गुरु के प्रति अत्यंत आदर था क्योंकि उसके बिना शिक्षा की पूर्णता असंभव थी । प्रशासन द्वारा शिक्षकों को विविध सुविधाओं के साथ अग्रहार रूप में भूमि प्रदान की जाती थी जिससे वे निश्चिंत होकर सुयोग्य और श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण कर सकें।

भोजन मनुष्य की मूल आवश्यकता है। अध्ययनकालीन अभिलेखों से प्राचीन राजस्थान में गेहूँ, चावल, जौ, ज्वार, मूंग एवं घी, तेल का प्रयोग भोजन में प्रमुख था। दूध एवं दूध से निर्मित पदार्थ, गुड़, शक्कर, शहद, गन्ने एवं आम्रफल का काफी प्रचलन था। खाने को स्वादिष्ट बनाने हेतु

मसालों का उपयोग किया जाता था। मसालों में मुख्यतया हींग, प्रियंगु (केसर, जाफरान), एला (इलायची), लवंग (लौंग), जायफल, जावित्री, मेथी, आंवला, हरड़, कालीमिर्च, बहेड़ा आदि का उपयोग किया जाता था। पान का प्रयोग भी किया जाता था। रतनपुर अभिलेख एवं किराडू अभिलेख की जीवहिंसा निषेध आज्ञाओं से मांसाहार के प्रचलन का भी संकेत मिलता है।

अध्ययनकालीन अभिलेखों में वस्त्र-विन्यास का उल्लेख प्रायः नहीं है तथापि सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित उल्लेख से संकेत मिलता है कि समाज में सुन्दर वस्त्रों एवं आभूषणों का प्रचलन था। रेशमी वस्त्र का प्रयोग सुन्दर परिधानों हेतु किया जाता था। स्त्रियों एव पुरुषों के द्वारा विविध अंगों में भिन्न-भिन्न आभूषणों को धारण किया जाता था। आभूषणों में केयूर (भुजबन्ध) हार, मणि, नुपुर, स्वर्णवलय, करधनी तथा मुक्ताहार का प्रचलन था। कुछ भागों में वहाँ के निवासियों के द्वारा ललाट प्रदेश पर अलिक रेखा कपोल एवं वक्षस्थल पर पत्रभंग की रचना भी करवायी जाती थी। वर्तमान में स्त्री-पुरुष द्वारा शरीर के विविध अंगों पर टेंटू बनवाने की परम्परा इसी का परिवर्धित रूप परिलक्षित होता है।

आदिकाल से ही मनुष्य मनोरंजन प्रिय रहा है। प्राचीन राजस्थान में भी शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास हेतु मनोरंजन के विविध साधनों का प्रयोग किया जाता था। शारीरिक स्वास्थ्य हेतु दौड़, कुश्ती, नाना प्रकार के खेल-कूद एवं आखेट आदि का आयोजन किया जाता था। मानसिक शक्तियों को विकसित करने के लिए नृत्य-संगीत, नाटक अभिनय, कविता-पाठ, आख्यान, कहानी तथा बौद्धिक खेल यथा-चौपड़, शतरंज, अक्खरिका आदि का आविष्कार हुआ। आध्यात्मिक शक्ति की अभिवृद्धि हेतु पूजा-पाठ, स्नान-दर्शन, यात्रा, श्रृंगार आदि का प्रचलन हुआ ' सामाजिक समरसता एवं सास्कृतिक उन्नयन के परिचायक ये साधन जहाँ समाज को कठिन परिश्रम के उपरान्त विश्राम प्रदान करते हैं, वहीं व्यक्तियों को सर्वदा स्वस्थ और स्फूर्तिवान बनाए रखते हैं।

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में मुख्य आर्थिक आधार कृषि तथा तत्सम्बन्धी उद्योग थे। साहित्य तथा अभिलेखों से भूमि पर सामुदायिक, व्यक्तिगत एवं राजकीय स्वामित्व के प्रमाण प्राप्त होते हैं। प्रारंभ में सामुदायिक स्वत्व था लेकिन राज्य संस्था के पूर्ण रूप से विकसित होने पर भी सामूहिक अधिकार का बोध पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ किन्तु जैसे-जैसे राज्य शक्तिशाली होता गया, उसका हस्तक्षेप बढ़ता गया तथा प्रकृति द्वारा प्रदत्त सभी सुविधाओं का

वह स्वामी बन गया। अभिलेखों में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। जब सामाजिक जीवन में वैयक्तिक भावना को प्रधानता दी जाने लगी, तब राजा के भूस्वामित्व के सिद्घान्त के साथ निजी स्वामित्व का सिद्घान्त भी प्रतिपादित किया जाने लगा। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में कृषि योग्य भूमि, बाग-बगीचों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। राजा सम्पूर्ण राज्य का रक्षक होने के कारण भूमि पर कर अवश्य लगा सकता था।

अभिलेखों में राजाओं के अतिरिक्त व्यक्तिगत लोगों तथा सामुदायिक संस्थाओं द्वारा भूमिदान के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं, उनमें दानग्रहीता या तो कोई विद्वान् ब्राह्मण या पुरोहित या जैन अथवा बौद्ध संघ अथवा कोई मंदिर जैसी सांस्कृतिक सामाजिक संस्था थी। इन दानों का उद्देश्य दानकर्त्ता द्वारा अपने दान से पुण्य लाभ की कामना होती थी और दान प्राप्तकर्त्ता नित्य प्रति के व्ययों को चलाने पर केन्द्रित था। राजा के भूस्वामित्व सम्बन्धी अधिकार अत्यन्त व्यापक थे। राज्य के भूस्वामित्व एवं राजा के भूस्वामित्व में स्पष्ट अन्तर दर्शित होता है। राजा भूमिदान देते समय अपने तथा अपने माता-पिता के पुण्य व यश की कामना करता था न कि राज्य के कल्याण व यश की। सामुदायिक भूमि को निजी सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी। राजकीय पदाधिकारियों को राजसेवा के बदले वेतन के स्थान पर भूमि देने से सामन्तवाद को प्रोत्साहन मिला।

कृषि उपज के रूप में विभिन्न अनाज, दालों एवं नमक उत्पादन के उल्लेख अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। अनाज एवं दालों के अतिरिक्त ग्राम्य अर्थव्यवस्था में घी-दूध एवं ऊन का भी महत्वपूर्ण स्थान था। अभिलेखों में रवि एवं खरीफ दोनों ही फसलों का उल्लेख प्राप्त होता है। कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के अन्य व्यवसायों का भी उल्लेख मिलता है, उनमें से अधिकांश श्रेणियों में विभक्त थे। कृषि के लिए सिंचाई के विभिन्न साधनों यथा-कूप, तड़ाग, बावड़ी, नहर आदि बनवाने के अनेक प्रमाण अभिलेखों में प्रभूत मात्रा में प्राप्त होते हैं।

कृषि, पशुपालन एवं विभिन्न शिल्पों के अतिरिक्त व्यापार एवं वाणिज्य से भी लोग अपना जीविकोपार्जन करते थे। प्रारंभ में नगरों की संख्या सीमित थी लेकिन 7वीं-8वीं शताब्दी से व्यापार एवं वाणिज्य के विकास के साथ ही अनेक नये नगरों एवं कस्बों का विकास हुआ। इन नगरों में कुछ राजनीतिक महत्व के कारण, कुछ व्यापारिक महत्व के कारण तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्व के कारण विकसित हुए।

अनेक ऐसे गैर-राजकीय संगठनों के भी प्रमाण प्राप्त होते हैं जो अपने-अपने क्षेत्रों में व्यापार का स्वयं नियंत्रण करते थे जिनमें श्रेणी नामक संगठन प्रमुख था जो किसी एक ही व्यवसाय में लगे ऐसे लोगों का समूह था जो एक ही जाति के न होकर विभिन्न जातियों के थे। विभिन्न व्यवसायों के लोगों के लिए पृथक-पृथक बाजारों की व्यवस्था होती थी। इनसे चुंगी वसूल की जाती थी। चुंगी से प्राप्त धन से दान एवं अन्य धार्मिक कार्यों पर व्यय किया जाता था। व्यापार एवं वाणिज्य का जैसे-जैसे विकास हुआ, सिक्कों की आवश्यकता एवं महत्व बढ़ा। विभिन्न प्रकार के सिक्कों का उल्लेख तत्कालीन साहित्य एवं अभिलेखों में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इस प्रकार सारांश में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक जीवन पर्याप्त समृद्ध था।

प्रागैतिहासिक काल से ही राजस्थान का जन-जीवन धर्मगत उत्कण्ठा से अनुप्राणित रहा है जिसमें नैतिक मूल्यों, आचारगत अभिव्यक्तियों तथा जगन्नियंता के प्रति समर्पण की भावना का समावेश था। अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर , जैन एवं बौद्ध धर्म का राजस्थान में विशेष महत्व था। राजस्थान से शैव सम्प्रदाय की लोकप्रियता के प्राचीनतम अभिलेखीय प्रमाण ई०पू० की अन्तिम शताब्दियों से ही मिलने लगते हैं तथा ई० सन् 10 वीं शताब्दी तथा उसके बाद भी यह सम्प्रदाय राजस्थान में पर्याप्त लोकप्रिय था। इसी प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय का उदय भी ई०पू० की अन्तिम शताब्दियों में हो चुका था जहाँ इसका प्रमुख केन्द्र नगरी (प्राचीन मध्यमिका) था। राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त अभिलेखों के अध्ययन से यह विदित होता है कि यह सम्प्रदाय शासक वर्ग एवं जनता की आस्था का केन्द्र बना हुआ था।

शक्ति के विविध रूपों की आराधना का भी पर्याप्त महत्व था। विष्णु की अर्द्धांगिनी के रूप में लक्ष्मी, शिव भार्या के रूप में पार्वती की पूजा जनमानस में लोकप्रिय थी। शक्ति के रूप में चण्डी, अम्बिका, भद्रा, काली, कात्यायनी आदि रूपों की उपासना शासक वर्ग एवं जन सामान्य की आस्था का केन्द्र थी। वाग्देवी सरस्वती को भी पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

शैव, वैष्णव एवं शाक्त सम्प्रदाय के समान सौर सम्प्रदाय भी यहाँ पर्याप्त लोकप्रिय था। राजस्थान में इस सम्प्रदाय की लोकप्रियता के प्राचीनतम प्रमाण ई० सन् 5 वीं शताब्दी (गंगधार शिलालेख) से मिलने लगते हैं।मध्यकाल में राजपूत शासकों द्वारा अपनाई गई धार्मिक सहिष्णुता की नीति इस सम्प्रदाय की लोकप्रियता में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई।

राजस्थान में जैन धर्म प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रहा है। बड़ली के प्राकृत भाषा के जैन अभिलेख मध्यमिका (ई.पू. द्वितीय शताब्दी) का खण्डित लेख इसी समय के कोटा के दर्रा स्थल से मिले खण्डित अभिलेख एवं नोह (भरतपुर) के उत्खनन में मिले टूटे प्यालों पर ब्राह्मी लिपि के शब्दांकन से स्पष्ट विदित है कि ईसा पूर्व की अन्तिम शताब्दियों में जैन सम्प्रदाय जन आस्था का मुख्य केन्द्र था। राजस्थान में जैन सम्प्रदाय का प्राबल्य 7वीं शताब्दी से बढ़ने लगा । 12 वीं शताब्दी तक शासक एवं प्रजा वर्ग में इसके प्रति आस्था रही है।

राजस्थान में बौद्ध धर्म के प्राचीनतम प्रमाण अशोक के बैराट से मिले शिलालेख हैं । मौर्यकाल में बैराट नगर बौद्ध शिक्षा का महान केन्द्र था। कोशवर्धन अभिलेख (संवत् 847) से स्पष्ट होता है कि सामन्त देवदत्त ने कोशवर्धन पर्वत पर मन्दिर एवं बौद्ध विहार का निर्माण करवाया था। दसवीं - ग्यारहवीं शताब्दी तक बाह्य आक्रमणों एवं राजपूतों के प्रभाव ने ब्राह्मण धर्म को पुनः संस्थापित कर दिया और राजस्थान में इसका अस्तित्व लगभग समाप्त हो गया ।

राजस्थान में अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे तथापि धार्मिक स्वतंत्रता एवं सहिष्णुता समाज में विद्यमान थी । राजपूत शासकों की धार्मिक सदाशयता की नीति से यह सम्भव हो सका कि एक ही राजवंश का एक शासक तो वैष्णव हो, तो द्वितीय परमशैव, तृतीय भगवती का उपासक और चतुर्थ परम आदित्य भक्त। जोजलदेव का नाडोल अभिलेख (संवत् 1147) एवं सादड़ी अभिलेख की आज्ञाऐं धार्मिक सद्भाव की मिसाल हैं। धार्मिक सद्भाव को बढ़ावा देने में तीर्थों का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा है जहाँ हर वर्ग एवं जाति का व्यक्ति अपने सांसारिक कष्टों से मुक्ति प्राप्त कर अलौकिक आनन्दानुभूति करता था। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में पुष्कर, कोटितीर्थ, त्रेता तीर्थ, गंगोदभेद कुण्ड, रेवती कुण्ड, हरिद्वार एवं सोरों जन आस्था के केन्द्र थे।

प्राचीन राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था सुगठित थी। यवन आक्रमण के कारण अपने अस्तित्व की रक्षार्थ राजस्थान में मालव, शिवि, यौधेय, अर्जुनायन आदि जातियों का आगमन हुआ, जो जनपद रूप में संगठित थीं। इन जनपदों में अर्धराजसत्तात्मक एवं अर्धगणतंत्रात्मक शासन व्यवस्था प्रचलित थी। गुप्त एवं वर्धन साम्राज्य के पतन के बाद छोटे - छोटे राज्यों के उदय के साथ गुर्जर, प्रतिहार, चाहमान तथा परमार आदि राजवंशों का उदय हुआ। भौगोलिक क्षेत्रों के विस्तार के कारण नगर एवं कस्बों में सामन्ती शासन व्यवस्था विकसित हुयी । राजा द्वारा मनोनीत सामन्त आदि स्वतंत्र रूप से प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन करते थे तथापि राजा के

प्रति उत्तरदायी होने के कारण प्रशासन में राजा का सर्वोच्च एवं महत्वपूर्ण स्थान था। प्रशासन के नागरिक, सामरिक, आर्थिक एवं न्यायिक समस्त शक्तियाँ राजा में निहित थीं तथापि वह स्वेच्छाचारी नहीं था । प्रजा का सुख एवं सुरक्षा का ध्यान रखना उसका परम कर्तव्य था । अतः प्रजा की विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओं, आजीविकाओं, धार्मिक आस्थाओं आदि की पूर्त्यथ विविध कल्याणकारी कार्य उसके द्वारा किए जाते थे। समस्त पंथों एवं धर्मों को राजा का संरक्षण प्राप्त था । धार्मिक उदारता एवं सहिष्णुता की नीति का पालन करने के कारण प्रजा का राजा के प्रति परम आदर था। राजा की निरंकुशता पर अंकुश लगाने के लिए मंत्रिमण्डल, सामन्त गण, प्रशासनिक स्थानीय निकाय, धर्मशास्त्रीय नियम, लोकमत एवं परम्पराऐं प्रमुख थी । मंत्रिपरिषद में विभिन्न पदाधिकारी थे। आपात काल में राज्यहित को देखते हुए मंत्रिपरिषद स्वतन्त्र निर्णय भी लेती थी।उदाहरणार्थ पृथ्वीराज (द्वितीय) के देहान्त के बाद उसका कोई उत्तराधिकारी न होने पर सोमेश्वर को गुजरात से बुला कर शासन भार सम्भालने का महत्वपूर्ण निर्णय मंत्रिपरिषद ने ही लिया था। इसी प्रकार सोमेश्वर की भी मृत्यु के उपरान्त पृथ्वीराज (तृतीय) के अल्प वयस्क होने की अवस्था में मंत्रिपरिषद ने अपने स्वयं के निर्णय के अनुसार उसकी माता कर्पूरदेवी को 'राजचिन्तक' बनाकर शासन का संचालन करने में मदद की थी|

विशाल राज्यों को सामन्त नियुक्त कर संचालित किए जाते थे। सामन्त शासन के लिए स्वतन्त्र थे तथापि राजा के प्रति निष्ठावान थे। राज्य प्रान्त, भुक्ति, मंडल, विषय एवं खेटक में विभाजित थे,जहाँ पर स्थानीय पदाधिकारी नियुक्त कर शासन किया जाता था ।

कानून और न्याय व्यवस्था सुदृढ़ एवं व्यवस्थित थी । न्याय प्रणाली में भिन्न -2 न्यायिक कार्यों में सहयोग हेतु विविध पदाधिकारी नियुक्त थे । दशापराध, चोरी, मिलावट एवं बलात्कार आदि जघन्य अपराध थे जिनके लिए कठोर शारीरिक एवं आर्थिक दण्ड का प्रावधान था|

बाह्य आक्रमणों से प्रजा की सुरक्षा हेतु सैन्य प्रशासन का समुचित प्रबन्धन था। सेना में पैदल चलने वाले, रथ, घोड़े, हाथी, ऊँट आदि पर आरूढ़ सैनिकों के साथ जलयुद्ध में सहायक नौका आदि भी सम्मिलित थीं, जिनके लिए विविध पदाधिकारी नियुक्त किए जाते थे।

राज्य की आर्थिक समृद्धि एवं प्रोत्साहन हेतु किसानों, वाणिज्य -व्यापारियों, राज्यकर्मचारियों से विविध करों के माध्यम से राजस्व की वसूली की जाती थी । राजस्व की वसूली एतदर्थ नियुक्त पदाधिकारियों द्वारा की जाती थी। प्राचीन नगरों में प्रायः नगर समिति या

व्यापारी सभा शहरी प्रशासन का संचालन करती थी , जो श्रेणियों के रूप में विकसित हुयी । पंचकुल संस्था के माध्यम से स्थानीय स्तर के सार्वजनिक कार्य किए जाते थे । पंचकुल की सहायता के लिए सहयोगी पदाधिकारी होते थे। बडे गाँव, कस्बों एवं मंडियों की व्यवस्था मंडपिकाऐं करती थी । इस प्रकार राजस्थान में प्रशासनिक व्यवस्था सुदृढ़ थी जिसका नियोजन एवं विस्तार जनहिताय था।

वर्तमान में पाश्चात्य संस्कृति के प्रति आकर्षण समाज में एकाकी जीवन पद्धति एवं भोगवादी प्रवृत्ति का पोषक रहा है जिसके फलस्वरूप अर्थ की प्रमुखता ने समाज में अनैतिकता को बढ़ावा दिया है। ऐसे में प्राचीन राजस्थानी संस्कृतिक जीवन पद्धति समाज को दिशा देने में सहायक सिद्ध हो सकती है।

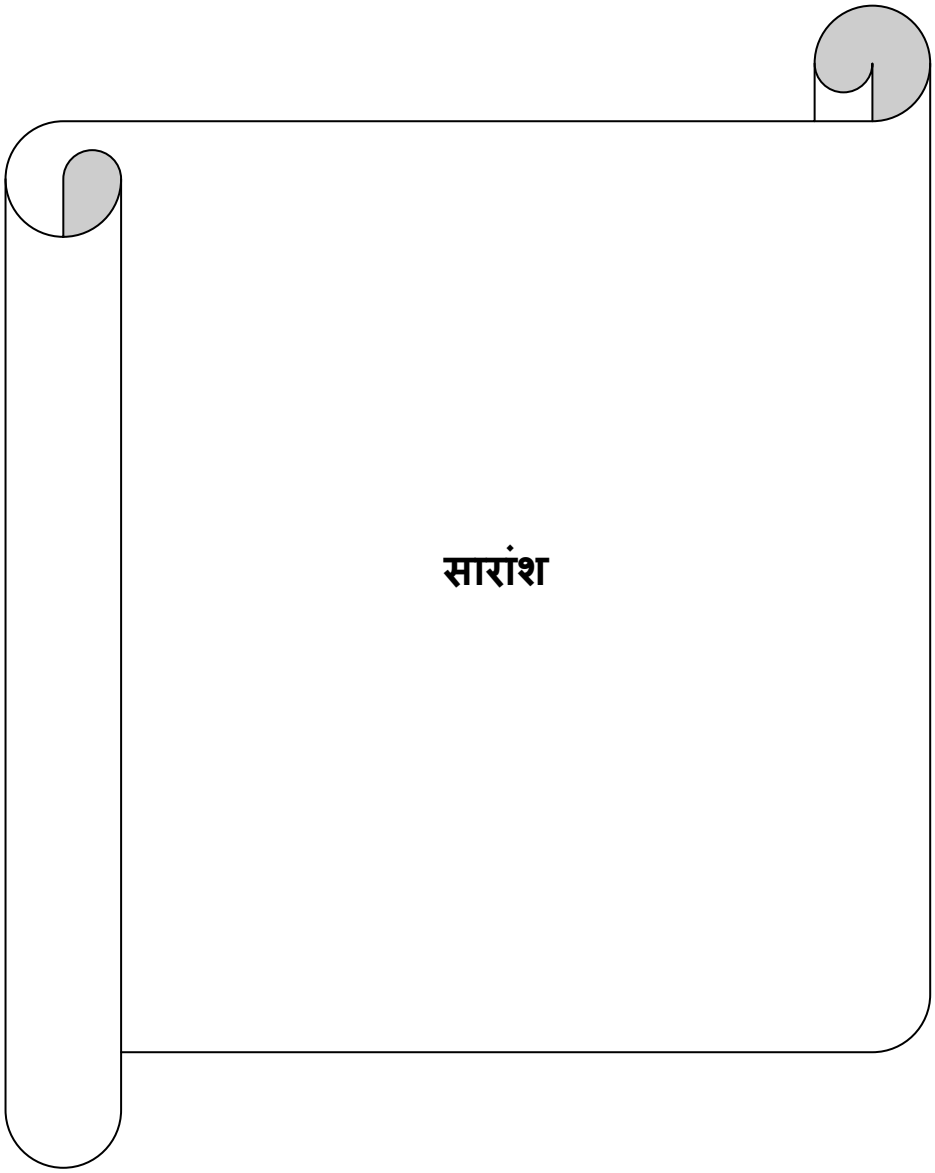

सारांश

सारांश

प्राचीन संस्कृत साहित्य निर्विवाद रूप से भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान का पर्याय है। इस आधार पर प्रायः देववाणी संस्कृत को आदर एवं श्रद्धा तो प्राप्त है परन्तु व्यवहृत भाषा के रूप में उसे जीवन्त नहीं माना जाता। प्राचीन भारतीय अभिलेखों में संस्कृत भाषा का प्रचुर प्रयोग इस मिथक को खण्डित करता है। इसका प्रबल साक्ष्य यह है कि यह दैनिक व्यवहार तथा राजकाज की भाषा थी।

प्राचीन भारतीय अभिलेख समकालीन जीवन के ज्ञानार्थ महत्वपूर्ण साधन हैं। राजस्थान से प्राप्त अभिलेख भी इसके अपवाद नहीं हैं। प्राचीन साहित्य,मुद्राओं और मूर्तियों के समान राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन की जानकारी के लिए सर्वाधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक स्रोत राजस्थान के विभिन्न अंचलों से प्राप्त अभिलेख ही हैं । ये अभिलेख बहुधा शिलाओं, प्रस्तर पट्टों, भवनों, गुफाओं की दीवारों, मन्दिरों, स्तूपों, तालाबों, बाबड़ियों तथा कूपों में स्थापित शिलाओं पर उत्कीर्ण मिलते हैं।

समग्र अध्ययन को सुविधा की दृष्टि से नौ अध्यायों में विभक्त कर अध्ययन किया है। **प्रथम अध्याय** में शोध प्रबन्ध की पृष्ठभूमि तैयार करने हेतु राजस्थान के विविध अंचलों से प्राप्त संस्कृत के प्रमुख अभिलेखों का संक्षिप्त परिचय, उनके प्रकार एवं महत्व का विवेचन किया है । अभिलेख लेखन हेतु ताड़पत्र, ताम्रपत्र,भोजपत्र, कागज, कपड़ा, एवं पाषाण का प्रयोग किया जाता था। सहज सुलभता एवं दीर्घकालिकता के कारण पाषाण का प्रयोग राजस्थान में सर्वाधिक हुआ । अध्ययनकालीन अभिलेखों की विवेच्यवस्तु के आधार पर उन्हें प्रतिष्ठा लेख, प्रशस्ति लेख, स्मारक लेख, स्तम्भ लेख और दानपत्र के रूप में विभाजित किया जाना समीचीन है ।

राजस्थान से प्राप्त प्रारंभिक अभिलेख जहाँ ब्राहमी लिपि में हैं वहीं पूर्वमध्यकालीन बहुसंख्यक अभिलेख कुटिल लिपि में है। इन लेखों की भाषा संस्कृत है । संस्कृत के साथ - साथ प्राकृत अथवा पाली भाषा का भी पर्याप्त विकास हुआ । बड़ली ,वैराट तथा खंडेला (सीकर) से प्राप्त ई. पू. तृतीय शती के अभिलेखों की भाषा प्राकृत है। ई. पू . द्वितीय - प्रथम शताब्दी का घोसुण्डी - नगरी (प्राचीन मध्यमिका) का अभिलेख राजस्थान का ही नहीं अपितु भारत का प्राचीनतम संस्कृत अभिलेख है।10 वीं शताब्दी के प्रारंभिक एवं परवर्ती अभिलेख नागरी लिपि में हैं जिनमें संस्कृत के अतिरिक्त राजस्थानी एवं हिन्दी का प्रयोग मिलता है।

राजस्थान से प्राप्त विविध अभिलेखों में विविध संवत् प्रयुक्त हुए हैं। वीर संवत् का प्रयोग सर्वप्रथम राजपूतकालीन जैन अभिलेखों में प्रयुक्त हुआ है। कृत एवं मालव संवत् ही कालांतर में विक्रम संवत् कहलाया । गुप्त संवत् का प्रयोग भी विवेच्चकालीन अभिलेखों में हुआ है, किन्तु अध्ययनकालीन किसी भी अभिलेख में शक संवत् का प्रयोग नहीं मिलता है।

अभिलेखों के अध्ययन से उस युग के सांस्कृतिक जीवन यथा सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक को सम्यक् रूपेण जाना जा सकता है। विषय वस्तु की स्पष्टता, समसामयिकता एवं भूतकालीन घटनाओं के विवरण की विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता तथा काल विषयक निश्चित अभिव्यक्ति के कारण साहित्य की अपेक्षा अभिलेखों का महत्व अधिक हो जाता है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत राजस्थान से मिले विविध अभिलेखों में उपलब्ध सांस्कृतिक जीवन की अवधारणा को रूपायित किया गया है। यहां से प्राप्त पुरावशेषों में मिले हव्य पात्रों से धर्म की मान्यता, खिलौनों से आमोद - प्रमोद प्रियता और फलकों पर प्राप्त चित्रांकन इस बात के द्योतक हैं कि उस समय मानव को रूप, सौन्दर्य एवं सौहार्द्र आदि का सूक्ष्म बोध अवश्य था।

अभिलेखों में अंकित राजा एवं नागरिकों द्वारा किए गए लोकोपकारी कार्य यथा कूप, नहर,तड़ाग,बाबड़ी, धर्मशाला निर्माण, बाग - बगीचों का विस्तार, राज्य में गोचर भूमि की व्यवस्था आदि इस बात के स्पष्ट साक्ष्य हैं कि यहाँ के जनजीवन में कर्म एवं पुनर्जन्म के प्रति दृढ आस्था थी।

अवतारवाद भारतीय संस्कृति के समान राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन में दृढ़ता से दर्शित होता है। विध्वंसक तत्वों के बढ़ जाने पर पुण्यजन पृथ्वी पर अवतरित होकर सद्भाव के प्रेरक होते हैं । 12 वीं शताब्दी के अजमेर अभिलेख में एक साथ दशावतारों का उल्लेख हुआ है।

व्रतोपवास एवं पर्व मानसिक स्वच्छता एवं शारीरिक सुदृढ़ता के आधार हैं। व्रत संकल्प और नियम के रूप में अभिलेखों में दर्शित है।

राजस्थान का सामाजिक जीवन उच्च जीवन मूल्यों से प्रेरित रहा है। ये जीवन मूल्य ही संस्कृति के वाहक हैं। संस्कृति की संज्ञा में उन मानवीय और आध्यात्मिक पहलुओं का सम्मिश्रण आवश्यक है जिसमें कला, साहित्य, धर्म, दर्शन तथा भौतिक एवं लौकिक - जीवन के उज्ज्वल पक्ष

विद्यमान हैं। इन सभी पक्षों का दिग्दर्शन शाश्वत रूप से प्रवाहित युग - युगान्तर से प्रतिपादित परम्पराओं में आज भी प्राप्य है। इस सांस्कृतिक पक्ष की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें निहित श्रेय, सौन्दर्य और प्रेय के तत्व इतने प्रबल हैं कि सुदीर्घ कालक्रम के आरोह - अवरोह के उपरान्त भी नैतिक गुणों तथा संस्कारों की नई प्रेरणा देने की क्षमता अद्यतन विद्यमान है।

तृतीय अध्याय में सामाजिक संरचना के घटक वर्ण एवं जातीय व्यवस्था का विवेचन किया गया है।संस्कृति की चिरन्तनता एवं वैशिष्ट्य में उसकी सामाजिक संस्थाओं का महत्वपूर्ण स्थान है । सामाजिक जीवन की महत्वपूर्ण संस्थाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था का अहम योगदान है । अध्ययनकालीन अभिलेखों का उद्देश्य चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का वर्णन करना नहीं है । केवल सं० 1013 के ओसियाँ के महावीर मंदिर अभिलेख एवं सं० 1226 के बिजौलिया अभिलेख में चातुर्वर्ण्य वर्णव्यवस्था का एक साथ उल्लेख प्राप्त होता है। वर्णव्यवस्था कर्मज न होकर जन्मज थी । अतः चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त अन्य जातियों का विकास भी देखा जाता है।

पूर्वमध्यकाल में कतिपय अन्य जातियों यथा-कायस्थ, आभीर, स्वर्णकार, अन्त्यजादि का उल्लेख भी प्राप्त होता है। कायस्थ मुख्यतः लेखन कार्य से जुड़े हुए थे जिन्हें मध्यकालीन राजस्थान की राजपूत रियासतों में विशेष स्थान प्राप्त था। अभिलेख लेखन के लिये दूसरे राज्यों से कायस्थों को आमंत्रित किया जाता था। गौड देश के कायस्थ सुन्दर लेखन के लिये प्रसिद्ध थे। कुटिल लिपि को लोकप्रिय बनाने में इनका अहम् योगदान रहा। अभिलेखों के उत्कीर्णन का कार्य अधिकांशतः स्वर्णकारों के द्वारा किया गया है। यद्यपि इन जातियों का वर्ण-व्यवस्था में स्थान निश्चित नहीं था तथापि समाज में इनके कार्य का महत्व एवं स्थान की स्वीकारोक्ति अवश्य थी।

अध्याय चतुर्थ में सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन किया गया है। परिवार सामाजिक जीवन की आधारशिला है। राजस्थान में मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक दोनों ही प्रकार के परिवारों का अस्तित्व रहा है। नगरी (प्राचीन मध्यमिका) (ई . पूर्व द्वितीय - प्रथम शताब्दी) एवं सारणेश्वर उदयपुर (संवत् 1010) की प्रशस्ति में राजा सर्वतात एवं अल्लट का माता के नाम से उल्लेख इसके स्पष्ट साक्ष्य हैं।

अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन राजस्थान में आश्रमव्यवस्था का पालन होता था।आश्रम व्यवस्था का एक अन्य आधार ऋणों की धारणा थी। तीनों ऋण (देव, ऋषि, और पितृ) को पूर्ण करके ही व्यक्ति मोक्षगामी होता है। मोक्षेच्छुक के लिये यह आवश्यक

था कि वह वेदों का सम्यक् ज्ञानार्जन करे, शक्त्यानुसार यज्ञानुष्ठान और तदनन्तर मोक्ष की प्राप्ति करे। वस्तुतः ऋणों की व्यवस्था सामाजिक विकास की ही कारक है। देव ऋण प्रकृति संरक्षण, ऋषि ऋण ज्ञान केन्द्रों की निरन्तरता एवं पितृ ऋण समाज की गतिशीलता के ही पर्याय थे।

धर्मशास्त्रों में ऋणों से उऋण होने हेतु पंचमहायज्ञों का विधान किया है। 7 वीं सदी के बाभट के ताम्रपत्र में पंचमहायज्ञों के कर्त्ता पाँच भाइयों के उल्लेख से स्पष्ट है कि पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में पंचमहायज्ञों का प्रचलन था।

मनुष्य के समग्र जीवन के उन्नयन हेतु संस्कारों का समावेशन भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है। प्राचीन राजस्थान में पुंसवन संस्कार, विद्यारम्भ, वेदारम्भ, विवाह और अन्त्येष्टि संस्कार प्रचलित थे।

अध्याय पंचम में नारी की स्थिति का अध्ययन किया गया है। अभिलेखों के पर्यालोचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन राजस्थान में नारी की स्थिति संतोषप्रद थी। पुत्री के रूप में उसे माता-पिता का संरक्षण एवं स्नेह प्राप्त था साथ ही उसके विकासार्थ शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध किया जाता था। कुण्डेश्वर मंदिर अभिलेख (सं० 718), बुचकला अभिलेख (सं० 872), लाणबावड़ी प्रशस्ति (सं० 1099), आदि अभिलेख समाज में राजकुमारियों, रानियों एवं धनाढ्य वर्ग की नारियों के महत्वपूर्ण स्थान के सूचक हैं। समय-समय पर इनके द्वारा बनवाये जाने वाले कूप, जलाशय एवं मन्दिर आदि से स्पष्ट है कि स्त्रियाँ जनहित के कार्यों में निर्बाध रूप से धन व्यय कर सकती थीं जो उनका आर्थिक रूप से निर्भर होने का भी द्योतक हैं ।

प्राचीन राजस्थान में सती प्रथा नामक कुरीति के प्रचलन से नारी की स्थिति पर दयनीयता का आरोपण किया जाता है। हमारी यह मान्यता है कि किसी भी प्रथा के प्रचलन के पीछे तात्कालिक कारण मुख्य होते हैं जो उन परिस्थितियों में समाज की माँग या मजबूरी बन जाते हैं। लगातार बाह्य आक्रमण, नारी के प्रति दुराचार सती प्रथा के पोषक रहे हैं। अतएव एक कुरीति के आधार पर नारी की स्थिति विशेषतया राजपूत काल में शोचनीय थी कहना अनुचित होगा। जहाँ राजनीति में उसका परामर्श स्वीकार्य हो, शासन में सहभागिता हो एवं जनहित के कार्य संचालित किये जा रहे हों ऐसे में तात्कालिक परिस्थितियों की उपज एक कुप्रथा के आधार पर नारी का मूल्यांकन बेमानी होगा। यह प्रथा सर्वमान्य अथवा बाध्यकारी हो ऐसा नहीं था। गणिका बूटा का नाम मन्दिर के गोष्ठिकों की सूची में होना, गणनी सर्वदेवा द्वारा माता की मूर्ति का निर्माण

धार्मिक कृत्यों में उनकी सहभागिता का द्योतक है। मन्दिर में नर्तकी वजिला को दान का भाग एवं अन्य सहायिकाओं को पुरूषों के समान वित्त प्रदान किया जाना राजकीय संरक्षण एवं परिवर्धन का सूचक है। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजकीय क्षेत्र में स्त्रियों का योगदान स्वीकार्य था।

अध्याय षष्ठम् में शिक्षा, खान -पान, व्रत उपवास, दान एवं आमोद - प्रमोद का विवेचन किया गया है। अभिलेखों के पर्यालोचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन राजस्थान में शिक्षा का व्यापक प्रचार - प्रसार था । गुरुकुल, मठ, मंदिर, विहार आदि शिक्षा के प्रसार केन्द्र थे। महावीर मंदिर अभिलेख (संवत् 1013)एवं नाथ प्रशस्ति (संवत् 1028)के अनुसार उपकेशपुर का तपनेश्वर मंदिर एवं लकुलीश वेश्म उस समय शिक्षा के लिए प्रसिद्ध थे। राजस्थान के चित्तौड़, भिन्नमाल (भीनमाल), अजमेर, जालौर, आबू, चन्द्रावती, भड़ानक (बयाना), मालवनगर और चाटसू आदि नगर विद्या के प्रमुख केन्द्र थे।

पठन - पाठन के विषयों में वेद, वेदाङ्ग, गणित, नाट्यशास्त्र, रामायण महाभारत, धर्मशास्त्र, दर्शन, न्याय शास्त्र, साहित्य के साथ चित्रकला, संगीत, नृत्य, चिकित्सा आदि का अध्ययन सम्मिलित था। गुरु के प्रति अत्यंत आदर था क्योंकि उसके बिना शिक्षा की पूर्णता असंभव थी । प्रशासन द्वारा शिक्षकों को विविध सुविधाओं के साथ अग्रहार रूप में भूमि प्रदान की जाती थी जिससे वे निश्चिंत होकर सुयोग्य और श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण कर सकें।

भोजन मनुष्य की मूल आवश्यकता है। प्राचीन राजस्थान में गेहूँ, चावल, जौ, ज्वार, मूंग एवं घी, तेल का प्रयोग भोजन में प्रमुख था। दूध एवं दूध से निर्मित पदार्थ, गुड़, शक्कर, शहद, गन्ने एवं आम्रफल का काफी प्रचलन था। खाने को स्वादिष्ट बनाने हेतु मसालों का उपयोग किया जाता था। मसालों में मुख्यतया हींग, प्रियंगु (केसर, जाफरान), एला (इलायची), लवंग (लौंग), जायफल, जावित्री, मेथी, आंवला, हरड़, कालीमिर्च, बहेड़ा आदि का उपयोग किया जाता था। पान का प्रयोग भी किया जाता था। रतनपुर अभिलेख एवं किराडू अभिलेख की जीवहिंसा निषेध आज्ञाओं से मांसाहार के प्रचलन का भी संकेत मिलता है।

आदिकाल से ही मनुष्य मनोरंजन प्रिय रहा है। प्राचीन राजस्थान में भी शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास हेतु मनोरंजन के विविध साधनों का प्रयोग किया जाता था। शारीरिक स्वास्थ्य हेतु दौड़, कुश्ती, नाना प्रकार के खेल-कूद एवं आखेट आदि का आयोजन किया

जाता था। मानसिक शक्तियों को विकसित करने के लिए नृत्य-संगीत, नाटक अभिनय, कविता-पाठ, आख्यान, कहानी तथा बौद्धिक खेल यथा-चौपड़, शतरंज, अक्खरिका आदि का आविष्कार हुआ। आध्यात्मिक शक्ति की अभिवृद्धि हेतु पूजा-पाठ, स्नान-दर्शन, यात्रा, श्रृंगार आदि का प्रचलन हुआ ।

अध्याय सप्तम् में आर्थिक संरचना का अध्ययन किया गया है। अध्ययनकालीन अभिलेखों के अनुसार प्राचीन राजस्थान में मुख्य आर्थिक आधार कृषि एवं पशुपालन थे। इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के अन्य व्यवसायों का भी उल्लेख मिलता है, उनमें से अधिकांश श्रेणियों में विभक्त थे। कृषि के लिए सिंचाई के विभिन्न साधनों यथा-कूप, तड़ाग, बावड़ी, नहर आदि बनवाने के अनेक प्रमाण अभिलेखों में प्रभूत मात्रा में प्राप्त होते हैं।

कृषि, पशुपालन एवं विभिन्न शिल्पों के अतिरिक्त व्यापार एवं वाणिज्य से भी लोग अपना जीविकोपार्जन करते थे। प्रारंभ में नगरों की संख्या सीमित थी लेकिन 7वीं-8वीं शताब्दी से व्यापार एवं वाणिज्य के विकास के साथ ही अनेक नये नगरों एवं कस्बों का विकास हुआ ।

अध्याय अष्टम में धार्मिक संरचना का अध्ययन किया गया है। अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर , जैन एवं बौद्ध धर्म का राजस्थान में विशेष महत्व था। राजस्थान से शैव सम्प्रदाय की लोकप्रियता के प्राचीनतम अभिलेखीय प्रमाण ई०पू० की अन्तिम शताब्दियों से ही मिलने लगते हैं ।इसी प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय का उदय भी ई०पू० की अन्तिम शताब्दियों में हो चुका था जहाँ इसका प्रमुख केन्द्र नगरी (प्राचीन मध्यमिका) था।

शक्ति के विविध रूपों की आराधना का भी पर्याप्त महत्व था। विष्णु की अर्द्धांगिनी के रूप में लक्ष्मी, शिव भार्या के रूप में पार्वती की पूजा जनमानस में लोकप्रिय थी। शक्ति के रूप में चण्डी, अम्बिका, भद्रा, काली, कात्यायनी एवं वाग्देवी आदि रूपों में पूज्य थी ।

शैव, वैष्णव एवं शाक्त सम्प्रदाय के समान सौर सम्प्रदाय भी यहाँ पर्याप्त लोकप्रिय था। राजस्थान में इस सम्प्रदाय की लोकप्रियता के प्राचीनतम प्रमाण ई० सन् 5 वीं शताब्दी (गंगधार शिलालेख) से मिलने लगते हैं ।

राजस्थान में जैन धर्म प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रहा है। बड़ली के प्राकृत भाषा के जैन अभिलेख मध्यमिका (ई.पू. द्वितीय शताब्दी) का खण्डित लेख इसी समय के कोटा के दर्रा स्थल

से मिले खण्डित अभिलेख एवं नोह (भरतपुर) के उत्खनन में मिले टूटे प्यालों पर ब्राह्मी लिपि के शब्दांकन से स्पष्ट विदित है कि ईसा पूर्व की अन्तिम शताब्दियों में जैन सम्प्रदाय जन आस्था का मुख्य केन्द्र था।

राजस्थान में बौद्ध धर्म के प्राचीनतम प्रमाण अशोक के बैराट से मिले शिलालेख हैं । मौर्यकाल में बैराट नगर बौद्ध शिक्षा का महान केन्द्र था। कोशवर्धन अभिलेख (संवत् 847) से स्पष्ट होता है कि सामन्त देवदत्त ने कोशवर्धन पर्वत पर मन्दिर एवं बौद्ध विहार का निर्माण करवाया था।

राजस्थान में अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे तथापि धार्मिक स्वतंत्रता एवं सहिष्णुता समाज में विद्यमान थी । जोजलदेव का नाडोल अभिलेख (संवत् 1147) एवं सादड़ी अभिलेख की आज्ञाऐं धार्मिक सद्भाव की मिसाल हैं। धार्मिक सद्भाव को बढ़ावा देने में तीर्थों का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा है जहाँ हर वर्ग एवं जाति का व्यक्ति अपने सांसारिक कष्टों से मुक्ति प्राप्त कर अलौकिक आनन्दानुभूति करता था। हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में पुष्कर, कोटितीर्थ, त्रेता तीर्थ, गंगोदभेद कुण्ड, रेवती कुण्ड, हरिद्वार एवं सोरों जन आस्था के केन्द्र थे।

अध्याय नवम् के अन्तर्गत प्राचीन राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन किया गया है। यवन आक्रमण के कारण अपने अस्तित्व की रक्षार्थ राजस्थान में मालव, शिवि, यौधेय, अर्जुनायन आदि जातियों का आगमन हुआ, जो जनपद रूप में संगठित थीं। इन जनपदों में अर्धराजसत्तात्मक एवं अर्धगणतंत्रात्मक शासन व्यवस्था प्रचलित थी। भौगोलिक क्षेत्रों के विस्तार के कारण नगर एवं कस्बों में सामन्ती शासन व्यवस्था विकसित हुयी । राजा द्वारा मनोनीत सामन्त आदि स्वतंत्र रूप से प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन करते थे तथापि राजा के प्रति उत्तरदायी होने के कारण प्रशासन में राजा का सर्वोच्च एवं महत्वपूर्ण स्थान था। राजा की निरंकुशता पर अंकुश लगाने के लिए मंत्रिमण्डल, सामन्त गण, प्रशासनिक स्थानीय निकाय, धर्मशास्त्रीय नियम, लोकमत एवं परम्पराऐं प्रमुख थी । शासन व्यवस्था में मंत्रिपरिषद एवं उच्चाधिकारियों का महत्वपूर्ण स्थान था।

कानून और न्याय व्यवस्था सुदृढ़ एवं व्यवस्थित थी । न्याय प्रणाली में भिन्न -2 न्यायिक कार्यों में सहयोग हेतु विविध पदाधिकारी नियुक्त थे । दशापराध, चोरी, मिलावट एवं बलात्कार आदि जघन्य अपराध थे जिनके लिए कठोर शारीरिक एवं आर्थिक दण्ड का प्रावधान था।

बाह्य आक्रमणों से प्रजा की सुरक्षा हेतु सैन्य प्रशासन का समुचित प्रबन्धन था। सेना में पैदल चलने वाले, रथ, घोड़े, हाथी, ऊँट आदि पर आरूढ़ सैनिकों के साथ जलयुद्ध में सहायक नौका आदि भी सम्मिलित थीं, जिनके लिए विविध पदाधिकारी नियुक्त किए जाते थे।

राज्य की आर्थिक समृद्धि एवं प्रोत्साहन हेतु किसानों, वाणिज्य -व्यापारियों, राज्यकर्मचारियों से विविध करों के माध्यम से राजस्व की वसूली की जाती थी । प्राचीन नगरों में प्रायः नगर समिति या व्यापारी सभा शहरी प्रशासन का संचालन करती थी , जो श्रेणियों के रूप में विकसित हुयी । पंचकुल संस्था के माध्यम से स्थानीय स्तर के सार्वजनिक कार्य किए जाते थे । पंचकुल की सहायता के लिए सहयोगी पदाधिकारी होते थे। बडे गाँव, कस्बों एवं मंडियों की व्यवस्था मंडपिकाऐं करती थी । इस प्रकार राजस्थान में प्रशासनिक व्यवस्था सुदृढ़ थी जिसका नियोजन एवं विस्तार जनहिताय था।

वर्तमान में पाश्चात्य संस्कृति के प्रति आकर्षण समाज में एकाकी जीवन पद्धति एवं भोगवादी प्रवृत्ति का पोषक रहा है जिसके फलस्वरूप अर्थ की प्रमुखता ने समाज में अनैतिकता को बढ़ावा दिया है। ऐसे में प्राचीन राजस्थानी संस्कृतिक जीवन पद्धति समाज को दिशा देने में सहायक सिद्ध हो सकती है।

संदर्भ ग्रंथ

सूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

साहित्य

अग्नि पुराण : (सम्पा.) आप्टे, हरिनारायण, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1900

अथर्ववेद : (सम्पा.) विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, 1961

अष्टाध्यायी : (सम्पा.) बसु, सतीश चन्द्र बनारस, 1897

ऐतरेय आरण्यक : (सम्पा.) कीथ, ए.बी., आक्सफोर्ड, 1909

ऋग्वेद : वेद प्रतिष्ठान

कथासरित्सागर : (अनु) टॉनी, सी.एच, 2 खण्ड, कलकत्ता, 1880-84

कर्पूरमंजरी : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1949

कालिदास ग्रंथावली : (अनु एवं सम्पा), चतुर्वेदी, सीताराम, चतुर्थ संस्करण, वाराणसी, 1980

काव्य मीमांसा : (अनु.) सारस्वत, केदारनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 1954

कीर्तिकौमुदी : (सम्पा.) कथावटे, ए.वी., बम्बई, 1883

कुवलयमाला : (सम्पा.) उपाध्ये, ए.एन., बम्बई, 1969

कूर्मपुराण : (सम्पा.) मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1913

कौटिलीय अर्थशास्त्र : (अनु.) श्यामशास्त्री,आर,तृतीय संस्करण, मैसूर1924

गोपथ ब्राह्मण : (सम्पा.) मित्र, राजेन्द्रलाल एवं विद्याभूषण, एच.कलकत्ता, 1872

तैत्तिरीय आरण्यक : (सम्पा.) मित्र, राजेन्द्रलाल, कलकत्ता, 1872

तैत्तिरीय ब्राह्मण : (सम्पा) मित्र, राजेन्द्रलाल,३ खण्ड, कलकत्ता, 1859-70

दीघनिकाय : (सम्पा.) भिक्खु जगदीश कश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, नालन्दा, बिहार, 1958

धूर्ताख्यान : राजनगर, 1945

पद्यपुराण : (सम्पा.) विष्णुनारायण, पूना, 1893

पृथ्वीराजरासो : (सम्पा.) गुप्त, माता प्रसाद, झांसी, वि.सं. 2020
पृथ्वीराजविजय : (सम्पा) ओझा,जी.एच व गुलेरी, चन्द्रवर,अजमेर,1941
बालभारत : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1949
बालरामायण : बनारस, 1969
बौधायन गृह्यसूत्र : (सम्पा.) श्यामशास्त्री, आर.,यूनिवर्सिटी ऑफ मैसूर,1920
बौधायन धर्मसूत्र : (अनु.) ब्यूलर, जी., आक्सफोर्ड, 1882
ब्रह्माण्ड पुराण : क्षेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1912
बृहत्संहिता : (सम्पा.) द्विवेदी, सुधाकर, बनारस, 1895
भविष्य पुराण : (सम्पा.) श्रीराम संस्कृति संस्थान, बरेली, 1968
भागवत पुराण : गीताप्रेस गोरखपुर
मत्स्य पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1867
मनुस्मृति : (सम्पा.) झा, गंगानाथ, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, 1932
महाभारत : दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट,पूना, 1972
महाभाष्य : कीलहर्न, एफ., 3 खण्ड, बम्बई, 1892-1909
मार्कण्डेय पुराण : श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1867
वायु पुराण : गुरुमण्डल सीरीज, कलकत्ता, 1959
विष्णुधर्मोत्तर पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1912
विष्णु पुराण : गीताप्रेस गोरखपुर
शतपथ ब्राह्मण : (सम्पा.) वेबर, ए. लंदन, 1924; अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी वि.सं. 1994-97
स्कन्द पुराण : क्षेमराज, श्रीकृष्ण, बम्बई, 1909
समराइच्छकहा : (सम्पा.) याकोबी, एच., कलकत्ता, 1926
हम्मीरमदमर्दन : (सम्पा.) दलाल, सी.डी., बड़ौदा, 1920
हरिवंश : भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, 1969
हर्षचरित : (अनु) कॉवेल, ई.सी. एण्ड टॉमस एफ.डब्ल्यू.,लंदन,1920

आधुनिक ग्रंथ

अग्निहोत्री, पी.डी. : पतंजलि कालीन भारत, पटना, 1963, वैदिक देवता दर्शन, दिल्ली, 1989

अग्रवाल, माधुरी : प्राचीन भारतीय सिक्कों और मोहरों पर ब्राह्मण देवी-देवता और उनके प्रतीक, दिल्ली, 1988

अग्रवाल, वी.एस. : ए कैटलॉग ऑफ दि ब्राह्मणिकल इमेजेज इन मथुरा आर्ट, लखनऊ 1961, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, 1963, भारतीय कला, वाराणसी 1966, पाणिनीकालीन भारतवर्ष, वाराणसी 1969

अल्तेकर, ए.एस. : राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स,पूना1934, गुप्तकालीन मुद्राये, पटना, 1972, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, वाराणसी, 1979-80

अवस्थी, शिवशंकर : मंत्र और मातृकाओं का रहस्य, वाराणसी, 1966

अवस्थी कृष्णदत्त : भारतीय वाड्मय में सीता का स्वरूप, इलाहाबाद, 1974

अली, रहमान : प्रतिहार आर्ट इन इण्डिया दिल्ली, 1987

आसोपा, जे.एन. : ओरिजिन ऑफ राजपूत्स, दिल्ली, 1976; ए सोसिओ पॉलिटिक एण्डइकोनोमिक स्टडी ऑफ इण्डिया, जयपुर 1990

उपाध्याय, जी.पी. : ब्राह्मणस इन एशेन्ट इण्डिया, नई दिल्ली, 1979

उपाध्याय बलदेव : भागवत सम्प्रदाय, काशी सं. 2010, भारतीय धर्म और दर्शन, वाराणसी 1970, वैदिक साहित्य और संस्कृति

उपाध्याय, भगवत शरण : भारतीय कला की भूमिका, दिल्ली 1980; भारतीय कला का इतिहास, नईदिल्ली, 1981; कालिदास का भारत नई दिल्ली, 2003

उपाध्याय ,रामजी : प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिकर,इलाहबाद, 1966

उपाध्याय, वासुदेव : प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन , 1961;

प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, वाराणसी, 1970: प्राचीन भारतीय मुदायें पटना, 1971; प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर (द्वितीय संस्करण पटना, 1989)

उपाध्याय, विभा : प्राचीन भारत में भूमिदान, जयपुर 1992 अशोक की धर्म लिपिया, इलाहबाद, संवत् 1980

ओझा, जी.एच.,एस. एम. : प्राचीन भारतीय लिपि माला, अजमेर 1938, सिरोही राज्य का इतिहास, अजमेर,1911; उदयपुर राज्य का इतिहास अजमेर 1928, डूंगरपुर राज्य का इतिहास,अजमेर 1936, बांसवाड़ा राज्य का इतिहास, अजमेर1937: जोधपुर राज्य का इतिहास, अजमेर 1938,बीकानेर राज्य का इतिहास, अजमेर 1939, प्रतापगढ़ राज्य का इतिहास, अजमेर 1941; मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (तृतीय संस्करण), इलाहाबाद, 1951, ओझा निबन्ध संग्रह, भाग 1-4, उदयपुर 1954 राजपूताने का इतिहास

ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास (पंचम् संस्करण) नई दिल्ली,2001 (कनिधम्, ए.)

कविराज गोपीनाथ : तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पटना, 1978

कालिया, आशा : आर्ट ऑफ ओसियन टेम्पल्स, नई दिल्ली, 1982

काणे, पीवी : धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 1 से 5. (द्वितीय संस्करण) लखनऊ, 1975

कुमार, पुष्पेन्द्र : शक्ति कल्ट इन ऐन्शेंट इण्डिया, वाराणसी, 1974

मारस्वामी, आनन्द, : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, लंदन,1927

कुलश्रेष्ठ, विजय : पृथ्वीराज रासो का लोकतात्विक अध्ययन, जयपुर, 1984

क्रेमरिश, स्टेला : दि हिन्दू टेम्पल, वाल्यूम 1-2. कलकत्ता, 1946; दि आर्ट ऑफ इण्डिया, लंदन, 1954

कृष्ण देव : ऑफ नार्थ इण्डिया, दिल्ली 1969

कृष्ण देव, गोपाल : (सम्पा.)हिस्ट्री एण्ड आर्ट, दिल्ली, 1989

लल्लन जी

खोसला, सरला : अश्वघोष एण्ड हिज टाइम्स, न्यू देहली 1986

गहलोत, जे.एस. : राजपूताने का इतिहास, भाग 1-3, जोधपुर 1960-66

गहलोत, एस.एस. : (सम्पा) राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, जोधपुर 1988

पुरोहित एस. के एवं
शर्मा नीलकमल

गांगुली, के.के : कल्चरल हिस्ट्री ऑफ राजस्थान, दिल्ली, 1983

गांगुली, डी.सी. : (अनु.) मालवीय लक्ष्मीकान्त, परमार राजवंश का इतिहास, लखनऊ, 1971

गुप्त, पी.एल. : भारतीय वास्तुकला, वाराणसी, 1977; प्राचीन भारतीय मुद्रायें, वाराणसी 1989, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग 1-2, वाराणसी 1999, 2000

गुप्त, एस.पी. : रुट्स ऑफ इण्डियन आर्ट, नई दिल्ली 1980

गुप्त, एस.के. : (सम्पा.) भारतीय चिन्तन का इतिहास, जयपुर, 1999

गैरोला, वाचस्पति : भारतीय धर्म शाखायें और उनका इतिहास, वाराणसी ,1988

गौड़, पुरुषोत्तम प्रसाद : प्राचीन शिलालेख संग्रह, जोधपुर 1924

गोन्डा, जे. : आसपेक्ट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज्म, उट्रेक्ट 1954, विष्णुइज्म एण्ड शैविज्म, लंदन 1970

गोपाल लल्लनजी : अर्ली मेडिवल क्वायन टाइप्स ऑफ नार्दर्न इण्डिया वाराणसी, 1968 ,दि इकोनोमिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया (द्वितीय संस्करण), दिल्ली ,1989

गोयत्स, एच . : दि आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट आक्सफोर्ड, 1950

गोयल, एस.आर. : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, जयपुर 1982.
गुप्तकालीन अभिलेख, मेरठ 1984, ए रिलिजस हिस्ट्री ऑफ ऐन्शेंन्ट इण्डिया, वाल्यूम 2. मेरठ 1986,
मौखरी-पुष्यभूति चालुक्य युगीन अभिलेख, मेरठ 1987. विश्व की प्राचीन सभ्यतायें, वाराणसी 2004,
प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख (550-750) जोधपुर, 2007

गोस्वामी, के.जी. : ए स्टडी ऑफ वैष्णविज्म, कलकता, 1922

ग्रोवर, सतीश : आर्कीटेक्चर ऑफ इण्डिया, दिल्ली, 1980

धुर्ये, जी.एस. : राजपूत आर्कीटेक्चर, बॉम्बे 1968

घोष, अमलानन्द : जैन कला एवं स्थापत्य, तीन खण्ड, नई दिल्ली, 1975

चक्रवती, स्वाति : सोसियो रिलिजस एण्ड कल्चरल स्टडी ऑफ दि एन्शेन्ट इण्डियन क्वायन्स, दिल्ली, 1986

चन्द्र, रायगोविन्द : प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा, वाराणसी, 1964

चन्द्र, दिनेश : प्राचीन भारतीय अभिलेख, नई दिल्ली, 2007

चतुर्वेदी, उद्धवलाल : ब्रह्माण्ड पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, दिल्ली,1987

चतुर्वेदी, परशुराम : वैष्णव-धर्म (तृतीय संस्करण), वाराणसी, 1977

चूण्डावत, लक्ष्मी कुमारी,
स्वर्णकार ,रमेश चन्द : राजस्थान के रीति रिवाज, जयपुर, 2002

चौधरी, जी.सी. : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, फ्रॉम जैन सोर्सेज, अमृतसर, 1963

चौबे, झारखण्डे, श्रीवास्तव, के. एल. : मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति चतुर्थ संस्करण, लखनऊ, 2005

जायसवाल, सुवीरा : वैष्णव धर्म का उद्भव एवं विकास (द्वितीय संस्करण) दिल्ली, 1996

जावलिया, ब्रजमोहन : बघेरा का इतिहास, उदयपुर 1904

जैन, के.सी. : जैनिज्म इन राजस्थान, शोलापुर 1963, ए न्शेंन्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, दिल्ली 1972: मालवा थू दि एजेज दिल्ली 1973

जैन, प्रेमसुमन : जैन का सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, 1975

जैन, राजेश : मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म, वाराणसी,1991-92

जैन, हीरालाल : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, जयपुर,2003

जोशी, एन.पी. : मथुरा की मूर्तिकला, मथुरा 1968, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पटना 1977

टॉड : एनाल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान, 1920

ठाकुर उपेन्द्र : दि हूणाज इन एन्शेन्ट इण्डिया, वाराणसी 1967; मिन्टस एण्ड मिन्टिंग इन इण्डिया, वाराणसी 1972: सम आसपेक्ट्स ऑफ एन्शेन्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, न्यू देहली, 1974; सम आसपेक्ट्स ऑफ एशियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, न्यू देहली, 1986 :

ढाके, एम.एम. : इण्डियन टेम्पल फार्मस, न्यू देहली, 1977

तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद : जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, 1981

थपल्याल, के.के. : सिन्धु सभ्यता, लखनऊ

शुक्ल, एस.पी.

थापर, रोमिला : अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1997. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, दिल्ली, 2001

दासगुप्त, के के : दि मालवस, कलकत्ता, 1966

दास, एस.एस. : प्राचीन लेखमणिमाला, बनारस, 1903

दिस्कल्कर, डी. बी. : सेलेक्शन फ्रॉम संस्कृत इंशक्रिप्शंस, पार्ट 1. राजकोट, 1925

दुबे एच एन : पुराण समीक्षा, इलाहाबाद 1984

दुबे एस.एन. : क्रास करेन्टस इन अर्ली बुद्धिज्म, दिल्ली 1980, रेलिजस मूवमेन्टस इन राजस्थान आइडिया एण्ड एण्टीक्विटीज, जयपुर 1996

नारायण, ए.के. : (अनु.) नारायण, उषा, ग्रीक - भारतीय अथवा यवन, वाराणसी 1996

नियोगी, रोमा : दि हिस्ट्री ऑफ गहड़वाल डायनेस्टी, कलकत्ता 1959

नीरज, जयसिंह एवं शर्मा बी.एल. : (सम्पा.) राजस्थान की सांस्कृतिक परम्पराये, जयपुर 1989

पगारे, शरद : पूर्वमध्ययुगीन धार्मिक आस्थायें, दिल्ली 1987

परिमू रतन : (सम्पा.) वैष्णविज्म इन इण्डियन आर्ट्स एण्ड कल्चर, दिल्ली 1987

पन्त, सुशीला : दि ऑरिजिन एण्ड डेवलेपमेन्ट ऑफ दि स्तूप आर्कीटेक्चर, वाराणसी 1976

परमार, बी.एम.एस. : युग-युगों में राजस्थान सिक्कों के माध्यम से जयपुर 1973

प्रसाद अगम : राजस्थान की प्राचीन राजनीतिक संस्थायें, दिल्ली,1985

प्रसाद देवी : मारवाड़ के प्राचीन लेख

पाटनी, सोहनलाल : अर्बुद मण्डल का सांस्कृतिक वैभव, सिरोही 1984

पाठक, वी.एस. : शैव कल्टस इन नार्दर्न इण्डिया, इलाहाबाद, 1980

पाठक, विशुद्धानंद : उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास (तृतीय संस्करण), लखनऊ, 1982

पाठक, विष्णुचन्द्र : (सम्पा) ब्रज की कला अरू संस्कृति, जयपुर 1988

पाठक, सर्वानन्द : विष्णु पुराण का भारत, वाराणसी, 1967

पाण्डे, एल.पी. : सन् वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, दिल्ली, 1972

पाण्डे, जे.एन : पुरातत्व विमर्श, इलाहाबाद 1983

पाण्डे, जी.सी. : बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, 1963

पाण्डे, सुस्मिता : बर्थ ऑफ भक्ति इन इण्डियन रिलिजन्स एण्ड आर्ट, न्यू देहली, 1982. समाज,आर्थिक व्यवस्था एवं धर्म

पाण्डेय, आर.पी. शर्मा : राजशेखर और उनका युग, पटना 1977

पाण्डेय, राजबली : भारतीय पुरालिपि इलाहाबाद, 1988 हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इंशक्रिप्शंस, प्राचीन भारत, वाराणसी, 2002: हिन्दू संस्करण, वाराणसी, 2006 हिन्दू धर्मकोश (द्वितीय संस्करण) लखनऊ, 1988

पाण्डेय, वी.सी. : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, इलाहबाद, 1960

पाण्डेय, एच.एल. : उत्तर भारतीय राजाओं की धार्मिक नीति, पटना,1988

पुरी, बैजनाथ : दि हिस्ट्री ऑफ गुर्जर प्रतिहारज, बाम्बे, 1957, इण्डिया इन टाइम ऑफ पतंजलि, बाम्बे 1968

पुरोहित, चन्द्रशेखर : मेवाड़ का संस्कृत साहित्य, दिल्ली, 1995

फ्लीट, जे.एफ. : (अनु. मिश्र. जी.एस.पी.) भारतीय अभिलेख संग्रह, जिल्द 3, जयपुर 1973

बापट पी.वी. : (सम्पा.) बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, तृतीय संस्करण, 2008

बनर्जी, जे.एन. : पुराणिक एण्ड तांत्रिक रेलिजन, कलकत्ता 1966;

रेलिजन इन आर्ट एण्ड आर्यलाजी, यूनिवर्सिटी ऑफ लखनऊ 1968, दि डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्रेफी (तृतीय संस्करण) न्यू देहली 1974

ब्यूलर, जे . : इण्डियन पेलियो ग्रेफी

भट्ट, एन.एन : हिस्ट्री ऑफ शाक्त रेलिजिन, दिल्ली, 1974

भट्ट, जनार्दन : अशोक के धर्म लेख (द्वितीय संस्करण) नई दिल्ली, 2000

भट्टाचार्य, सच्चिदानन्द : भारतीय इतिहास कोश, (द्वितीय संस्करण), लखनऊ, 1989

भण्डारकर, आर.जी : (अनु महेश्वरी प्रसाद) वैष्णव, शैव एवं अन्य धर्म, वाराणसी, 1983

भण्डारकर, डी आर : दि आर्यलाजिकल रिमेन्स एण्ड एक्सकवेशन्स एट नगरी, कलकत्ता 1920, अशोक (हिन्दी) दिल्ली 1974

भारद्वाज, शान्ति एवं
जैन भगवती लाल : (सम्पा) हाड़ौती का पुरातत्व, कोटा, 1989

भीष्मपाल, एच. : दि टेम्पलस ऑफ राजस्थान जयपुर 1969

मजूमदार, आर सी : कारपोरेट लाइफ इन एन्शेट इण्डिया

मजुमदार, आर.सी. एवं
पुसात्कर ए डी : दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपुल-दि वैदिक एज, दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, श्रेण्ययुग (अनु. चौहान एस.डी. सिंह दिल्ली 1984)

मजुमदार ए.के. : चालुक्याज ऑफ गुजरात, बम्बई, 1956

मनोहर, राघवेन्द्र सिह : राजस्थान के प्रमुख शक्तिपीठ (द्वितीय संस्करण) जयपुर 2010

माथुर वी. के. : ऐतिहासिक स्थानावली, दिल्ली, 1969

मार्शल जे. : मोहनजोदडो एण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन, वाल्यूम 3,लन्दन, 1931

मिराशी, वी.वी. : (अनु द्रविड वी .वी .), सातवाहन और पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास और अभिलेख, लखनऊ, 1982

मिश्र , जयशंकर : ग्यारहरवीं सदी का भारत, वाराणसी 1968, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, (षष्टम संस्करण),पटना, 1999

मिश्र, आर.एल : इशक्रिप्शस ऑफ राजस्थान, वाल्यूम 1-4, जयपुर,2006
मिश्र, विभूति भूषण : दि गुर्जर प्रतिहारज एण्ड देयर टाइम्स, दिल्ली, 1966
मिश्र, के.के. : प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था, नई दिल्ली, 2006
मिश्र, वी.सी. : ज्याग्रेफी ऑफ राजस्थान, नई दिल्ली, 1967
मिश्र, सुदामा : जनपद स्टेट इन एन्शेन्ट इण्डिया, वाराणसी, 1973
मिश्रा, मेरुप्रभा : प्राचीन भारतीय अभिलेखों का सांस्कृत अध्ययन,दिल्ली,2006
मीतल, पी.डी. : ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, दिल्ली, 1966; ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, दिल्ली, 1968; ब्रज की कलाओं का इतिहास, मथुरा, 1975
मुकर्जी, आर. के. : हिन्दू सिविलिजेशन, लंदन, 1936
मुनि, जयन्त विजयी : (अनु शाह, यू.पी.), होली आबू, भावनगर, 1954
मुंशी, के.एम. : एन्शेन्ट गुर्जर देश एण्ड इट्स लिटरेचर बाम्बे 1949; दि ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देश, बाम्बे 1955
मूंघडा, माधोदास : भारतीय तत्व चिन्तन, कोलकाता, 2007
यदुवंशी : शैवमत, पटना, 1955
यादव, झिनकू : समराइच्छकहा-एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1977
यादव, बी.एन.एस. : सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया इन दि ट्वैल्थ सेन्चुरी, इलाहाबाद, 1973
राय एस.एन. : पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद 1968: भारतीय पुरालिपि एवं अभिलेख, इलाहाबाद 2001
राय कृष्णदास : भारतीय मूर्तिकला, काशी सं. 2001
राय, यूएन : प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, इलाहाबाद, 1965, भारतीय कला, इलाहाबाद 2006
राय रामकुमार (अनु.) : वैदिक पुराकथा शास्त्र (द्वितीय संस्करण), वाराणसी, 1984
राय चौधुरी, एच.सी. : मेटेरिअल्स फॉर दि स्टडी ऑफ दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि वैष्णव सेक्ट (द्वितीय संस्करण) दिल्ली 1975,प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास
राम मन्मथ : प्राचीन भारतीय मनोरंजन, इलाहबाद, संवत् 2013

राय, एस. सी. : शुंग राजवंश का इतिहास, दिल्ली 1989

राही, ईश्वरचन्द्र : लेखनकला का इतिहास, खण्ड 1-2 लखनऊ, 1983

राव. टी.ए. गोपीनाथ : एलीमेण्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्रेफी, वाल्यूम 1-2, मद्रास, 1914-16

एच.सी. : दि डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया (द्वितीय संस्करण), वाल्यूम 1-2, दिल्ली 1973

रेरु, वी.एन. : राजा भोज, इलाहाबाद, 1932

लाला, सीताराम : हिस्ट्री ऑफ सिरोही राज, इलाहाबाद, 1920

लोढा, कल्याणमल,
सादानी जयकिशन : (सम्पा.) भक्ति तत्व-दर्शन, साहित्य, कला, कलकत्ता, 1995

लाहा, वी.सी. : (अनु) द्विवेदी, आरके, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, लखनऊ, 1972

वंद्योपध्याय, आर.डी. : गुप्त युग, वाराणसी, 1970

वर्मा, श्यामा : आचार्य राजशेखर, भोपाल, 1971

वशिष्ठ, नीलिमा : स्कल्पचर्ल ट्रेडीशंस ऑफ राजस्थान, जयपुर 1989, राजस्थान की मूर्तिकला परम्परा जयपुर 2001

वशिष्ठ, वी के व्यास् नमिता,
शर्मा प्रीति : (सम्पा.) कल्चरल हेरिटेज ऑफ राजस्थान, वनस्थली,2008

वाजपेयी, के.डी. : भारतीय वास्तुकला का इतिहास (द्वितीय संस्करण),लखनऊ 1990

वाजपेयी, कल्याणी दास : अर्ली इंशक्रिप्शंस ऑफ मथुरा-ए स्टडी,कलकत्ता, 1980

वाजपेयी, के.डी. : ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख, अग्रवाल, के.एल.,जयपुर,1992

वाजपेयी सन्तोष

विन्टरनित्ज, एम : (अनु पाण्डेय रामचन्द्र) प्राचीन भारतीय साहित्य (इतिहास, काव्य, पुराण एवं तंत्र) दिल्ली, 1966

देवव्यास : राजस्थान के लोकतीर्थ, जयपुर 1971

वैद्य, सी.वी. : राजपूतों का प्रारंभिक इतिहास, काशी, 1929

व्यास, प्रकाश : राजस्थान का सामाजिक इतिहास, जयपुर, 2001

व्यास, मांगी लाल : मारवाड़ के अभिलेख, जोधपुर 1973

व्यास, एम.एल., व्यास नाथू लाल : (सम्पा.) पृथ्वीराज रासो की विवेचना, उदयपुर वि.सं. 2015

व्यास, राजशेखर : मेवाड़ की कला और स्थापत्य, जयपुर 1988

व्यास, लक्ष्मी शंकर : महान चौलुक्य कुमारपाल (द्वितीय संस्करण) काशी,1962

व्यास, श्याम प्रसाद : राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, जोधपुर, 1986

श्यामलदास : वीर विनोद भाग 1-4

शर्मा, के.जी. : अर्ली जैन इंशक्रिशंस ऑफ राजस्थान, न्यू देहली,1993

शर्मा, जी.एन. : राजस्थान के इतिहास के स्रोत (द्वितीय संस्करण) जयपुर 1983, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, जयपुर 1989, राजस्थान थ्रू दि एजेज, वाल्यूम 2 बीकानेर 1990, राजस्थान का इतिहास, आगरा

शर्मा, दशरथ : (सम्पा) राजस्थान थ्रू दि एजेज वाल्यूम 1, बीकानेर, 1966, लेक्चर्स ऑन राजपूत हिस्ट्री एण्ड कल्चर,दिल्ली 1970, चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, जयपुर 1972, अर्ली चौहान डायनेस्टीज (द्वितीय संस्करण) दिल्ली,1975

शर्मा, नीलकमल : प्राचीन भारत में शक्ति पूजा, जोधपुर 1986

शर्मा, मथुरा लाल : कोटा राज्य का इतिहास, कोटा, वि.सं. 1961

शर्मा, मुंशी राम : भक्ति का विकास, वाराणसी, सं. 2015

शर्मा, आर. एस. : प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक सरंचनायें, नई दिल्ली, 1992,प्रारम्भिक भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली 2000. शूद्रों का प्राचीन इतिहास, (पंचम् संस्करण) नईदिल्ली, 2005

शारदा, हरविलास : अजमेर हिस्टोरिकल एण्ड डिस्क्रिप्टिव, अजमेर, 1911

शुक्ल, डी.सी. : अर्ली हिस्ट्री ऑफ राजस्थान, दिल्ली, 1978

शुक्ल, डी.सी,. सिंह ओ.एन. : राजस्थान की भक्ति परम्परा एवं संस्कृति, जोधपुर

शेखावत, सुरजन सिंह : शेखावटी प्रदेश का प्राचीन इतिहास, झुंझनु, 1989, शेखावटी के शिलालेख एक अध्ययन, झुंझनु 1988

श्रीवास्वत, वी.सी. : सन् वर्शिप इन एन्शेन्ट इण्डिया, इलाहावाद, 1972

श्रीवास्तव, वी.एस. : (सम्पा) कल्चरल कन्टूर्स ऑफ इण्डिया, दिल्ली, 1981

श्रीमाली, जी.एल. : राजस्थान के अभिलेख, भाग 1-2 जोधपुर 2000

सन्तराम, लाला (अनु०) : इत्सिंग की भारत यात्रा, प्रयोग 1925, अलबेरूनी वार्णेत भगत, 1-2

सहाय, शिवस्वरूप : भारतीय पुरालेखा का अध्ययन, दिल्ली, 1993, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास (तृतीय संस्करण) नई दिल्ली, 2000

सरकार, डी.सी. : गुहिल्ज ऑफ किष्किन्धा, कलकत्ता 1965, स्टडीज इन दि रिलिजस लाइफ ऑफ एन्शेन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, दिल्ली, 1971; सेलेक्ट इंशक्रिप्शंस बियरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलिजेशन,वाल्यूम 1-2, कलकत्ता 1965, दिल्ली 1983

इंशक्रिप्शंस ऑफ अशोक (5वां संस्करण) दिल्ली 2009,

भारतीय पुरालिपि विद्या (अनु. वाजपेयी के.डी.), दिल्ली 1996

सादानी, जे. के : इण्डियन कल्चर वाल्यूम 1-8, कोलकत्ता, 2008

सांकलिया एच डी. : (सम्पा) एक्सकवेशन्स एट आहाड

साहनी, डी आर . : आर्क्युलॉजिकल रिमेन्स एण्ड एक्सपेशन्स एट सांभर एक्सकवैशंस एट बैराट, जयपुर 1999

सिंह, पी.एन. : पृथ्वीराज चौहान और उनका काल नई दिल्ली 1982

सिंह, पारस नाथ : बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज द्वितीय संस्करण, नई दिल्ली 2008

सिंह, आरबी : हिस्ट्री ऑफ चाहमानाज, वाराणसी 1964

सोमानी, आरबी : जैन, इंसक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, जयपुर 1982

हाण्डा, देवेन्द्र : ओसियों हिस्ट्र आर्क्यलॉजी एण्ड आर्कीटेक्चर दिल्ली, 198

हापकिंस, ई डब्ल्यू : दि रेलिजन्स ऑफ इण्डिया बोस्टन 1895, दि ग्रेट एपिक ऑफ इण्डिया, न्यू हेवेन, 1901

हुल्स. ई. : कार्पस इंसक्रिप्पांनम् इण्डिकेर, वाल्यूम १. दिल्ली,1969

हुयनसांग का भारत भ्रमण : (इण्डियन प्रेस लि.) प्रयाग, 1928
त्रिपाठी, एल. के. : दि टेम्पल्स ऑफ बाडोली, वाराणसी, 1975
त्रिपाठी, रमाशंकर : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज
त्रिवेदी राजेन्द्र कुमार : उपनिषदकालीन समाज एवं संस्कृति, दिल्ली 1983
त्रिगुणायत, एस. के : प्राचीन राजस्थान में बैंक धर्म-एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण, कोलकत्ता 2009

शोध पत्रिकायें

इण्डियन आर्क्यलॉजी ए रिव्यू
इण्डियन एण्टीक्वेरी, दिल्ली
इण्डियन कल्वर कलकत्ता
इण्डियन न्यूमिसमेटिक क्रानिकल, पटना
इण्डियन हिस्ट्री, कलकत्ता
इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता
इतिहास दर्पण, नई दिल्ली
उत्तर भारती
एनाल्स ऑफ दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
एनुअल रिपोर्ट ऑफ दि आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया
एनुअल रिपोर्ट ऑन दि वर्किंग ऑफ दि राजपूताना म्यूजियम, अजमेर।
एपिग्रेफिया इण्डिका, दिल्ली-कलकत्ता
जर्नल ऑफ इण्डियन म्यूजियम, न्यू देहली।
जर्नल ऑफ दि इण्डियन सोसायटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट, कलकत्ता।
जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, त्रिवेन्द्रम।
जर्नल ऑफ एन्शेन्ट इण्डियन हिस्ट्री, कलकत्ता ।
जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता।
जर्नल ऑफ ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बडौदा।
जर्नल ऑफ दि ओरियण्टल रिसर्च मद्रास, मद्रास।

जर्नल ऑफ दि गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, इलाहाबाद।
जर्नल ऑफ दि न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, वाराणसी।
जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई।
जर्नल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, पटना।
जर्नल ऑफ यूपी. हिस्टारिकल सोसायटी, लखनऊ।
जर्नल ऑफ दि राजस्थान इंस्टीट्यूट ऑफ हिस्टारिकल रिसर्च, जयपुर।
जिज्ञासा, (इतिहास एवं भारतीय सांस्कृतिक विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय),जयपुर।
न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी, बम्बई।
न्यूकिलिअस, जयपुर।
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी।
प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार, लखनऊ।
पुरातत्व, नई दिल्ली।
प्रोसीडिंग्स ऑफ दि राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस।
प्रोसीडिंग्स ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस।
प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्राजिक्शंस ऑफ दि ऑल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस।
बुलेटिन ऑफ दि बडौदा म्यूजियम एण्ड पिक्चर गैलेरी।
भारतीय विद्या, बम्बई।
मज्झमिका, उदयपुर।
मरू-भारती, पिलानी
मरू-मंदाकिनी, बीकानेर
मार्ग, बम्बई।
यूनिवर्सिटी ऑफ राजस्थान स्टडीज इन हिस्ट्री राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
राजस्थान-भारती, बीकानेर।
रिसर्चर, (राजस्थान पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, जयपुर)
ललित कला, नई दिल्ली।
वरदा, बिसाऊ (राजस्थान)
विश्वम्भ्रा, बीकानेर।
वैचारिकी, बीकानेर-कोलकत्ता।

शोधक, जयपुर।
शोध-पत्रिका, उदयपुर।
संस्कृति (मानव संसाधन विकास मंत्रालय), नई दिल्ली
सुजस (सूचना एवं जन सम्पर्क निदेशालय), जयपुर।

प्लेट्स

नगरी का हाथीबाड़ा अभिलेख (ई० पू० द्वितीय–प्रथम)

बायां अर्द्ध भाग

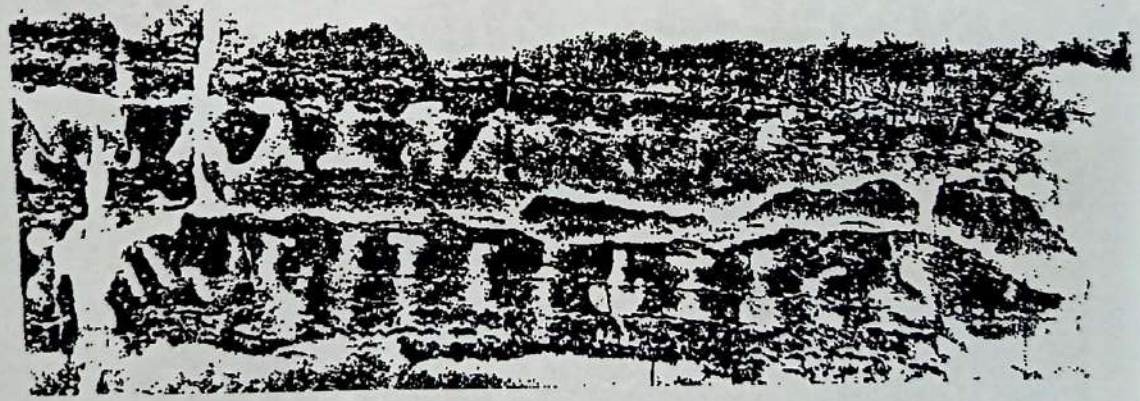

दायां भाग

बर्नाला यूप लेख कृत सं० 284

A

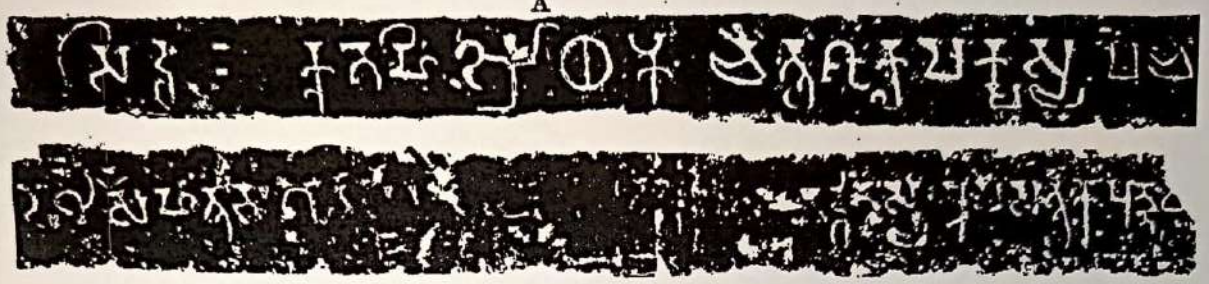

B

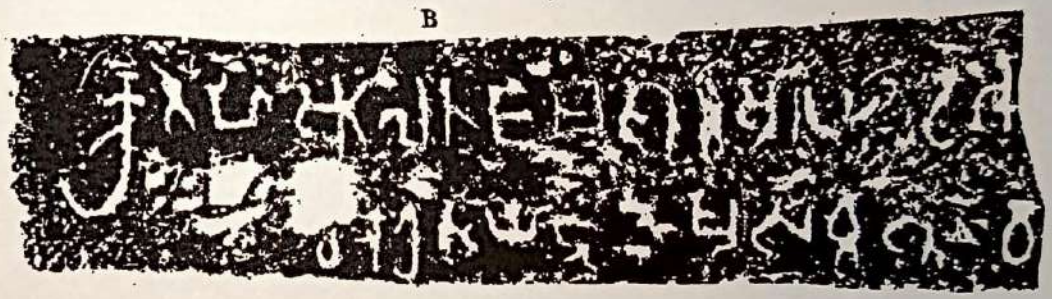

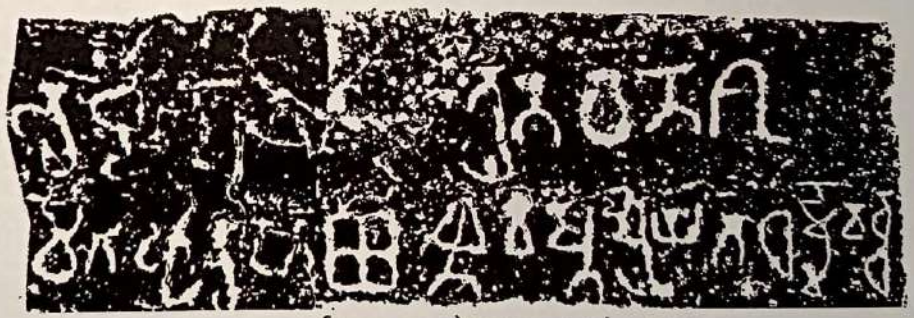

बर्नाला यूप लेख कृत सं० 335

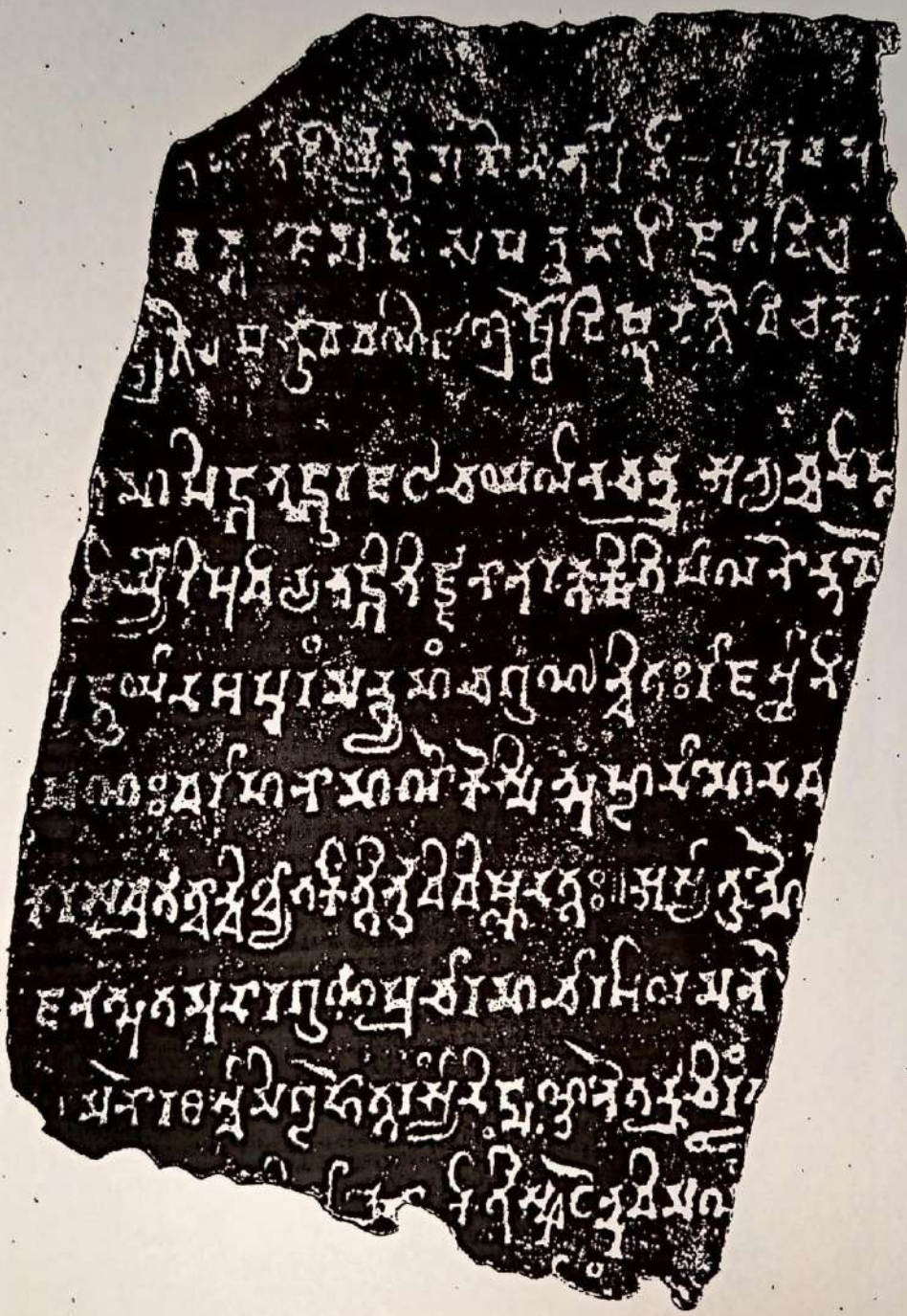

चित्तौडगढ़ का खण्ड लेख – 6वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध

छोटी सदड़ी शिलालेख – वर्ष 547

बायां अर्द्ध भाग

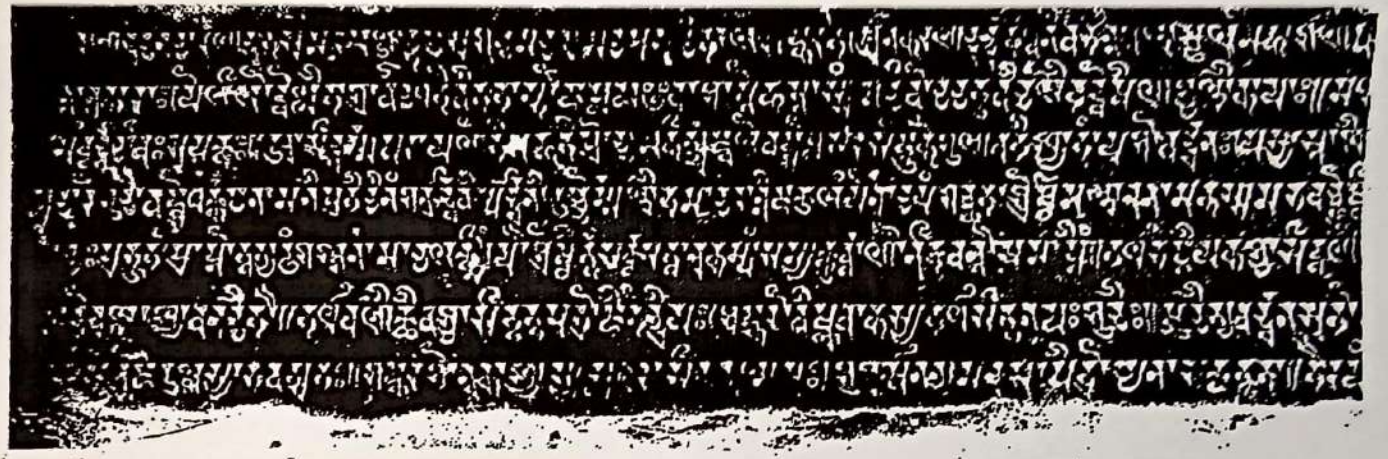

दायां अर्द्ध भाग

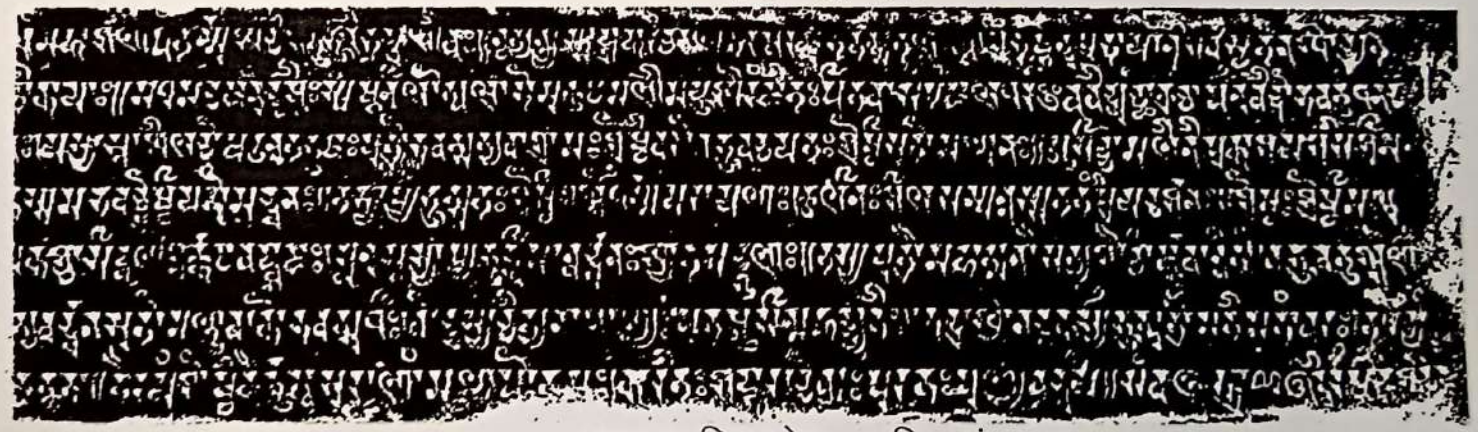

सकराइ शिलालेख – वि० सं० 699

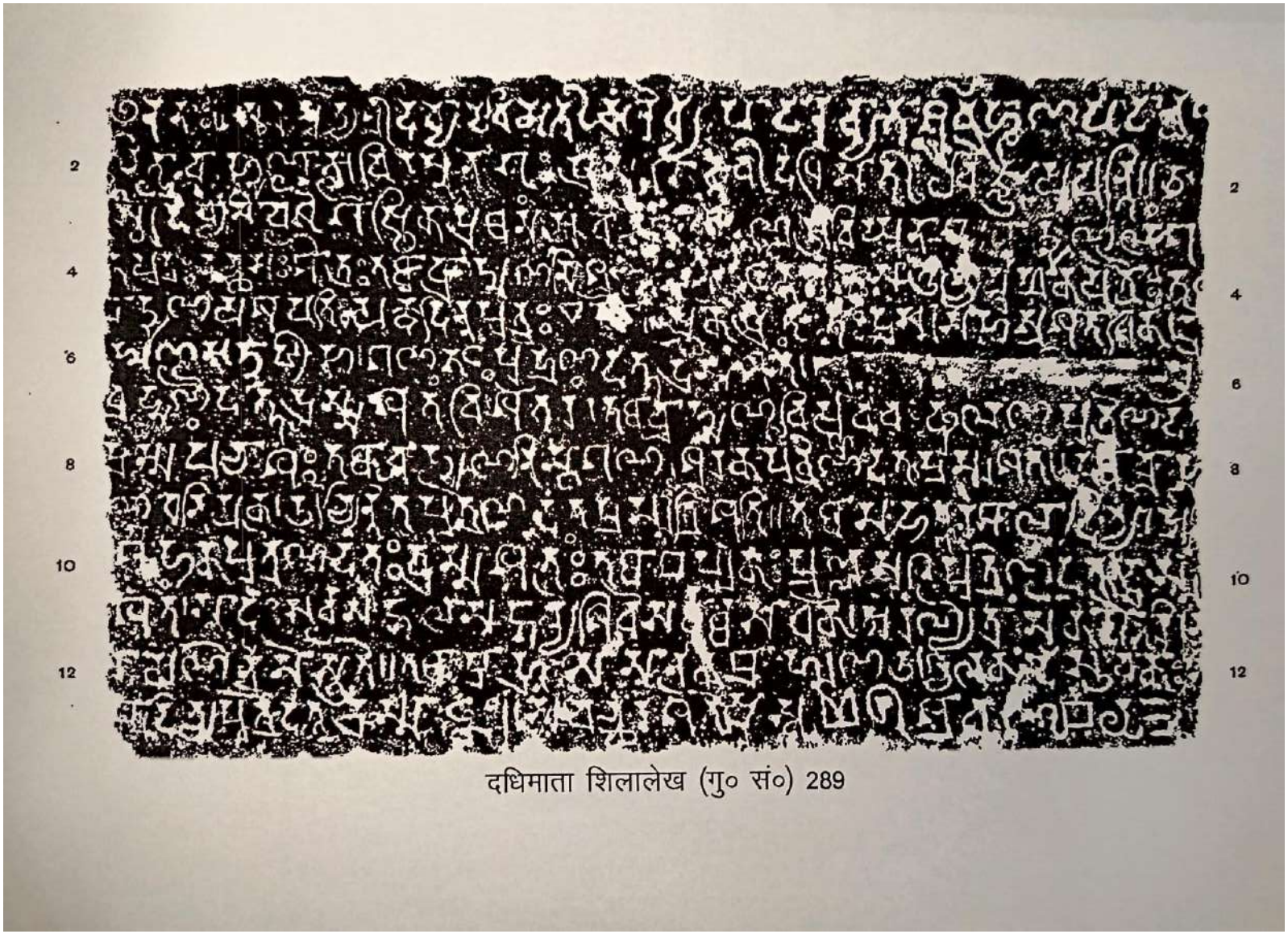

दधिमाता शिलालेख (गु० सं०) 289

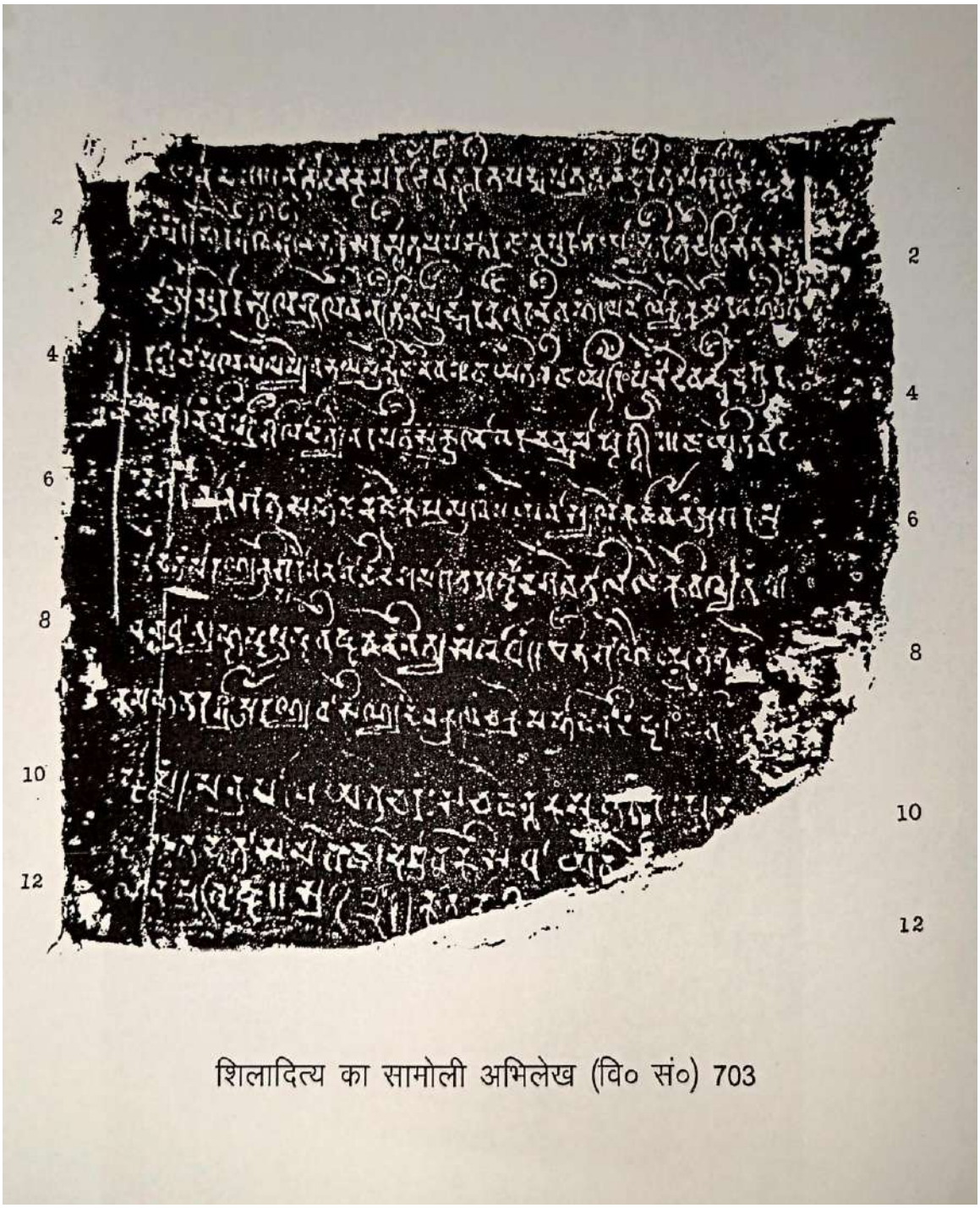

शिलादित्य का सामोली अभिलेख (वि० सं०) 703

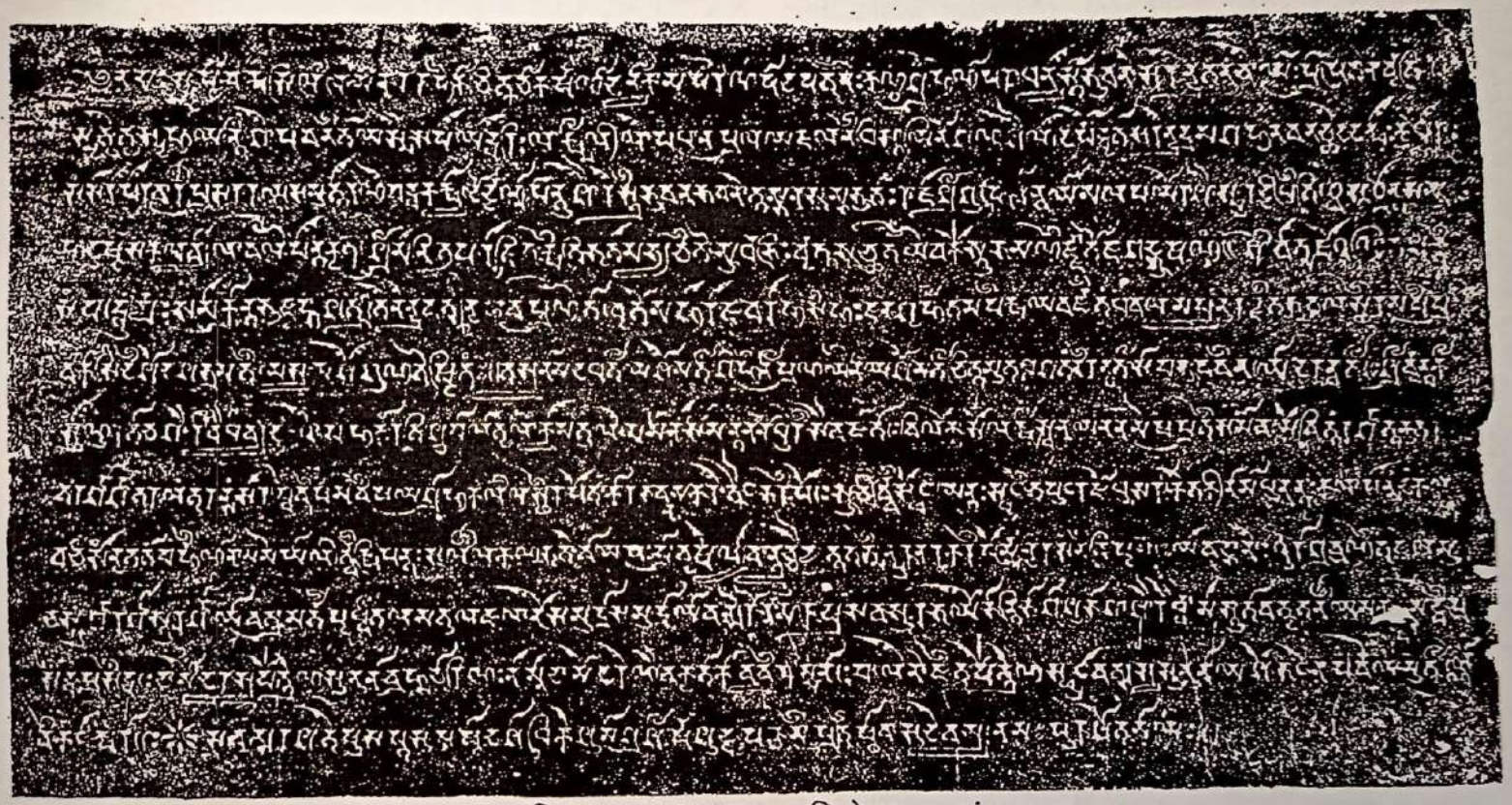

अपराजित का उदयपुर अभिलेख – सं० 718

खण्डेला अभिलेख हर्ष सं० 201

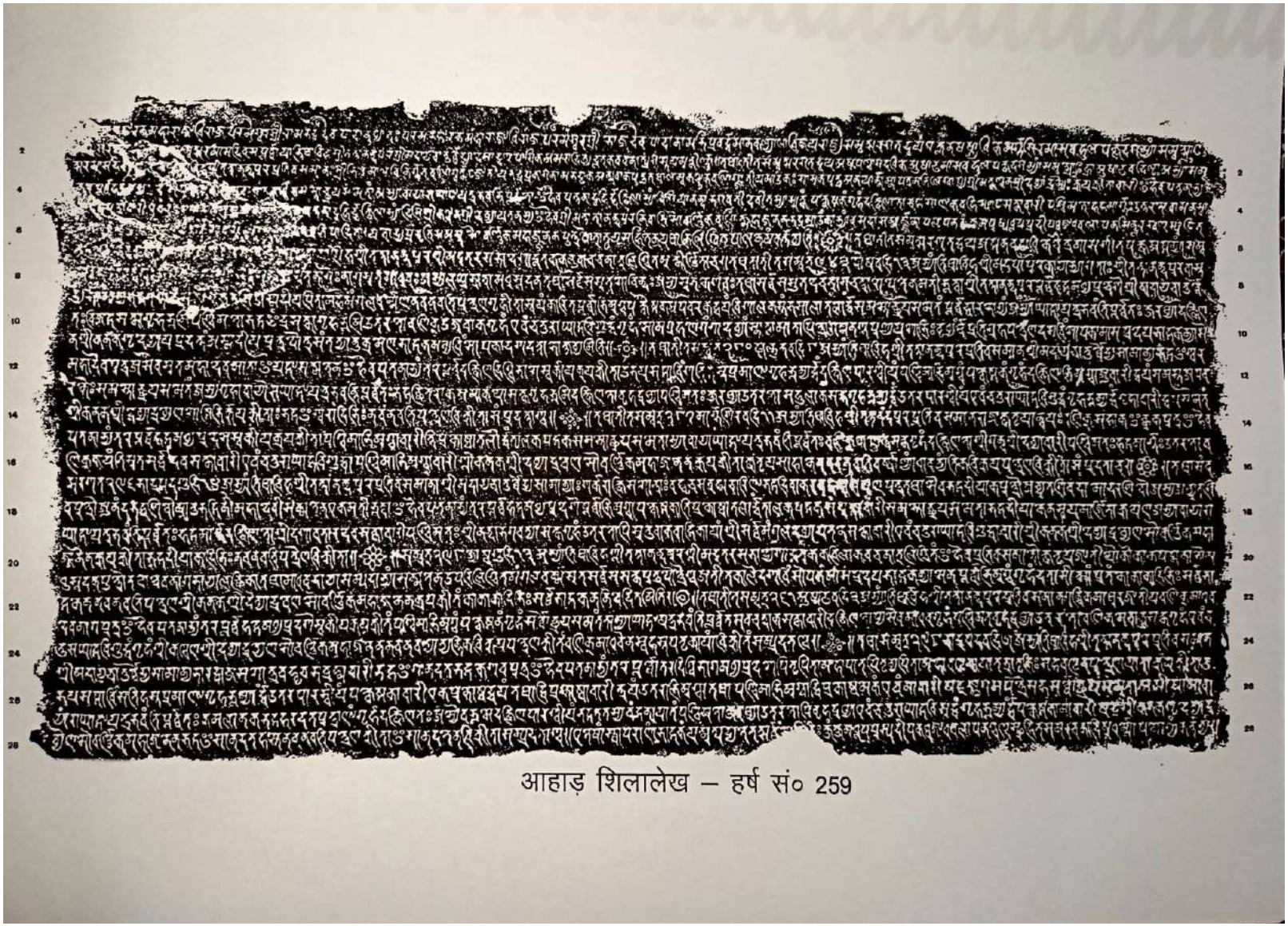

आहाड़ शिलालेख — हर्ष सं० 259

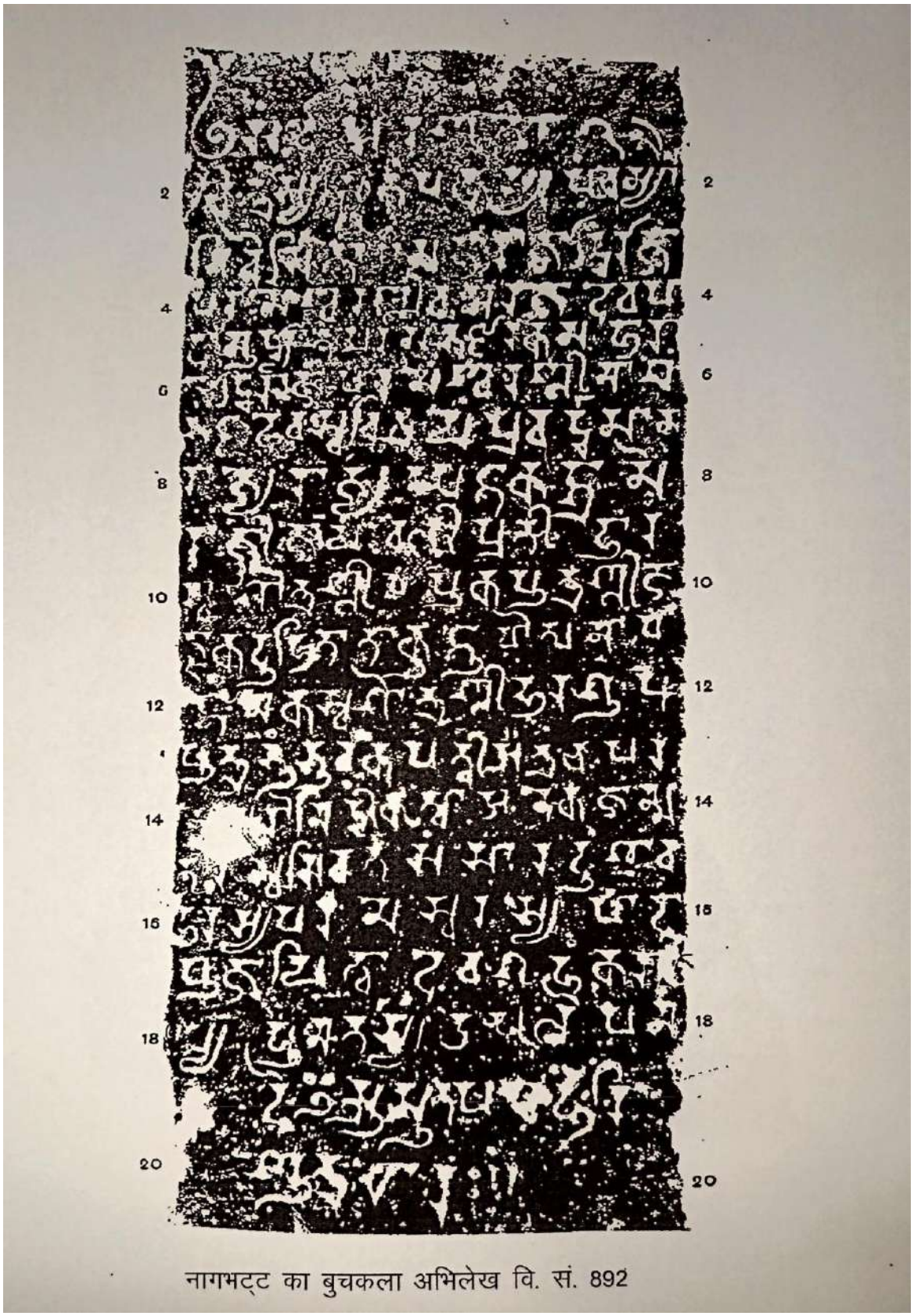

नागभट्ट का बुचकला अभिलेख वि. सं. 892

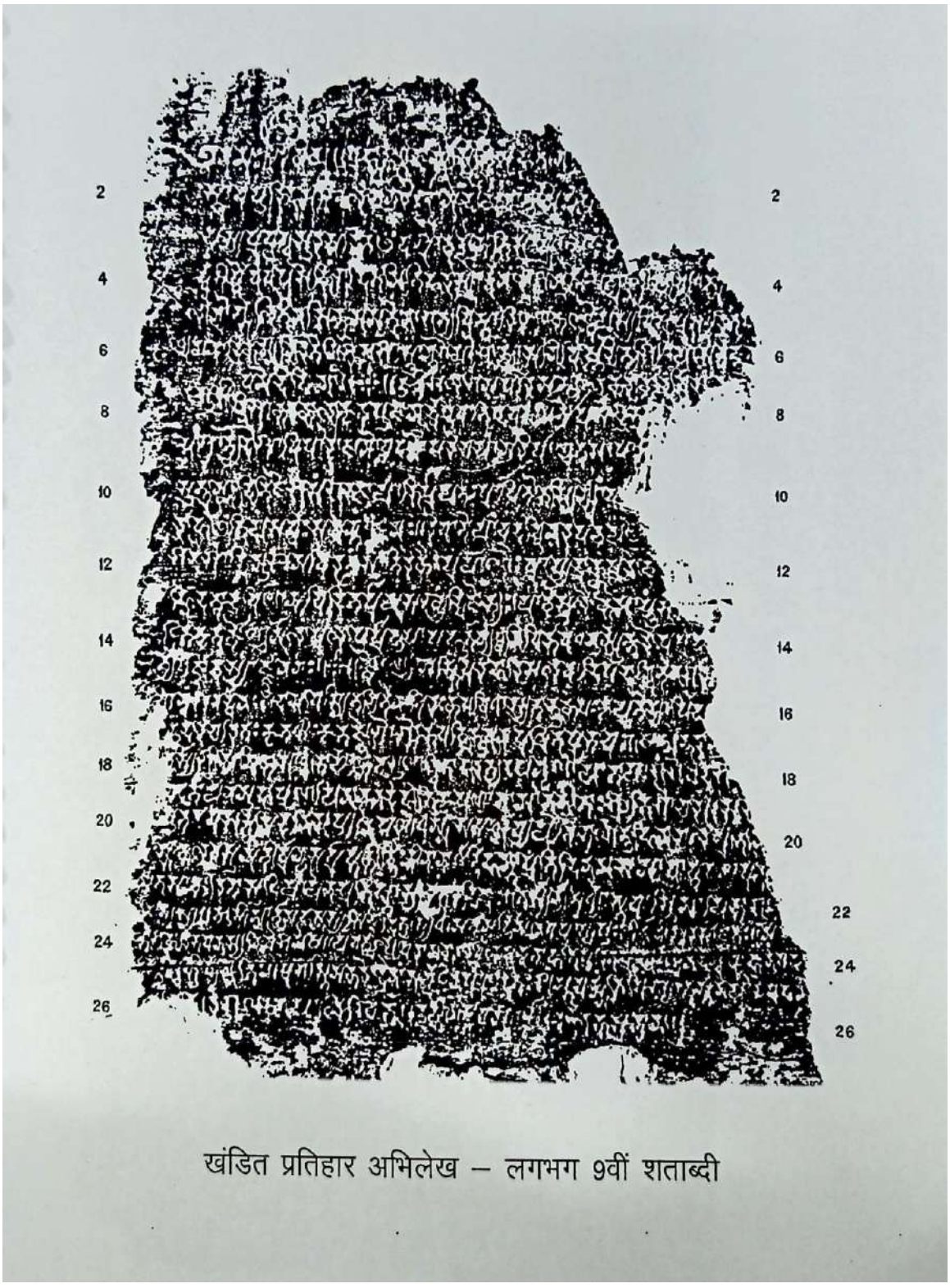

खंडित प्रतिहार अभिलेख – लगभग 9वीं शताब्दी

बालादित्य का चाट्सू अभिलेख

महेन्द्रपाल द्वितीय का प्रतापगढ़ अभिलेख– सं० 1003

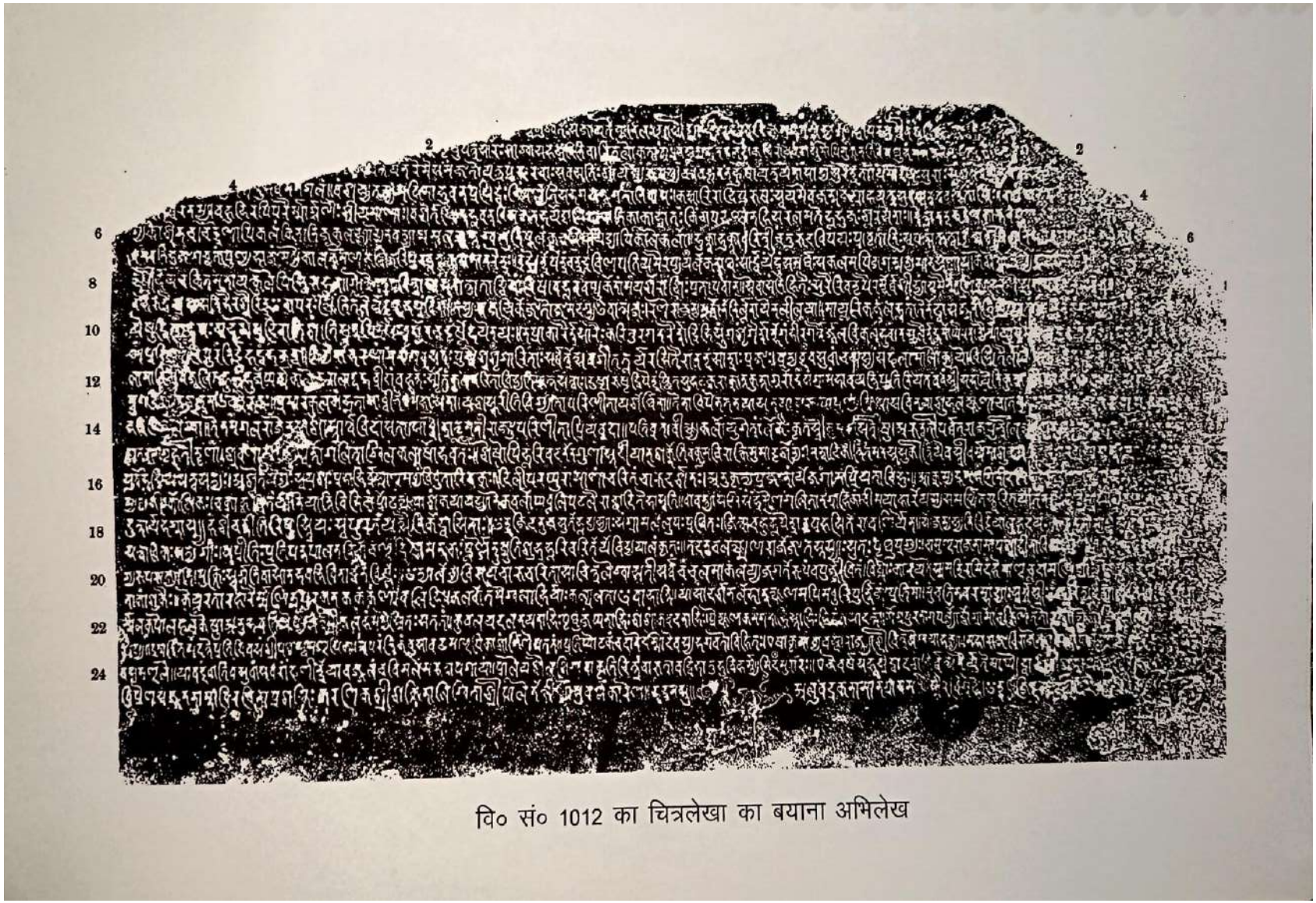

वि० सं० 1012 का चित्रलेखा का बयाना अभिलेख

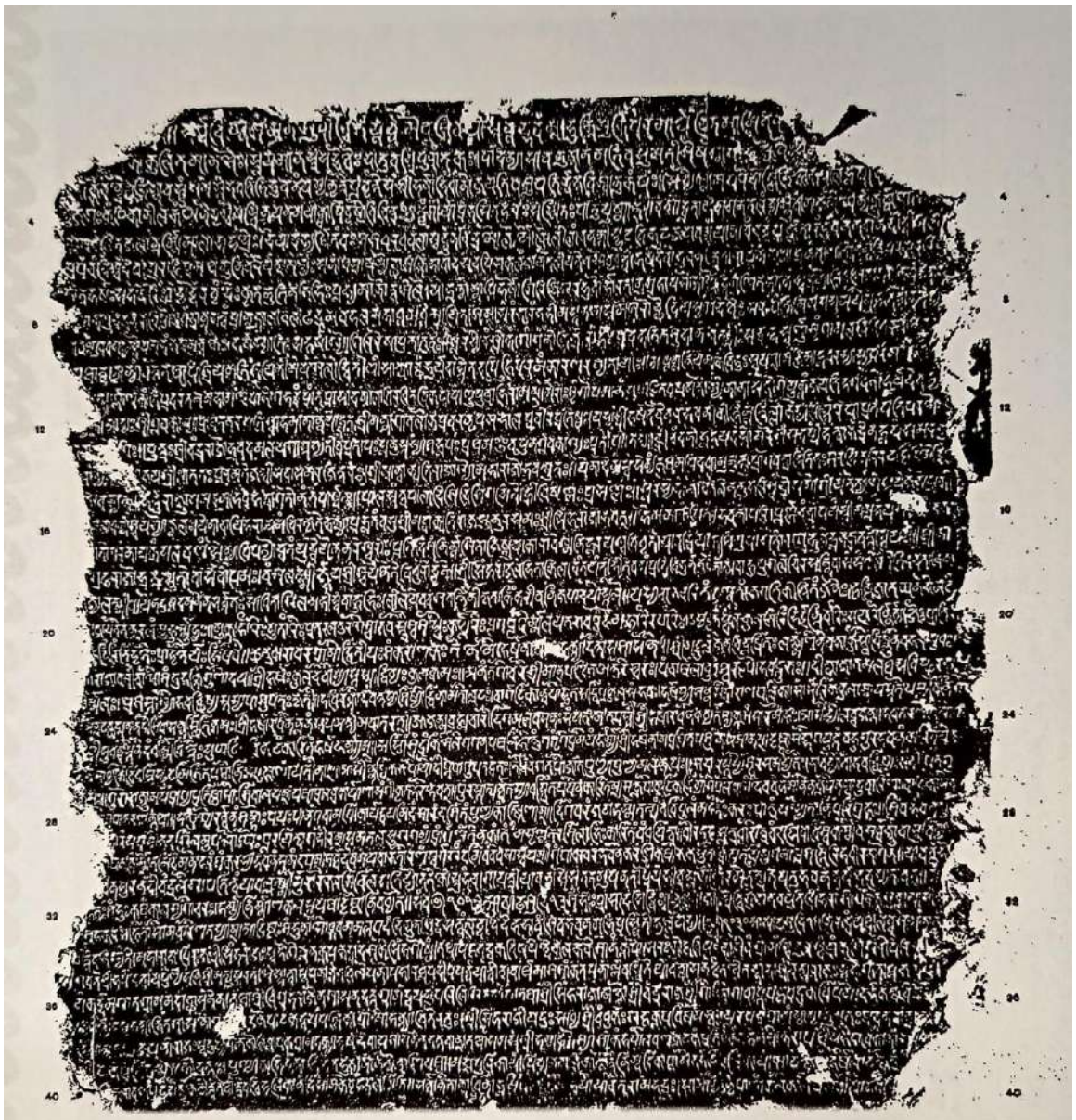

हर्ष शिलालेख – वि० सं० 1030

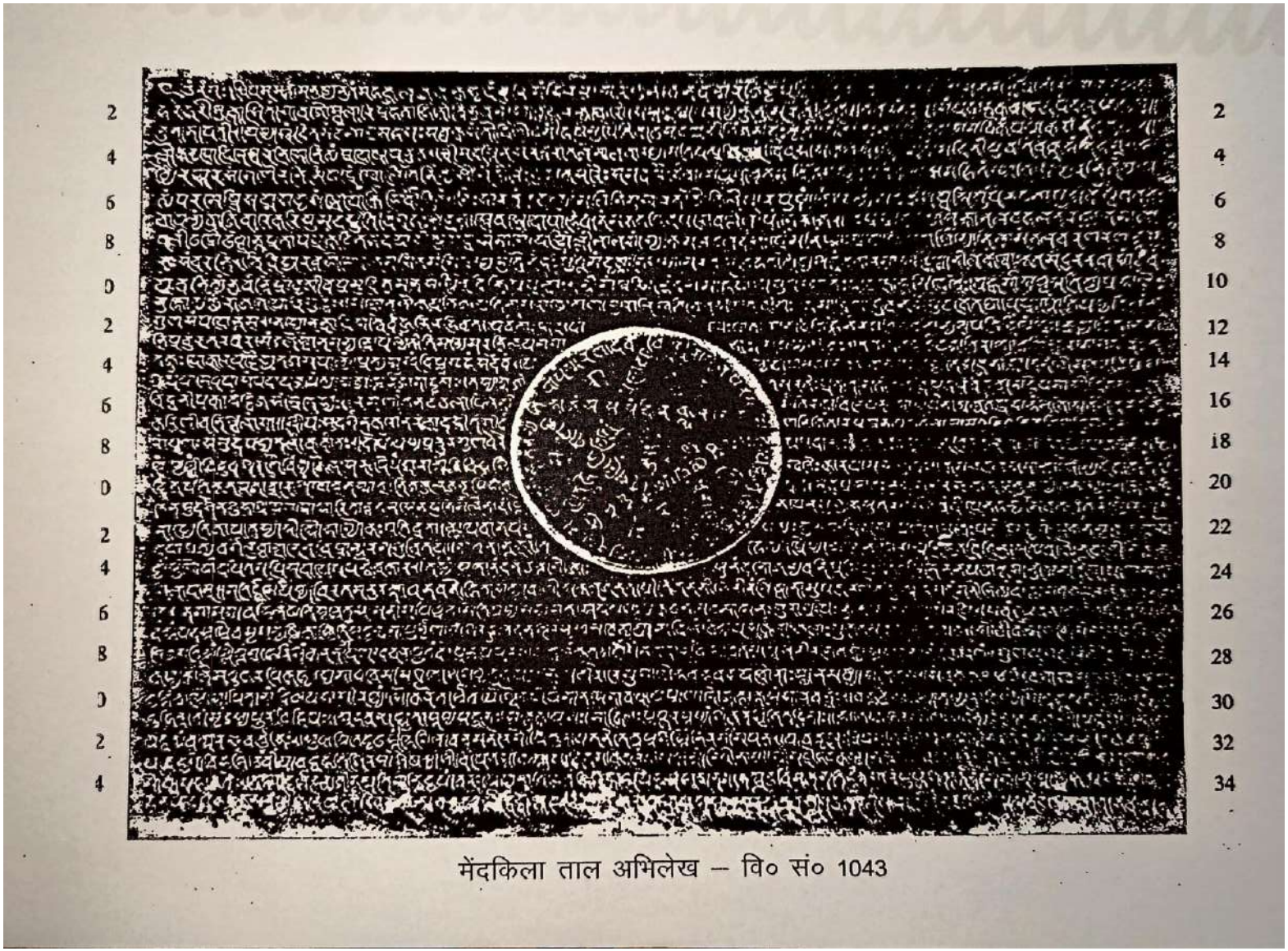

मेंदकिला ताल अभिलेख – वि० सं० 1043

शोध-पत्र,

सेमिनार में प्रकाशित संक्षिप्तसार एवं

प्रमाण-पत्र,

सेमिनार प्रमाण-पत्र

MAH/MUL/ 03051/2012 **ISSN :2319 9318**

आंतरविद्याशाखीय बहुभाषिक शोध पत्रिका

विद्यावार्ता™

July To Sep. 2024
Issue 51, Vol-02

Date of Publication
01 July 2024

Editor
Dr. Bapu g. Gholap
(M.A.Mar.& Pol.Sci.,B.Ed.Ph.D.NET.)

विद्येविना मति गेली, मतीविना नीति गेली
नीतिविना गति गेली, गतिविना वित्त गेले
वित्तविना शूद्र खचले, इतके अनर्थ एका अविद्येने केले
-महात्मा ज्योतीराव फुले

❖ **विद्यावार्ता** या आंतरविद्याशाखीय बहूभाषिक त्रैमासिकात व्यक्त झालेल्या मतांशी मालक, प्रकाशक, मुद्रक, संपादक सहमत असतीलच असे नाही. **न्यायक्षेत्र:बीड**

"Printed by: **Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.** Published by **Ghodke Archana Rajendra** & Printed & published at Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.,At.Post. Limbaganesh Dist,Beed -431122 (Maharashtra) and Editor **Dr. Gholap Bapu Ganpat**.

Reg.No.U74120 MH2013 PTC 251205
Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.
At.Post.Limbaganesh,Tq.Dist.Beed
Pin-431126 (Maharashtra) Cell:07588057695,09850203295
harshwardhanpubli@gmail.com, vidyawarta@gmail.com
All Types Educational & Reference Book Publisher & Distributors / www.vidyawarta.com

28) किरातार्जुनीयम् एवं शिशुपालवधम् महाकाव्य में धर्म और राजनीति....
मुकेश कुमार, ग्वालियर मध्य प्रदेश ||105

29) योगतत्त्वोपनिषद् में वर्णित योग की अवधारणा
डॉ. आरती शर्मा, लखनऊ ||107

30) ऊधमसिंहनगर जिले में धार्मिक विविधताएं
डॉ. विकास रंजन कुमार, सोनिया चन्द्रा, नैनीताल, (उत्तराखण्ड) ||113

31) अभिलेख — लेखन में प्रयुक्त सामग्री....
श्रीमती रेखा देवी शर्मा, डॉ. हरकेश बैरवा, कोटा (राजस्थान) ||115

32) भारत में खुली जेले— एक समीक्षा
डॉ. प्रियंका सामंत, अलवर (राज.) ||118

33) अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन
डॉ. संजय कुमार रायपुरिया, अलवर (राज.) ||121

34) वर्तमान समय में आधुनिक युग की नींव तैयार करने में बुनियादी....
मि. दिनेश कुमार, डॉ. राहुल गुप्ता, मेरठ, उत्तर प्रदेश ||125

35) भारत चीन आर्थिक संबंधों में चीन—पाक अर्थिक गलियारा (CPEC) की भूमिका
डॉ. हीरालाल गुर्जर, जयपुर ||128

36) कार्य जीवन संतुलन पर एक समाजशास्त्रीय अध्ययन....
अनुराधा कुमारी, प्रो. स्निग्धा प्रसाद, पटना ||133

37) केदारनाथ अग्रवाल कृत 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' में सामाजिक यथार्थ
शिवानी चौहान, आगरा ||142

38) मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों में चित्रित स्त्री जीवन की समस्या
रीना कुमारी, डॉ. राहुल कुमार, रामगढ़ (झारखंड) ||146

39) समकालीन हिन्दी कहानियों में आदिवासी जीवन : दशा एवं दिशा
श्वेता कुमारी, डॉ. राहुल कुमार, रामगढ़ कैंट (झारखंड) ||150

40) नई कविता पर संक्षिप्त दृष्टिपात
डॉ. वी. ममता, महबूबाबाद ||155

www.vidyawarta.com/03 — http://www.printingarea.blogspot.com

31

अभिलेख — लेखन में प्रयुक्त सामग्री
(राजस्थान के विशेष संदर्भ में)

श्रीमती रेखा देवी शर्मा
सह आचार्य संस्कृत
राजकीय कन्या महाविद्यालय गणगौरी बाजार,
जयपुर (राजस्थान)

डॉ. हरकेश बैरवा
शोध पर्यवेक्षक
आचार्य संस्कृत
राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

भारतवर्ष में अभिलेख उत्कीर्णन की परंपरा पर्याप्त प्राचीन रही है। भारतवर्ष के विविध भू भागों से अनगिनत अभिलेख उपलब्ध हुए हैं तथापि अभी भी अनेक अभिलेख भूगर्भ अथवा खण्डहरों में दबे हो सकते हैं। ये अभिलेख बहुधा शिलाओं, प्रस्तर पट्टों, भवनों या गुहाओं की दीवारों, मन्दिरों, स्तूपों, स्तम्भों, मठों, तालाबों,सरोवरों, बावडियों, कूपों तथा खेतों के मध्य स्थापित शिलाओं पर उत्कीर्ण मिलते हैं।

भारतीय इतिहास लेखन में अभिलेखों का महत्व सर्वोपरि है। अभिलेखों से इतिहास की अनेक घटनाओं की जानकारी मिलती है। प्राचीन इतिहास के लिखित साक्ष्य होने के कारण इनसे ज्ञात जानकारी को प्रामाणिक माना जाता है। अभिलेख उत्कीर्ण कराने के उद्देश्य विविध थे कुछ अभिलेख ऐसे हैं जिनमें वंशावली, ऐतिहासिक घटनाओं तथा महान शासकों की उपलब्धियों के मनोरंजक वर्णन प्राप्त होते हैं। समकालीन इतिहास के विविध पक्षों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भी अभिलेख प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। ये तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण पक्षों को उद्घाटित करते हैं।

भारत में सिन्धु घाटी के उत्खनन में प्राचीनतम अभिलेखिक प्रमाण प्राप्त हुए हैं जिन्हे पढ़ा नहीं जा सका है। मौर्य सम्राट अशोक के द्वारा धर्म आज्ञाओं को चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से स्तम्भों, चट्टानों और गुहाओं की दीवारों पर खुदवाए गए शिलालेख ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि तथा प्राकृत और पालि भाषा में प्राप्त हैं। जिनमें तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन भलीभांति प्रतिबिम्बित होता है।

राजस्थान में प्राचीनतम आभिलेखिक प्रमाण कालीबंगा से प्राप्त हुए हैं।यहां से प्राप्त कतिपय मुद्राओं पर जो लेख उत्कीर्ण हैं, उनके अक्षर हड़प्पा सभ्यता की लिपि के समान हैं। पुरालिपि शास्त्र की दृष्टि से इन लिपिबद्ध मुद्राओं का महत्व इस रूप में स्पष्ट है कि इनके आधार पर सेंधव लिपि की दिशा दाएं से बाएं निर्धारित की गई है[2] अजमेर के निकट बड़ली से प्राप्त अभिलेख को भी पर्याप्त प्राचीन (लगभग पूर्व मौर्य युगीन) माना जाता है।[3] अशोक के ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी के दो लेख बैराट से प्राप्त हुए हैं।[4] इनसे उसकी बौद्ध धर्म में रुचि रखने तथा इसे राजकीय सहयोग देने की पुष्टि होती है। बड़ली तथा बैराट से प्राप्त उपरोक्त लेख प्राकृत भाषा में हैं। इनके बाद संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण ईसा पूर्व द्वितीय — प्रथम शताब्दी का घोसुण्डी — नगरी (प्राचीन मध्यमिका) से प्राप्त लेख महत्वपूर्ण है।[5]

प्राचीन काल से ही अभिलेख लेखन हेतु मुख्यत: दो प्रकार की सामग्री का प्रयोग देखा जाता है। प्रथम — अस्थाई सामग्री थी — जो समयानुसार नष्ट हो जाती थी। इसके अंतर्गत ताड़पत्र,भोजपत्र, कपड़ा, कागज एवं काष्ठ आदि सम्मिलित हैं। अस्थाई सामग्री पर लेखनी के माध्यम से मसि (स्याही) द्वारा लिखा जाता था। द्वितीय प्रकार में — स्थाई सामग्री थी जिस पर पाषाण, ईंट, मृदभाण्ड, ताँबा, कांसा एवं लोहा आदि को प्रयोग में लिया गया था। इस सामग्री पर अक्षर अंकन हेतु छैनी हथौड़े आदि का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन राजस्थान में विशेष रुप से द्वितीय प्रकार की सामग्री को उपयोग में लिया गया है। लेखन सामग्री का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है— ताड़पत्र —[6]

ताड़ (ताल — ताली) वृक्ष दक्षिण भारत में

समुद्रतटीय प्रदेशों में बहुतायत से और राजपूताना तथा मद्र प्रदेश (पंजाब) में विरल रूप से पाए जाते हैं। टिकाऊ तथा सस्ते होने के कारण ये प्राचीन काल से ही लिखने में प्रयुक्त होते रहे हैं। कश्मीर एवं मद्र प्रदेश को छोड़कर संपूर्ण देश में इसका पर्याप्त प्रचार था। पत्ते को पहले सुखाया जाता था फिर उसे गर्म पानी में कुछ समय तक रखकर पुन: सुखाया जाता था। पत्ते के दोनों भागों पर प्रस्तर अथवा कौड़ी की मदद से हल्के से घिसते थे। तत्पश्चात लेखनी द्वारा स्याही से लिखा जाता था। प्रतिहार नरेश (८९० ई. से ९१० ईसवी) महेंद्र पाल और उसके पुत्र महीपाल (९१० ईस्वी से ९४८ ईस्वी) के राजकवि राजशेखर ने अपनी कृति काव्यमीमांसा में भी ताड़ पत्र पर लेखनी और स्याही के द्वारा लिखे जाने का उल्लेख किया है।

भोजपत्र —

प्राचीन भारत में ग्रंथों एवं लंबे दस्तावेजों के लेखन के लिए सामान्यत: भोजपत्र का उपयोग व्यापक रूप से किया जाता था। भोजपत्र भुर्ज नामक वृक्ष की भीतरी छाल को कहा जाता है। जो हिमालय में बहुत संख्या से प्राप्त होती है। सिकंदर के साथ आए इतिहासकार कर्टियस ने लिखा है कि भारतीय लिखने के लिए भोजपत्र का प्रयोग करते हैं। इसके विपरीत नियार्कस सूती कपड़ों पर पत्र लिखने का उल्लेख करता है।[६] अलबरूनी[७] ने लिखा है कि मध्य और उत्तर भारत के लोग तूज वृक्ष की छाल पर लिखते हैं। उनके प्राय १ गज लंबे एवं एक बालिश्त चौड़े पत्ते बना लेते हैं और उन्हें भिन्न –भिन्न प्रकार से तैयार करते हैं। उनको मजबूत और चिकना बनाने के लिए उन पर तेल लगाते हैं और उसे घोंटते हैं। तत्पश्चात उन पर लेखन कार्य करते हैं। मुगलकाल में लिखने के लिए जब कागज का उपयोग होने लगा तब से कश्मीर में भुर्ज पत्र तैयार करने की कला लुप्त हो गई। सबसे पहले भोजपत्र का प्रयोग उत्तर पश्चिम भारत में प्रारंभ हुआ किंतु शीघ्र ही संपूर्ण भारतवर्ष में भी इसका उपयोग होने लगा।

कागज —

ऐसी मान्यता है कि कागज का आविष्कार सर्वप्रथम १०५ ईस्वी में चीन में हुआ[८] और भारत में इसका चलन मुसलमान शासकों द्वारा किया गया। नियार्कस जो सिकंदर के द्वारा भारत पर आक्रमण करने के समय उसके साथ था, लिखता है कि भारत के लोग रुई को कूटकर लिखने के लिए कागज बनाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में भारतीय लोग कागज से परिचित थे। सस्ता एवं सुलभ नहीं होने के कारण कागज के स्थान पर यहां भोजपत्र या ताड़पत्र का व्यापक प्रयोग होता था। राजेंद्र लाल मिश्र के अनुसार परमार शासक के उल्लेख से प्रमाणित होता है कि मालवा में ११ वीं शताब्दी ईस्वी में लेखन के लिए कागज का उपयोग होता था।[९] भारत में कागज पर लिखी हुई प्राचीनतम पांडुलिपि १२२३ — १२२४ ईस्वी की गुजरात से प्राप्त हुई है। इससे अधिक प्राचीन कोई अन्य हस्तलिखित पुस्तक प्राप्त नहीं हुई है।[१०] इसका कारण संभवत: यह था कि यहां की जलवायु में कागज लंबे समय तक सुरक्षित नहीं रह सकता था।

कपड़ा —

रुइ या कपास का कपड़ा जिसको पट कहा जाता है प्राचीन काल से ही लिखने के काम आता रहा है।[११] कपड़े को निश्चित आकार में काट कर उस पर चावल अथवा आटे का माड़ लगाकर तथा कौड़ी से घिसने के बाद लिखने के लिए प्रयोग में लिया जाता था।ऊपर नियार्कस का उल्लेख किया जा चुका है, जिसने कपड़े पर लिखने का उल्लेख किया है। हुई–ली द्वारा रचित लाइफ ऑफ ह्वेनसांग में उल्लिखित किया है कि हर्ष ने श्वेत वस्त्र पर कुछ लिखवा कर उसे लाल चपड़े से मुहर बंद किया और वह कपड़ा चीनी यात्री के आधिकारिक महत्तर (मार्गदर्शक) को प्रदान किया ताकि वे जिन देशों में होकर जाएंगे वहां के अधिकारियों को उक्त राजाज्ञा दिखला सकें।[१२] जैसलमेर के बृहद ज्ञानकोष में ब्यूलर को रेशम की पट्टी पर लिखी जैन सूत्रों की एक सूची प्राप्त हुई थी जिस पर स्याही से लिखा गया था।[१३]

काष्ठ —

भारत में लकड़ी की पट्टी पर लिखने की परंपरा पर्याप्त प्राचीन है। वर्तमान में भी कुछ वर्ष पूर्व तक प्राथमिक शिक्षा के विद्यार्थी लकड़ी की पट्टी पर लेखनकला का अभ्यास करते थे। विद्यालय में आज भी लकड़ी के बोर्ड पर लिखा जाता है।लकड़ी की

बनी हुई पतली पाटी (फलक) पर भी प्राचीन काल में विद्यार्थी लिखते थे। जातक कथाओं में विद्यार्थियों के फलक का उल्लेख मिलता है। राजस्थान के ज्योतिषी एवं व्यापारी कच्चे काष्ठ की ऐसी ही स्लेटों पर लिखते थे।[१४] इन स्लेटों का व्यवहार भारत के अन्य भागों में भी हाल तक होता रहा है।

पाषाण —

लेखों को स्थाई रखने के लिए पाषाण पर उन्हें उत्कीर्ण किया गया।अशोक ने वृहद स्तर पर लेखों को शिलाओं पर उत्कीर्ण करवाया। अपने द्वितीय स्तम्भ लेख में वह कहता है कि मेरे द्वारा इस प्रयोजन के लिए यह धर्मलिपि लिखवायी गई कि लोग अनुसरण करें (और) यह चिरस्थायी हो।[१५] स्थाई विवरणों के लेखन के लिए प्रस्तर का प्रयोग वर्तमान में भी प्रचलित है। प्रस्तर पर शब्दों को खोदने या अंकित करने से पूर्व एक विशेष शिला, प्रस्तरपट्ट या खंड चुना जाता था। उसे टांकी से छीलकर एवं पत्थर से घिसकर चिकना कर लिया जाता था। जिस आशय का लेख लिखना होता उसकी रचना कोई कवि, विद्वान या राजकीय अधिकारी या अन्य पुरुष करता। पहले पत्थर पर सीधी रेखाएं खींची जाती फिर सुलेखक लिपिकार उन पर स्याही या रंग से लिखता और अंत में शिल्पी (सूत्रधार — उत्कीर्णक) अक्षरों को खोदकर अंकित कर देता। लेखक बहुधा ब्राह्मण, कायस्थ, जैन साधु या सूत्रधार (सिलावट) लोग होते थे। लेख के अंत में अथवा एक विषय की समाप्ति पर कमल पुष्प, वृत्त या कोई अन्य चिह्न भी उत्कीर्ण किया जाता था राजस्थान से मिले अनेक अभिलेखों में भी इस प्रकार के चिह्न प्राप्त हुए हैं। उदाहरणार्थ संवत् ८९४ की बाउक के अभिलेख में संवत् के पूर्व कमल उत्कीर्ण है[१६], सं. १०३० के हर्षनाथ शिलालेख की ३३वीं पंक्ति में विषय की समाप्ति पर पुष्प उत्कीर्ण है।[१७] सं .१००३ के महेन्द्रपाल (द्वितीय) के प्रतापगढ़ शिलालेख की ३० वीं पंक्तियों में वृत (०) बने हुए हैं[१८] इसी प्रकार सं. १०९९ की लाणबावड़ी प्रशस्ति[१९] के अंत में तथा ऊपर दो स्थानों पर भिन्न— भिन्न प्रकार के चिन्ह बने हुए हैं। बहुधा शिलालेखों के प्रारंभ में और कभी अंत में कोई मंगल सूचक सांकेतिक चिन्ह यथा —स्वास्तिक, चक्र, त्रिशूल एवं ओम् का सांकेतिक चिन्ह,कोई शब्द यथा — सिद्धम्, स्वस्ति, ओम, स्वस्ति श्री आदि) या किसी देवता के प्रणाम सूचक शब्द यथा — ओम् नमः शिवाय, ओम नमः विष्णवे, ओम् नमो वीतरागाय आदि मिलते हैं।

ताम्रपट्टिका —

अभिलेख लेखन हेतु धातुओं में सोना, चांदी, तांबा, कांसा, लोहा, जस्ते आदि का प्रयोग भी किया जाता था।भारत में ताम्रपत्र अधिकता से पाए जाते हैं। ताम्रपत्र तांबा धातु का पत्तर है। ताँबे को पीटकर उसे बहुत पतला बनाकर उसे लिखने के लिए प्रयुक्त किया जाता था स ताम्रपत्र पर लेख स्याही से लिखकर कीलनुमा यंत्र से खोदे जाते थे कभी उस पट्ट पर खुरचकर अक्षर अंकित किए जाते थे। प्रायः राजा या ठिकाने के सामंतों द्वारा ताम्रपत्र दिए जाते थे। पुरस्कार, दान—पुण्य, जागीर आदि अन्य दानों, अनुदानों को ताम्रपत्र पर खुदवाकर अनुदान प्राप्तकर्ता को दे दिया जाता था। जिसे वह संभाल कर पीढ़ी दर पीढ़ी रख सकता था। ताम्रपत्र में पूर्व में संस्कृत भाषा का प्रयोग किया गया किंतु बाद में स्थानीय भाषा का प्रयोग किया जाने लगा। दानपत्र में राजा या दाता का नाम, अनुदान पानेवाले का नाम, देने का कारण, दी गई भूमि का विवरण, अवसर एवं समय, मंगलमय तथा शापयुक्त पद जिससे दानकर्ता के उत्तराधिकारी शाप ६ पाप के भय से उस दान भूमि को वापिस नहीं लें, इसलिए अनेक धर्म श्लोक अन्त में उद्धृत किए जाते थे। यद्यपि प्रस्तर के बाद धातु की वस्तुओं का प्रयोग लेखांकन के लिए हुआ था। किंतु यह परिपाटी अत्यंत प्राचीन नहीं है। ई. सन् के बाद ही ताम्रपट्ट का प्रयोग होने लगा। सहगौरा का ताम्रपत्र (मौर्यकालीन) इसका अपवाद है। शक — कुषाण युग से पट्टिका का प्रयोग तक्षशिला के लेख (२१ ईसवी) कलवान (७७ ईसवी) तथा स्यूत विहार लेख (८९ ईस्वी) के निमित्त पाए जाते हैं। धनैदह ताम्रपत्र (राजशाही — बंगाल) पूर्वी भारत का सर्वप्रथम ताम्रपत्र कहा जा सकता है। राजस्थान में संवत् ८७२ का बधाल (जयपुर — फुलेरा) एवं संवत् ९०० का दौलतपुर डीडवाना ताम्रपत्र प्राप्त होते है।

अभिलेख लेखन हेतु ताड़पत्र, ताम्रपत्र, भोजपत्र,

कागज, कपड़ा, एवं पाषाण का प्रयोग किया जाता था। सहज सुलभता एवं दीर्घकालिकता के कारण पाषाण का प्रयोग राजस्थान में सर्वाधिक हुआ है।

संदर्भ —

१. लाल, बी.बी, इंडियन आर्कियोलॉजी सिंस इंडिपेंडेंस, पृ. १८

२. पांडेय, राजबली, भारतीय पुरालिपि, पृ. १६७

३. भट्ट, जनार्दन, अशोक के धर्म लेख, पृ. १०८ एवं ११३

४ भण्डारकर, डी. आर,. एपिग्रैफिया इंडिका वॉल्यूम २२, पृ. १९८ — २०५

५. सोमानी,आर. वी . जैन इन्स्क्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, परिशिष्ट १, अभिलेख संख्या २

६. ओझा, जी.एच. भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ. १४२ — १४३

७. वाजपेयी, के. डी., अग्रवाल, के. एल, वाजपेयी, संतोष, ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख, पृ१९

८. संतराम (अनु.) अलबेरूनी वर्णित भारत, प्रथम खंड, पृ. ११९

९. सरकार, डी. सी.,भारतीय पुरालिपि विद्या, पृ. ६९

१०. वाजपेयी, के. डी. अग्रवाल, के .के . एवं वाजपेयी, संतोष, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. २०

११. वही

१२. पांडेय, राजबली, भारतीय पुरालिपि, पृ. ६५

१३. उद्धृत सरकार, डी. सी. पूर्व निर्दिष्ट, पृ. ६८

१४. ब्यूलर, भारतीय पुरालिपि शास्त्र, पृ. १९१ — १९२

१५. ओझा,जी. एच., भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ. १४६

१६. भट्ट, जनार्दन,अशोक के धर्म लेख, पृ. ८०

१७. ओझा, जी. एच., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. १४९, टिप्पणी ७

१८. वही, पृ. १४९ टिप्पणी ८

१९. वही, टिप्पणी ९

32

भारत में खुली जेले :— एक समीक्षा

डॉ. प्रियंका सामंत

सहायक आचार्य,

राजकीय स्नातकोत्तर विधि महाविद्यालय, अलवर (राज.)

****

उपचारात्मक दण्ड प्रणाली के अन्तर्गत कारावासी के पुनर्वास की प्रक्रिया के रूप में पैरोल व्यवस्था सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हुई है। कारावासियों के लिए खुले शिविर (Open Jail) पैरोल का ही एक विस्तृत रूप है जिनका प्रारम्भ बीसवीं शताब्दी के मध्य से हुआ है।

सामान्यतया कारागार व्यवस्था के दो मुख्य उद्देश्य होते है—

१. समाज से अपराधियों को पश्थक रखना।

२. अपराधी को समाज में पुर्नस्थापित करने हेतु उन परिस्थितियों का निवारण करना जिनके कारण उसने अपराध कृत्य किया था।

खुले जेल की परिभाषा —

खुले जेल की निश्चित परिभाषा के बारे में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान इन्हें कारावासियों के खुले शिविर (Open AIR Campus) कहना अधिक उचित समझते है, जबकि अन्य के विचार में इन्हें पैरोल कैम्प कहा जाना उचित है।

सन् १९५५ में जिनेवा में अपराध निवारण तथा अपराधियों के उपचार पर अधिवेशन (Congress on prevention of crime & treatment of offenders १९५५) में खुली जेल को परिभाषित करने का प्रयास किया गया था। यह परिभाषा इस प्रकार है—

''कारावासियों के लिए खुले जेल का प्रमुख लक्षण उन पर भौतिकी और शारीरिक बंधन की न्यूनता है जो उनके जेल से भाग जाने के विरूद्ध अपनाए जाते हैं। अत: ये ऐसी निगरानी रहित संस्थाए है जिनमें दीवार, ताले, लोहे के सींकचे तथा सुरक्षा

आंतरराष्ट्रीय बहुभाषिक शोध पत्रिका

प्रिंटिंग एरिया

Printing Area International Interdisciplinary Research Journal in Marathi, Hindi & English Languages

January 2024, Issue-109, Vol-01

Editor

Dr. Bapu g. Gholap

(M.A.Mar.& Pol.Sci.,B.Ed.Ph.D.NET.)

"Printed by: **Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.** Published by **Ghodke Archana Rajendra** & Printed & published at Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.,At.Post. Limbaganesh Dist,Beed -431122 (Maharashtra) and Editor **Dr. Gholap Bapu Ganpat.**

Reg.No.U74120 MH2013 PTC 251205

Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.

At.Post.Limbaganesh,Tq.Dist.Beed

Pin-431126 (Maharashtra) Cell:07588057695,09850203295

harshwardhanpubli@gmail.com, vidyawarta@gmail.com

All Types Educational & Reference Book Publisher & Distributors / www.vidyawarta.com

26) भारत में महिला शिक्षा
डॉ. शिशिर कुमार पाण्डेय, देवरिया ||109

27) महिलाओं के सशक्तिकरण में पंचायती राज की भूमिका
शाही शिवानी, डॉ. मनोरंजन कुमार भारती, रामगढ़, झारखण्ड ||114

28) भारत में गठबंधन सरकारों की राजनीति
डॉ. विनय सिंह यादव, बहरोड़ ||122

29) सितार वादन करने हेतु तकनीक का महत्व–एक अध्ययन
डॉ. अमनदीप कौर ||128

30) राजस्थान राज्य के राजकीय विद्यालयों में सतत् एवं व्यापक मूल्याँकन....
हर्ष कुमार, डॉ. सुरेन्द्र कुमार सहारण, संगरिया ||134

31) जलवायु परिवर्तन –विश्व के समक्ष चुनौती एक विश्लेषणात्मक अध्यन
सुश्री रंजीतस कमलेश, मंडलस मध्य प्रदेश ||137

32) पालि वांड्मय में प्रतिविम्बित समाज
संजीव कुमार सिंह, प्रो. मिथिलेश कुमार तिवारी, सिद्धार्थ नगर ||140

33) राजस्थान से प्राप्त यूपलेख
–श्रीमती रेखा देवी शर्मा, डॉ. हरकेश बैरवा आचार्य, कोटा (राजस्थान) ||142

34) पर्यावरण चिन्तन और हिंदी कविता
डॉ. बी.एल. आर्य, भीलवाड़ा (राज.) ||146

35) किशोरियों के सांवेगिक बुद्धि एवं स्वस्ति बोध के मध्य सहसम्बन्धता का अध्ययन
विवेक आर्या, प्रो. अनीता जोशी, चम्पावत, उत्तराखण्ड ||148

36) आदिवासी संस्कृति और प्रकृति
डॉ. अमित कुमार भारती, खलीलाबाद–संत कबीर नगर (उ.प्र.) ||151

37) सिद्ध एवं नाथ साहित्य की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन
डॉ. धनंजय कुमार, दिल्ली ||155

38) उत्तर प्रदेश के बुन्देलखण्ड का सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विकास
डॉ. पंकज द्विवेदी, आशुतोष तिवारी, बांदा ||159

http://www.printingarea.blogspot.com
www.vidyawarta.com/03

होता है कि एक समय या परिस्थिति विशेष पर दासों को दासत्व से मुक्ति भी मिल जाती थी जैसे दास द्वारा संन्यास ग्रहण कर लेने पर अथवा अपने स्वामी की सहमति होने पर अथवा अपने स्वामी की मुक्ति शुल्क चुका देने पर दासता का अन्य हा जाता था दीघ विकाय में कहा गया है कि यदि कोइ दास संन्यासी हो जाता है तो वह अभिवादन और उच्चासन तथा भिक्षु जीवन के लिए आवश्य वस्तुओं चीवर, पिण्डपात्र आसन आदि का अधिकारी माना जायेगा।

सन्दर्भ :—

१. ऋग्वेद १०/९०—९२
२. छान्दोग्योपनिषद्
३. सुत्तनियात—२१,३४
४. विनय पिटक महावग्ग
५. दीघ निकाय
६. चुल्ल वग्ग्
७. जातक १ पृ० ४५३, ४८४, ३८३,
८. जातक संख्या—५३२

❑❑❑

33

राजस्थान से प्राप्त यूपलेख

श्रीमती रेखा देवी शर्मा
(शोधार्थी)

डॉ. हरकेश बैरवा आचार्य
शोध — पर्यवेक्षक
कोटा विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

****

भारतीय जनमानस धर्म से अनुप्राणित रहा है। प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धा एवं आस्था रही है। वैदिकीय धर्म प्रकृति में देवत्व का आरोपण करता रहा है यही कारण है कि प्रकृति के विविध उपादान यथा — पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश (पंचमहाभूत) आदि की देव रूप में आराधना की जाती रही है। वैदिक पुरुष ने अपने जीवन में जिसको भी उपादेय देखा उसी के प्रति कृतज्ञता से नत हुआ उसका मन ऋणी एवं दास हो गया। उसकी इस आस्तिक भावना के परिणामस्वरूप प्राकृतिक उपादानों के दातव्य भाव ने उसके मन में देव भाव की उत्पत्ति की और धीरे —धीरे दैव संस्कृति का विकास हुआ फलस्वरूप वेदों में विविध सूक्तों यथा —पृथ्वी, इन्द्र, अग्नि, रुद्र, मरुत, वरुण, उषस, सविता, पर्जन्य आदि के द्वारा अपनी आस्था और आराधना को व्यक्त किया।अपने और आनेवाली पीढ़ी के कल्याण की भावना से विविध यज्ञादि विधानों से उनकी आराधना करने लगा। कालांतर में वैदिकीय आचार—विचार के विरोध में बौद्ध और जैन धर्म के उदय से वैदिक धर्म को काफी क्षति हुयी जिसका परिणाम हुआ कि वैदिक धार्मिक कृत्यों को अंधविश्वास और आडम्बर के रूप में देखा जाने लगा। वैदिक धर्म के क्षय काल में शुंग वंश के संस्थापक सेनापति पुष्यमित्र के नेतृत्व में भारत में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ। बड़ी संख्या में यज्ञ किए जाने लगे। यज्ञों के साथ —साथ

उस समय यूप स्थापित करने का प्रचलन हुआ। यूप से अभिप्राय है — यज्ञ स्तम्भ। धार्मिक ग्रन्थों में उल्लेख है कि यूप लकड़ी से बनाए जाने चाहिए। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यज्ञोपरान्त यूप की भी बलि दे देनी चाहिए। सम्भवत: प्राचीन काल में इसी कारण काष्ठ यूप नहीं मिलते। पाषाण यूप लेख ईसा की दूसरी शताब्दी से प्राप्त हुए हैं। ऐसा अनुमान है कि अशोक के बौद्ध स्तम्भों के समान वैदिक स्मारक के रूप में इनकी स्थापना रही है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में विभिन्न प्रकार के यज्ञों के स्मारक रूप में पाषाण यूप स्थापित कराने की परम्परा प्रचलित रही थी फलस्वरूप अनेकानेक यूप लेख प्राप्त हैं।

राजस्थान में भी यज्ञों के अवसर पर यूप निर्माण की परम्परा रही है। यज्ञों के लिए महत्वपूर्ण स्थानों पर यूपों (यज्ञ — स्तम्भ) का निर्माण किया गया। इस प्रकार की धार्मिक गतिविधियों ने लोगों में विदेशी आक्रान्ताओं का सामना करने के लिए नया विश्वास पैदा किया। पुरातात्विक खोजों में सांभर के निकट नलियासर से ईसा से दो शताब्दी पूर्व की एक मुद्रा मिली है जिसमें एक वक्र शीर्ष वाला यूप निर्मित है, जिस पर प्राकृत भाषा व ब्राह्मी लिपि मे banlel (इंद्रशर्मन) लिखा है[2]। राजस्थान में नांदसा, बर्नाला, बड़वा, बिचपुरिया, विजयगढ़ व नगरी से पाषाण — यूप प्राप्त हुए हैं। राजस्थान से प्राप्त यूप लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह भू — भाग प्राचीन काल से ही वैदिक विचारधारा की क्रीड़ास्थली रहा है।[2] राजस्थान से प्राप्त यूप लेखों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है —

नान्दसा यूप लेख —

यह यूप लेख पं गौरीशंकर हीराचन्द ओझा को भीलवाड़ा से ३६ मील की दूरी पर नान्दसा ग्राम से मिला था। यह यूप लेख एक तालाब में स्थित यूप—स्तम्भ पर दोनों ओर उत्कीर्ण है। नान्दसा यूप—लेख संस्कृत गद्य और तीसरी शताब्दी ई. की ब्राह्मी लिपि में है।[3]

नान्दसा यूप लेख धार्मिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस लेख का उद्देश्य मालव गण के नेता या श्री (?) सोम द्वारा कृत संवत् २८२ (ई.सन् २२५) की चौत्र पूर्णिमा को एक षष्टिरात्रसत्र (इसमें ६१ दिन चलने वाले) सम्पादित करने का उल्लेख है। लेख की तृतीय पंक्ति में ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति एवं महर्षि के साथ साथ विष्णु का स्थान — मंदिर निर्माण करने का विवरण है। ४ लेख में कृत् संवत् और मालव जाति का नाम मिलता है। मालव नेता श्री सोम गणपति था और वह इस पद को वंशानुगत रूप से सुशोभित कर रहा था।

बर्नाला यूप लेख —

बर्नाला जयपुर जिला में लालसोट गंगापुर मार्ग पर आठ मील अन्दर की ओर स्थित है। यहाँ से दो यूप लेख प्राप्त हुए हैं। जिनकी जानकारी कानोता के ठाकुर श्री शिवनाथ सिंह ने श्री दयाराम साहनी को दी थी। ५ बर्नाला से प्राप्त यूप लेखों पर क्रमशरू कृत सम्वत् २८४ और ३३५ अंकित है। दोनों यूप लेख ब्राह्मी लिपि और संस्कृत भाषा में है। एक लेख में सोहर्तृ गोत्रोत्पन्न किसी राजा का पुत्र इसका यज्ञ कर्ता है। लेख में यज्ञकर्ता के पुण्यवर्धन की कामना की गई है। मूल लेख इस प्रकार है —

सिद्धम्। कृतेहि २०० (+) ८० (+) ४ चौत्र शुक्ल पक्षस्य पं (पत्र) चदशी [1*] सोहतं सगोत्तस्य खाशी, प [7] स्त] [र] स्य [राज्ञो] वद्धं नस्य ग्रुप सत्तको पुण्ण (ण्यं) व (द्धं तु)

कृत् संवत् ३३५ का यह प्राचीन यूप लेखों में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। लेख वैष्णव धर्म से सम्बन्धित है। लेख में भट्ट नामक व्यक्ति जो सम्भवत: ब्राह्मण था, द्वारा त्रिरात्र यज्ञ एवं दान में ९० गो— वत्सादि देने का उल्लेख है। यज्ञ कर्ता का यह दृढ़ विश्वास था कि यज्ञ — दानादि द्वारा भगवान विष्णु प्रसन्न होंगे एवं धर्म की वृद्धि होगी।[6] १ कृतेहि ३०० (+) ३० (+) ५ जब (ज्येष्ठ) शुद्धस्य पं (पत्र) तात् (१) ....त्रितवगेशु (त्रित वनेषु ?)

२ खार्ग?, ख त्रि, र (रा) त्र ५ यज्ञ (ज्ञा) इष्ट (इष्टा) सब्वस्त (सवस्ता) इ (ए) व वागा (गावो) दक्षिण्या (णा) दाता (दत्ता) ९० वष्ट: (विष्णु) प्रियतां धर्मो वर्द्ध ताम

बड़वा यूप लेख —

बड़वा कोटा जिला की मांगरोल तहसील में स्थित है। यहाँ से पूर्व की ओर लगभग आधा मील दूर

काम तोरण (थम्ब तोरण) नामक स्थल से चार यूप—स्तम्भ पाये गये हैं। इन यूप—स्तम्भों में से तीन पर पूर्णतया उत्कीर्ण और चतुर्थ पर घिसा हुआ लेख प्राप्त हुआ था। यूप—लेखों पर खड़ी अथवा आड़ी पंक्तियों में लेख उत्कीर्ण हैं।

इनकी भाषा प्राकृत प्रभावित संस्कृत और ब्राह्मी लिपि है।प्रथम यूप लेख का मूलपाठ इस प्रकार है—

सिद्ध (द्धम) (१) क्रितेहि २००(+)९०(+) ५फ [1]ल्गुण शुक्लस्य पञ्चे दि श्रिमहासेनापते: मोखरेरू बलस्य बलवर्द्धनस्य यूप: (?) त्रिरात्र समितस्य दक्षिण्यं गवां सहस्र [1000] (१)

लेख से विदित होता है कि मौखरी सेनापति बल के पुत्रों द्वारा त्रिरात्रयज्ञ सम्पादित करने के पश्चात उनके द्वारा १००० गायें दान प्रदान की थीं।[९]

तैत्तरीय संहिता में बतलाया गया है कि त्रिरात्र यज्ञ को वसु, इन्द्र और आदित्यों के निमित्त करके प्रजापति ने त्रैलोक्य प्राप्त किया था। शांखायन श्रौतसूत्र के अनुसार त्रिरात्र यज्ञ द्वारा लोक और परलोक में त्रिविध सुख प्राप्त किया जा सकता है। वैदिक काल में सोमयज्ञ अत्यन्त प्रसिद्ध थे जिनकी संख्या सात थी। उनके नाम है अग्निष्टोम, अत्याग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशिन, वाजपेय, अतिरात्र और प् आप्तोर्याम। वैदिक धर्म के उत्थान काल में ये यज्ञ अत्यन्त प्रसिद्ध और लोक प्रचलित थे जो गृहस्थों द्वारा उपनयन अथवा अन्त्येष्टी के अवसर पर किये जाते थे। त्रिरात्र यज्ञ इन्हीं यज्ञों में से तीन अग्निष्टोम, उक्थ्य और अतिरात्र का संयुक्त रूप था।

द्वितीय लेख में महासेनापति मौखरी बल के पुत्र सोमदेव ने त्रिरात्र यज्ञ सम्पादित कर एक हजार गायों की दक्षिणा दी तथा यह यूप स्थापित करवाया — सिद्ध (म) (१) त्रितेहि २०० () ९० () ५ फरू ,ल्गुण शुक्लस्य पञ्चे दि श्री महासेनापते: मोखरेरू बलपुत्रस्य सोम— देवस्य यूप:

(१) त्रिरात्र संमितस्य दक्षिण्यं गव [1] सह [] [1000] (१)

तीसरे लेख में भी महासेनापति बल पुत्र बलसिंह के द्वारा यूप स्थापित करने एवं त्रिरात्र यज्ञ में सहस्र गायों की दक्षिणा का उल्लेख मिलता है। बड़वा से ही प्राप्त चतुर्थ लेख हस्ती के पुत्र बुद्धिमान धनुत्रात मौखरी से सम्बन्धित है।जिसमें उसके द्वारा आप्तोर्याम नायक यज्ञ सम्पादित कर यूप स्थापित करने एवं हजार गायों की दक्षिणा दिए जाने का उल्लेख है। आप्तोर्याम यज्ञ सप्त सोम संस्था में परिगणित वैदिक यज्ञों में सातवाँ है। यह यज्ञ पूरे दिन तक किया जाता था और द्वितीय रात्रि तक जारी रहता था।

बिचपुरिया का यूप—लेख

कृत सम्वत् ३२१ (२६४ ई.) का यह यूप लेख उणियारा (टोंक जिला) के बिचपुरिया के मन्दिर से प्राप्त हुआ। यह लेख १० फुट ६ इंच ऊंचा है। जिस क्षेत्र से यह यूप—लेख मिला वह प्राचीन मालव क्षेत्र के अन्तर्गत आता था।[१०] विवेच्य लेख प्राकृत प्रभावित संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में है।[११] लेख में धरक के पुत्र अहिशर्म द्वारा अग्निहोत्र (यज्ञ) कर पुण्यवृद्धि हेतु यूप स्थापित करवाने का उल्लेख मिलता है। मूल लेख इस प्रकार उपलब्ध है—

सं. ३२१ फगुन शुक्ल पक्षस्य पञ्चदश अहिशर्म श्र (ग्नि) होतस्य धरक पुत्रस्य यूप (श्च पुण्य) मेधतु रू,

बर्नाला यूप—लेख

कृत सम्वत् ३३५ (२७८ ई.) के इस यूप—लेख को दयाराम साहनी ने बर्नाला (जिला जयपुर) से प्रात किया (जहाँ से पहले भी एक यूप—लेख मिला था)। यह लेख दो खड़ी पंक्तियों में उत्कीर्ण है। इसकी भाषा अशुद्ध प्राकृत तथा लिपि ब्राह्मी हैं। यह प्राचीन यूप—लेखों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। प्राप्त लेख इस प्रकार है —१ कृतेहि ३०० (+) ३० (+) ५ ज ष (ज्येष्ठ) शुद्धस्य पं (पत्र) च दशो (१) भृट्ट (भट्ट)....

... .त्रितवणेशु (त्रित वनेषु ?)

२ [गर्ग ?] [त्रि] र (रा) त्र ५ यज्ञ (ज्ञा) इष्ट (इष्टा) सब्वस्त (सवस्ता) इ (ए) व वागा (गावो) दक्षिण्या (णा) दाता (दत्ता) ९० वष्ट: (विष्णु) प्रियतां धर्मो वर्द्ध [ताम] []

इसमें भगवान विष्णु की वन्दना और यज्ञ कर्ता द्वारा ९० गायें दान देने का विवरण हैं। १० विवेच्य लेख वैदिक और वैष्णव धर्म के समन्वय का प्रतीक है। इसमें विष्णु की प्रसन्नता हेतु गर्गत्रिरात्र सत्र (यज्ञ) सम्पन्न कर धर्म की वृद्धि की कामना की गई है।

भट्टि सोम सोगी का नान्दसा यूप—लेख

(तिथि विहीन. लगभग तीसरी शती ई.) का यह यूप लेख नान्दसा उदयपुर जिला के सराड़ा तहसील में स्थित है। यहाँ से श्री (?) सोम का यूप स्तम्भ लेख मिला था। वहां से करीब २ फर्लांग दूर भट्टि सोम सोगी का उक्त यूप—लेख भी प्राप्त हुआ। यह लेख तिथि विहीन, संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में है। इसकी संस्कृत भाषा प्राकृत से पूर्णतया प्रभावित है।[११] लेख खण्डित है। यूप की स्थापना कुल गोत्र के वर्धन हेतु किए जाने का उल्लेख है।

विजयगढ़—स्तम्भलेख

मालव— विक्रम सम्वत् ४२८ = ई. सन् ३७१ का यह स्तम्भ लेख भरतपुर के निकट बयाना तहसील में स्थित विजयगढ़ दुर्ग की दक्षिणी दीवार के निकट प्रस्तर स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इस स्तम्भ लेख की भाषा संस्कृत (पूर्णतया गद्य) है और इसके अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला से सम्बद्ध हैं। लेख का नायक वरिक विष्णुवर्धन सम्भ वतरू प्रारम्भिक गुप्त शासक समुद्रगुप्त का सामन्त था।[१२] लेख में यशोवर्धन के सत्पुत्र श्री विष्णुवर्धन के द्वारा अपने यश, धर्म, कल्याण, समृद्धि, कीर्ति, परिवार, वंश, भाग्य तथा भोग की वृद्धि हेतु पुण्डरीक यज्ञ की समाप्ति पर स्थापित किए जाने का उल्लेख मिलता है।

नगरी यूप लेख

वि. सं चौथी शताब्दी का यह यूप लेख उस समय की लिपि में लिखा हुआ तथा दोनों किनारों से टूटा हुआ है। यह शिलालेख नगरी से प्राप्त हुआ है। यहाँ किसी ने वाजपेय यज्ञ सम्पन्न किया था, और उसके पुत्रों ने उसका यूप (यज्ञ— स्तम्भ) खड़ा करवाया था। स्य यज्ञेवाजपेये यूपो तस्य पुत्रैर्युपो.....[१३]

इस प्रकार उपरोक्त प्राप्त यूप लेखों से एक बात स्पष्ट है कि राजस्थान में वैदिक यज्ञों के पुनरुत्थान का महत्वपूर्ण केन्द्र था। जिसके परिणामस्वरूप अनेक यज्ञ सम्पन्न हुए तथा यज्ञों के प्रतीक चिहन के रूप में इन पाषाण यूपों का निर्माण करवा कर स्थापित किया गया। कालातीत विरासत को सहेजे हुए शताब्दियों के उपरान्त आज भी ये लेख अपने समय के धार्मिक स्वरूप का परिचय देते हुए, राजनैतिक स्थिति के

प्रकाशक अक्षुण्व खड़े हैं।

संदर्भ —

1-Archaeology Remains and eÛcavations at Sambhar by Daya RamSahani]P-19¼Ancient cities and towns of Rajasthan by K-C-Jain P - 520

२. दृष्टव्य, त्रिगुणायत, सतीश, प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म (एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण) प्रकाशन — भारतीय विद्या मंदिर, कोलकाता पृ. ९३

३. गोयल, श्रीराम, प्राचीन अभिलेख संग्रह, पृ. २७५

४. दृष्टव्य, त्रिगुणायत, पूर्वनिर्दिष्ट , पृ. ९ ४

५. साहनी दयाराम, आक्योलॉजिकल रिमेन्स एंड एक्स्कवेशन्स एट सांभर, पृ. ३

६. दृष्टव्य, त्रिगुणायत, पूर्वनिर्दिष्ट,, पृ. ९९

७. अलतेकर, ए.एस., एपिग्रैफिया इण्डिका, वॉल्यूम २३ पृ. ४८

८. शर्मा, गोपीनाथ राजस्थान के इतिहास के स्रोत, पृ. ४५

९. अग्रवाल, रतन चन्द्र, मरुभारती १२, पृ. २४०, १९६४, नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वाराणसी) सं. २०११, वर्ष ५९, अंक २, पृ. १२२

१०. शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान के इतिहास के स्रोत, पृ. ४५

११. गोयल, श्रीराम, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, पृ. २९१

१२. फ्लीट,जे.एफ.,(अनु.डॉ.गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र) भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड — ३ पृ.३१७

१३. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द य उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग—१, पृ. ५५

❑❑❑

महारानी श्री जया राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भरतपुर एवं
राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर (राज.) के संयुक्त तत्वावधान में

राष्ट्रीय संगोष्ठी - 2023

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित कर्मयोग एवं वर्तमान में इसकी प्रासङ्गिकता

दिनांक : 09-10 सितम्बर 2023

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/श्रीमती/डॉ/प्रो. रेखा देवी शर्मा (सह आचार्य)
संस्था एम.एस.जे. राज. महा. भरतपुर ने "श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित कर्मयोग एवं वर्तमान में इसकी प्रासङ्गिकता" विषय पर आयोजित द्वि-दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में पत्रवाचक / सहभागी के रूप में भाग लिया। इनके शोध पत्र का शीर्षक "भारतीय संस्कृति में कर्म की अवधारणा" है।

हम इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

डॉ. महेश कुमार गुप्ता
संयोजक एवं आयोजन सचिव

डॉ. हरबीर सिंह
मुख्य संरक्षक एवं प्राचार्य

Proceeding of National Conference-2023

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित कर्मयोग एवं वर्तमान में इसकी प्रासङ्गिकता

सम्पादक :

डॉ. महेश कुमार गुप्ता

आचार्य (गणित)

महारानी श्री जया महाविद्यालय

भरतपुर (राज.)

सह सम्पादक :

डॉ. ओमप्रकाश सोलंकी

सह आचार्य (भूगोल)

महारानी श्री जया महाविद्यालय

भरतपुर (राज.)

श्रीमती रेखा देवी शर्मा

सह आचार्य (संस्कृत)

महारानी श्री जया महाविद्यालय

भरतपुर (राज.)

डॉ. रामबाबू

सहायक आचार्य (संस्कृत)

महारानी श्री जया महाविद्यालय

भरतपुर (राज.)

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित कर्मयोग एवं वर्तमान में इसकी प्रासङ्गिकता

द्वारा

डॉ. महेश कुमार गुप्ता

आचार्य (गणित)

महारानी श्री जया महाविद्यालय, भरतपुर (राज.)

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. गोविन्द राम चरौरा

आचार्य (संस्कृत) सेवानिवृत्त

मा. आ. राजकीय महाविद्यालय, डीग (राज.)

श्रीमती डिम्पल जैसवाल

सहायक आचार्य (संस्कृत)

महारानी श्री जया महाविद्यालय, भरतपुर (राज.)

© सम्पादकाधीन

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। सम्पादक की लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश को, फोटो कॉपी एवं रिकार्डिंग सहित इलेक्ट्रॉनिक अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुनर्प्रयोग की प्रणाली द्वारा किसी भी रूप में, पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता। समस्त प्रतिवादों का न्यायिक क्षेत्र भरतपुर (राज.) होगा।

ISBN

978-93-5914-938-7

संस्करण : 2023 ई.

विषय सूची

क्र.सं.	विवरण	पृष्ठ संख्या
1	प्राक्कथन	01
2.	श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित कर्मयोग तथा वर्तमान में उसकी प्रासंगिकता	03
3	निष्काम कर्मयोग	09
4.	तिलक का कर्मयोग	14
5.	मनुष्य जीवन में श्रीमद्भगवद्गीता की विलक्षणता	17
6.	महाकवि कालिदास के काव्य में कर्मयोग की उपादेयता	25
7.	कर्म से कर्मयोग की ओर	30
8.	भारतीय संस्कृति में कर्म की अवधारणा	42
9.	अग्निमहापुराण में वर्णित कर्मयोग का विवेचनात्मक अध्ययन	48
10.	भगवद्गीता का कर्मसिद्धान्त	57
11.	UNDERSTANDING KARMA YOGA AS BASIC SCIENCE OF LIFE	62
12.	भारतीय दर्शन में 'कर्मयोग'	65
13.	BHAGAVAD-GĪTĀ AND ITS INFLUENCE ON LITERATURE FROM WEST	71
14.	भारतीय दर्शन में कर्म	77
15.	मनुष्य कल्याण में कर्मयोग की उपादेयता	83
16.	गीता में प्रतिपादित कर्मयोग की उपजीव्यता	89
17.	अर्वाचीन संस्कृत लहरी-काव्यों में ज्ञान-भक्ति-कर्मयोग	94
18.	गीता में प्रतिपादित कर्मयोग की उपजीव्यता	102
19.	परम पुरुषार्थ की प्राप्ति में कर्मयोग की महत्ता	106
20.	वैश्विक कल्याण में योग की भूमिका	111
21.	कर्मयोग और कामसूत्र : एक सांस्कृतिक और दार्शनिक विश्लेषण	116
22.	कर्मयोग: भगवद्गीता एक परिप्रेक्ष्य	126
23.	गीता के कर्मयोग की प्रासंगिकता - एक विवेचन	131

भारतीय संस्कृति में कर्म की अवधारणा

संस्कृति किसी भी राष्ट्र की उत्कृष्टतम विभूति होती है । राष्ट्र विशेष का जीवन - मरण, उसकी उन्नति - अवनति, उसकी प्रतिष्ठा - अप्रतिष्ठा सब कुछ उसकी संस्कृति पर ही आधारित होता है। जिस राष्ट्र की संस्कृति जितनी उदात्त होगी वह राष्ट्र उतना ही गौरवशाली बनता है । राष्ट्र की यह विभूति किसी एक युग की सम्पत्ति न होकर इसे हम उसके युग-युग की गौरव-गाथा कह सकते हैं। वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक साहित्य तक में इस शब्द का प्रयोग संस्कार, पवित्रता आदि अर्थों में ही गृहीत है। प्राकृतिक स्वभाव में सुधार ही संस्कृति है।

प्राचीन काल में संस्कृति के लिए एक अधिक व्यापक, अधिक उदात्त और अधिक गौरवपूर्ण शब्द का प्रयोग किया जाता था - धर्म। प्राचीन युग में जो कुछ भी संस्कृत था, जो कुछ भी उदात्त था, जो कुछ भी महान था और जो कुछ भी महिमामय था । उसी को धर्म कहते थे। उसके चिंतन में ही हमारी चेतना सजीव थी। उसके आचरण में ही हमारे जीवन का सौन्दर्य मुखरित होता था । सच्चे अर्थों में यही हमारी संस्कृति थी जिसमें जगत के कल्याण का भाव निहित था । भारतीय जनमानस सदैव ही संसार के कल्याणार्थ और अभ्युदय के चिंतन में संलग्न रहा है। सम्पूर्ण सृष्टि के मंगल की भावना से ओत - प्रोत वह निरन्तर कर्मपथ पर अग्रसर होता है। निस्संदेह कर्म या क्रियाशीलता ही कर्म का आधार है। कर्म से हीन मनुष्य शव तुल्य ही है।

दार्शनिक जगत् में कर्म की गति विचित्र मानी गयी है। कर्म के रूप हैं - पुण्य और पाप । पुण्य कर्मों से जहाँ सुख की प्राप्ति होती है वहीं पाप कर्मों से दुख की । संसार के सभी जीव पुण्य- पाप रूप कर्मों को करते रहते हैं। वैदिक कालीन ऋषि भी कर्म की गति से परिचित थे। यजुर्वेद में कहा गया है - 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' अर्थात् इस संसार में कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखें । जीवन की समस्त चेष्टाएं और स्वयं जगत भी इसी कर्म - गति का परिणाम है। सुख और दुख मनुष्य के कर्मजन्य फल हैं। पवित्र कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और पाप कर्म करने से दुख की प्राप्ति होती है। दुख असहनीय एवं कष्टप्रद होता है अतः जीव पाप कर्मों से मुक्त्यर्थ शुभ कर्म करता है। देवताओं की स्तुति और यज्ञ कर्मानुष्ठान आदि करता है।

वेदों में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म माना गया है। यज्ञानुष्ठान से पाप कर्मों के फल का नाश होता है सद्कर्मों के फल का उदय होता है। वेदों में चोरी, व्यभिचार, छल, कपट,

झूंठ, बलात्कार, हिंसा आदि निषिद्ध कर्म एवं देव आराधना एवं यज्ञानुष्ठान आदि पुण्य कर्म माने गए हैं। मनुष्य द्वारा किए गए कार्य ही उसके पुनर्जन्म के कारक हैं । शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि – **'तत्वज्ञानिनः सन्तो यज्ञान् यजन्ति ते मृत्युं प्राप्यामृतत्वाय कल्पन्ते य ये तु तत्वज्ञान शून्या अयज्ञाश्च भवन्ति, ते पुनः पुनः मृत्योर्वंशमापद्यन्ते ।'** अर्थात् जो तत्वज्ञानी यज्ञ करते हैं और जो तत्वज्ञान से शून्य व्यक्ति यज्ञ नहीं करते वे बार – बार मृत्यु के बन्धन को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार कर्मफल के रूप में कर्म सिद्धांत एक जन्म से दूसरे जन्म तक प्रवाहित होता रहता है। पंचमहाभूत निर्मित प्राणी मृत्योपरान्त उन्हीं में विलीन हो जाता है । तब शेष क्या रहता है ? इस प्रश्न की आशंका में याज्ञवल्क्य अपने शिष्य को कहते हैं – 'ऐसी समस्याओं का समाधान कदापि नहीं हो सकता हम तो अच्छे या बुरे कर्मों का कुछ भेद ही कर सकते हैं कि मनुष्य अच्छे कर्मों से पुण्यात्मा और बुरे कर्मों से पापात्मा बनता है।[1] याज्ञवल्क्य के अनुसार एक जन्म के अन्त और दूसरे जन्म के प्रारम्भ के मध्य कोई व्यवधान नहीं रहता, एक कड़ी जुड़ी रहती है भले ही उसका ज्ञान हमें न हो । उपनिषदों की मान्यतानुसार मनुष्यों के लिए दो मार्ग हैं– एक देवयान दूसरा पितृयान । छान्दोग्योपनिषद के अनुसार जो श्रद्धा एवं तप में लीन रहते हैं, वे देहत्याग के पश्चात देवयान मार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक को जाते हैं ।उनका संसार में पुनरागमन नहीं होता । जो मनुष्य इष्टापूर्त यज्ञ आदि कर्मों में निरत रहते हैं एवं सदाचार का सेवन करते हैं वे देहत्याग के उपरान्त पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक को गमन करते हैं । चन्द्रलोक में उपार्जित पुण्यकर्मों के क्षय होने के पश्चात पुनः लौट कर अपने किए शुभाशुभ कर्मानुसार योनि को प्राप्त करते हैं । इससे स्पष्ट रुप से विदित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कर्मों का फल दो बार भोगना पड़ता है। प्रथमतः परलोक में पुनश्च इस लोक में किन्तु मनुष्य को कर्मों का फल भोगना अवश्य ही पड़ता है।2

गीता में कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण कुछ न कुछ कर्म अवश्य करता रहता है। प्रकृति के गुण प्रत्येक मनुष्य को कर्म करने हेतु विवश करते रहते हैं । अर्थात् प्रकृति जन्य गुणों से परतन्त्र होकर मनुष्य को कुछ न कुछ कर्म करना ही पड़ता है।3 यदि कोई कर्म नहीं करता है तो उसके शरीर का निर्वाह भी संभव नहीं है । श्रीमद्भगवद् गीता में कहा है –

नियतं कुरु कर्मत्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेद कर्मणः।[4]

गीता में कर्म शब्द का प्रयोग हमें परम्परागत वर्णों के निर्धारित कर्तव्यों के लिए हुआ है।[5] गीता में पूजा , पाठ, भजन, व्रत आदि अर्थ में भी कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है।[6] वस्तुतः गीता में कर्म शब्द का प्रयोग सामाजिक कर्तव्य के अर्थ में हुआ है। गीता में

प्रत्येक वर्ण के लिए पृथक - पृथक कर्मों का निर्धारण किया गया है । जिसके लिए जो कर्म निर्धारित है उसे वह कर्म अवश्य ही करना चाहिए । संसार में मनुष्य जो भी कर्म करता है वह सोद्देश्य ही होता है। निरुद्देश्य किसी भी कर्म में वह प्रवृत्त नहीं होता है, किन्तु गीता का आदेश है कि वह निष्काम कर्म करे । जो कर्म किसी उद्देश्य या सकाम भाव से किया जाता है वह मनुष्य को कर्म बन्धन में बाँधता है वहीं निष्काम कर्म - संपादन निर्बन्ध होता है आनन्ददायक होता है। निष्काम कर्म वह है जो हमारे चित्त को फलों से विरत करके सच्चे लक्ष्य के मार्ग पर लगा देता है। वस्तुत: कर्म को छोड़ देना ही वास्तविक कर्म - त्याग नहीं है अपितु निसङ्ग बुद्धि से एवं फल की आशा को छोड़कर जो कर्म किया जाता है वही सच्चा कर्मत्याग है।[7] गीता में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य आसक्ति रहित होकर निष्काम कर्म करे, क्योंकि मनुष्य को केवल निष्काम कर्म करने का अधिकार है। फल के प्रति उसे कामना नहीं करनी चाहिए । **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**।[8] गीता के अनुसार काम्य अर्थात् फल की आशा से किए जाने वाले समस्त प्रकार के कर्मों के त्याग को 'संन्यास' और समस्त कर्मों के फलों के त्याग को 'त्याग' कहते हैं।

मनुस्मृति में इन्हें प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग कहा गया है। देहधारी मनुष्य सभी कर्मों का संपूर्ण रूप से परित्याग नहीं कर सकता, अत: ईश्वरार्पण बुद्धि से जो कर्मफलों का त्याग करने वाला है वही सच्चा त्यागी अर्थात् संन्यासी है।[9] इस प्रकार समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा है । इस प्रकार के ज्ञान से युक्त बुद्धि से जो निष्काम कर्म किया जाता है वही गीता का 'कर्मयोग' है।

जैन दर्शन में शरीर, मन और वाणी की क्रियाशीलता को योग कहा है - काय वाङ्मन: कर्मयोग :। 10 इन यौगिक क्रियाओं द्वारा जीव का गतिशील होना ही 'काययोग' है, जैसे कि अहिंसा आदि में प्रवृत्त होना । मन की क्रियाशीलता से जीव का आचार्य आदि के प्रति भक्ति, तप में रुचि आदि 'मनोयोग' कहलाते हैं। वाणी से सत्यवादन में प्रवृत्ति 'वाक्योग' है। जैन दर्शन में कर्म को बन्ध (बन्धन) का कारक बताया है। तत्वार्थसूत्रकार जैनाचार्य उमास्वाति के अनुसार जीव कषायों के संसर्ग से अपने किए कर्मानुसार विविध शरीरों को धारण करता है तब उसे बन्ध (पुनर्जन्म) कहते हैं। कर्मों को बंधन का कारण मानने के कारण जैन दर्शन की आचारमीमांसा में 'त्रिरत्न' (सम्यक् दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक् चरित्र) के पालन का विधान किया है। जिनका सम्यक् पालन करने से मनुष्य बन्ध से मुक्त होकर मोक्ष का भागी बनता है। अस्तु कहा जा सकता है कि निष्काम कर्म जैन दर्शन का आदर्श रहा है।

बौद्ध दर्शन भी यथा कर्म तथा फल के सिद्धान्त को मानता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है तदनुसार वह फल का भोग करता है। अतीत में किए कर्म मनुष्य के वर्तमान

को एवं वर्तमान जीवन के कर्म उसके भविष्य के निर्माता होते हैं । बौद्ध दर्शन के अनुसार जीव कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता बल्कि कर्म जीव के अधीन होता है । मज्झिमनिकाय में कहा गया है कि 'जीव अपने कर्मों का स्वामी है, अपने कर्मों का उत्तराधिकारी है, कर्म ही आधार है, कर्म ही उनकी सन्तति है और अपने कर्मों से ही उनकी स्थिति है।"[11]

सांख्य में कर्म को धर्म और अधर्म के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। सांख्यकारिका में लिखा है कि धर्म के कारण ऊर्ध्व लोकों में पुनर्जन्म होता है और अधर्म से अधोलोक की प्राप्ति होती है। धर्म और अधर्म ही पुनर्जन्म के कारण हैं । ज्ञान से मोक्ष एवं अज्ञान से बन्धन की प्राप्ति होती है।[12] वस्तुतः धर्म क्या है? इसको विद्या से ही जाना जा सकता है अन्यथा वह अविद्या वश अधर्म (अकर्म) की ओर भी जा सकता है। सांसारिक वस्तुओं को यथार्थ रूप में नहीं समझना ही अविद्या है। अविद्या (अज्ञान) से बन्धन प्राप्त होता है । श्री गौडपादाचार्य ने माण्डूक्यकारिका में लिखा है- अविद्यास्तमयो: मोक्ष: स च बन्ध उदाहृत: । अर्थात् अविद्या का नाश मोक्ष है और अविद्या ही का नाम बन्ध (बन्धन) है। तत्वों के अज्ञान से ही बन्ध की प्राप्ति होती है। यह बन्धन तीन प्रकार का होता है- प्राकृतिक , वैकारिक और दाक्षणिक । प्रकृति को ही आत्मतत्व मानकर तत्सम्बंधी उपासना आदि कर्मों में लीन रहते हैं वे प्राकृतिक बंधन में बंधे रहते हैं। जो इन्द्रिय , मन आदि प्रकृति के विकारों (कार्यों में) आसक्त रहते हैं उन्हें वैकारिक बन्धन और जो आत्मचिन्तन से रहित होकर, फल की कामना से सकाम इष्ट और पूर्त कर्मों के संपादन में लगे रहते हैं उन्हें दाक्षणिक बन्धन प्राप्त होता है, क्योंकि वे सात्विक कर्मों का फल भोगकर मनुष्यलोक में पुनर्जन्म को ग्रहण करते है। क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति ।

महर्षि पतञ्जलि ने तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को 'क्रियायोग' कहा है। **तप: स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोग:** । क्रियायोग के अनुष्ठान से समाधि की सिद्धि तथा अविद्याजन्य क्लेशों की क्षीणता प्राप्त होती है । शास्त्रों में विहित मार्ग से विधिपूर्वक कृच्छ और चान्द्रायण आदि के द्वारा शरीर का जो शोषण होता है उसे 'तप' कहा जाता है। प्रणव , गायत्री आदि पवित्र मन्त्रों का जप अथवा उपनिषद आदि मोक्षशास्त्र का अध्ययन 'स्वाध्याय' कहा जाता है। निखिल कर्मों को परमगुरु परमात्मा में अर्पित कर देना अथवा कर्म के फलों का त्याग करना 'ईश्वरप्रणिधान' कहा गया है। तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ही क्रियायोग है। क्रियायोग के अनुष्ठान से समाधि की सिद्धि तथा अविद्यादि क्लेशों की क्षीणता प्राप्त होती है।

न्याय वैशेषिक के अनुसार पदार्थों की गति का नाम 'कर्म' है। एकद्रव्यमगुणं संयोग विभागेष्वनपेक्ष कारणमिति कर्मलक्षणम् ।13 अर्थात् जो द्रव्य में समवेत रहता है , गुण से भिन्न होता है और संयोग - विभाग का साक्षात् कारण होता है,

उसे कर्म कहते हैं। न्याय वैशेषिक के अनुसार समस्त कर्मो का मुख्य प्रयोजन सुख प्राप्ति एवं दुख निवृत्ति है।14

मीमांसकों के अनुसार कर्तव्य का एकमात्र 'स्रोत' वेदवाक्य हैं। वेद विहित कर्तव्य कर्मों का आचरण करना धर्म है। वैदिक कर्म चार प्रकार के होते हैं- काम्य, निषिद्ध, नित्य और नैमित्तिक । इन नित्य नैमित्तिक कार्यों के संपादनार्थ वेद हमें आदेश देते हैं, अत: उनके अनुष्ठान से कोई लाभ न होने पर भी वेद वाक्य होने के कारण उनका आचरण हमारे लिए परमावश्यक है। मीमांसाकों का कथन है कि सकाम कर्मों के अनुष्ठान से पुण्य होते हैं और निष्काम कर्मो के अनुष्ठान से दुख निवृत्ति, बन्ध मुक्ति और निरतिशय सुख की प्राप्ति होती है।

अद्वैत वेदांती ब्रह्मविद्या की प्राप्त्यर्थ कर्मानुष्ठान की बात करते हैं। कर्म दो प्रकार के हैं- शुभ कर्म और अशुभ कर्म । शुभकर्मो से पुण्यार्जन एवं अशुभ कर्मो से पाप की प्राप्ति होती है। अशुभ कर्मो के परित्याग और शुभकर्मो के अनुष्ठान से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है। काम्य और निषिद्ध कर्मो के करने से कालुष्य बढ़ता है और यही कालुष्य ब्रह्मविद्या का बाधक है। काम्य और निषिद्ध कर्मो के परित्याग पूर्वक नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित, उपासना आदि कर्मो का अनुष्ठान कालुष्य को दूर करता है और उससे अन्त:करण शुद्ध होता है। अन्त:करण की शुद्धि से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। नैष्कर्म्य सिद्धि में बताया गया है कि नित्य कर्मो के अनुष्ठान से धर्म का उदय होता है । धर्मोत्पत्ति से पाप नष्ट होता है, उससे चित्त की शुद्धि होती है, चित्त की शुद्धि से संसार का यथार्थ ज्ञान होता है, उससे वैराग्य और वैराग्य से मोक्ष की प्राप्ति होती है। 15

भारतीय चिन्तन परम्परा में कर्म मुख्य रूप से निहित है । कर्म मनुष्य के भूत का कारक एवं भविष्य का निर्माता है इसलिए मनुष्य जीवन पर्यन्त संसार में अनेकानेक कर्मो का संपादन करता है कर्म ही जीवन का लक्षण है । मनुष्य जो कुछ भी करता है वह सब कर्म है, किन्तु यहाँ कर्म से केवल उन कार्यो का अभिप्राय है जो मनुष्य द्वारा किए जाने चाहिए । सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों दृष्टियों से जो उपयोगी हों, करणीय हों, वही कर्म है अन्यथा अकर्म है ।

शास्त्रोक्त कर्मो के विषय में सर्वदा एक सी मान्यता नहीं रही है । वैदिक कर्म का अर्थ था - यज्ञीय कर्मकाण्ड। स्मृतियों में कर्म के अन्तर्गत वर्णाश्रम सम्बन्धी कर्मों को भी समाविष्ट कर लिया गया । एक प्रकार से मनुष्य को कहा गया कि समस्त कर्मों को छोड़कर योग के द्वारा आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए । ऐसा मानना था कि कर्मो का फल भोगने के लिए मनुष्य को जन्म लेना ही पड़ता है। इस प्रकार संन्यास धारण किए बगैर कर्म करने से मुक्ति नहीं मिल सकती । कर्म के

त्याग के द्वारा मुक्ति की परम्परा बौद्ध और जैन संस्कृतियों में भी मान्य हुई । इस प्रकार कर्म संन्यास (काम न करने का सिद्धान्त) प्रायः सर्वसम्मत होकर भारतीय संस्कृति में दृढ़ रहा है पर वैदिक काल से ही 'कर्मयोग' के द्वारा मोक्ष प्राप्ति की विचारधारा सदैव प्रवाहित रही है। 'कर्मयोग' के सिद्धान्त से यह स्पष्टतः सिद्ध किया कि फल की आशा से किए कर्म ही बन्धन के कारण हैं यदि फल के प्रति आसक्ति न रखी जाए तब कर्म बन्धन का नहीं अपितु मोक्ष का साधन बन जाता है।[16] इस कर्म - मार्ग का अनुसरण जनक, कृष्ण, वसिष्ठ, व्यास आदि ने किया । शंकराचार्य ने सामान्यतः यही कहा कि ज्ञान प्राप्त कर लेने पर कर्म संन्यास के बिना मोक्ष असंभव है पर उन्होंने स्वीकार किया कि जनक आदि ज्ञानी जीवन भर काम करें तो अनुचित नहीं ।17 स्वयं शकराचार्य संन्यासी होते हुए भी जीवन भर अनवरत श्रम करते हुए भारत के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में संलग्न रहे।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन में कर्म सदैव से ही निहित रहा है। जिसमें कर्मों के त्याग एवं संन्यास मार्ग के अवलंबन से मुक्ति का मार्ग बताया वहीं गीता ने प्रवृत्ति और निवृत्ति के आदर्शों की अच्छाइयों को बनाए रखते हुए कर्मयोग को मध्यम मार्ग बताया । वह कर्म का त्याग नहीं करता अपितु त्याग की भावना को सुरक्षित रखता है। वह कर्मशील जीवन का अनुमोदन करता है, लेकिन स्वार्थ परक आवेगों को आने नहीं देता है। अन्य शब्दों में कहें गीता का उपदेश कर्म का त्याग नहीं कराता बल्कि कर्म में त्याग सिखाता है। इनका उपाय वन के एकान्त में आश्रय लेने से नहीं अपितु सामाजिक जीवन की हलचलों और संघर्षों के बीच रहते हुए निस्पृह होकर स्वयं का कर्तव्य करते जाना है। प्रवत्ति के आदर्श का यह रूपान्तरण गीता की हिन्दू विचारधारा को निस्संदेह एक मुख्य देन है।

संदर्भ :-

1. बृहदारण्यकोपनिषद, 3/2/13
2. छान्दोग्योपनिषद, 5/10/1-8
3. श्रीमद्भगवद् गीता , 3/5
4. वही, 3/8
5. वही ,18/41
6. वही , 12/10
7. वही, 18/9
8. वही,18/9
9. वही,18/17
10. तत्वार्थ सूत्र 6/1
11. मज्झिमनिकाय , 3/203
12. सांख्यकारिका, 44
13. वैशेषिक सूत्र 1/1/17
14. न्यायवार्तिक,1/1/24
15. नैष्कर्म्यसिद्धि 1/52
16. श्रीमद्भगवद् गीता,5/5 : ईशोपनिषद
17. वेदान्तसूत्र, शंकरभाष्य,3/3/32

श्रीमती रेखा देवी शर्मा

सहआचार्य - संस्कृत विभाग

महारानी श्री जया राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भरतपुर (राज.)

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ICPR

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली

संस्कृत विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा आयोजित

अन्तरराष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलन

Universal Vaidik Knowledge System and Maharshi Dayanand Saraswati

सार्वभौमिकवैदिकज्ञानपरम्परा महर्षिदयानन्दसरस्वती च

"सार्वभौमिक वैदिक ज्ञान परम्परा तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती"

09-11 अगस्त, 2024

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती रेखा देवी शर्मा, सह-आचार्य, राजकीय कन्या महाविद्यालय, गणगौरी बाजार, जयपुर ने संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा आयोजित अन्तरराष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलन में सहभागिता की तथा प्राचीन राजस्थान में वैदिक यज्ञ परम्परा (अभिलेखों के परिप्रेक्ष्य में) विषय पर शोधपत्र प्रस्तुत किया।

प्रो. अरविन्द विक्रम सिंह
अधिष्ठाता, कला संकाय,
विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रो. ज्योतिना वशिष्ठ
आयोजन सचिव,
अन्तरराष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलन,
संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रो. राजेश कुमार
समन्वयक, अन्तरराष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलन,
विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव॥

दिव्य-वाक्

अन्ताराष्ट्रियसंस्कृतसम्मेलनम्

सार्वभौमिकवैदिकज्ञानपरम्परा महर्षिदयानन्दसरस्वती च

9-11 अगस्त 2024

समन्वयक
प्रो. राजेश कुमार
विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

मुख्य संरक्षक
प्रो. अल्पना कटेजा
कुलपति,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

सहयोगी संस्थाएं

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली

शोधपत्र	लेखक
वेदों में नारी का महत्व	डॉ. रणवीर सिंह मीना
महर्षि दयानन्द का वेदभाष्य	प्रो. रामकिशोर मीना
वेद और दयानंद सरस्वती के विचार	डॉ. रणवीर वेदालंकार
वैदिक संस्कारों का वैज्ञानिक विश्लेषण	प्रो. रामलाल
वैदिककाल में नारी	प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
वेदों में निहित शैक्षिक दर्शन (एक विशिष्ट विवेचन)	डॉ. राजेश कुमार बैरवा
वैदिक काल में नारी - अधिकार	डॉ. राजेश राठी
वेद एवं पर्यावरण	श्रीमती राजकुमारी
वैदिक पुनरुत्थान और महर्षि दयानन्द सरस्वती	डॉ. राजनीश कुमार बारहठ
महर्षि दयानन्द सरस्वती और वेद	डॉ. राकेश कुमार
वैदिक वाङ्मय में पर्यावरण संरक्षण की अवधारणा तथा उसकी प्रासङ्गिकता	प्रो. रामसिंह चौहान
महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेद सम्बन्धी विचार	प्रो. राम सुमेर यादव
स्वामी दयानंद सरस्वती के शिक्षा संबंधी विचार	डॉ. रामबाबू
महर्षि दयानन्द सरस्वती का सपना :- भारतीय समाज का पुनर्निर्माण	डॉ. रमेशी मीना
महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में राष्ट्रवाद विचार	डॉ. रामहेत गौतम
महर्षि दयानन्द प्रतिपादित वैदिक राष्ट्रवाद	रामकुमार आर्य
उद्दानशोदित राष्ट्रीय चेतना के संवाहक महर्षि दयानंद	डॉ. रणवीर सिंह विद्यालंकार
महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रणीत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का महत्त्व	डॉ. रवि प्रधान
वेदों में पर्यावरण चिन्तन	डॉ. रवीन्द्र कुमार
प्राचीन राजस्थान में यज्ञ -परम्परा (अभिलेखों के परिप्रेक्ष्य में)	प्रोफेसर रीता तिवारी
वेदों में नारी की महिमा	श्रीमती रेखा देवी शर्मा
वैदिक दिनचर्या : चिकित्सा और स्वास्थ्य	प्रो. ज़ाहीन ज़ाफ़री
औपनिषदिक चिन्तन परम्परा और महर्षि दयानन्द सरस्वती	डॉ. समय सिंह मीना
भारतीय पुनर्जागरण में महर्षि दयानन्द सरस्वती विरचित 'सत्यार्थ प्रकाश' का योगदान	डॉ. संजय कुमार
सत्यार्थ प्रकाश	सांवर मल जाट
वैदिक वाङ्मय में राष्ट्र की परिकल्पना	डॉ. सरिता यादव
शिक्षा और परीक्षा की भारतीय चिंतना	डॉ. सरोज
स्वामी दयानंद सरस्वती के अनुसार स्त्री शिक्षा	डॉ. सर्वजीत दुबे
स्वामी दयानन्द का अध्यात्मदर्शन	डॉ. सत्यमुदिता स्नेही
महर्षि दयानन्द का राष्ट्रीय चिन्तन सत्यार्थ प्रकाश के संदर्भ में	प्रो. सत्यपाल सिंह
धर्म एवं दर्शन:-स्वामीदयानन्दानुसार	प्रो. (डॉ.) सत्यवती
आर्य समाज का योगदान	डॉ. सीमा चौधरी
स्वामी दयानन्द सरस्वती की स्वदेशी की संकल्पना	डॉ. शारदा वर्मा
राष्ट्रवाद एक वैदिक आदर्श	डॉ. शीतल मीना
महर्षि दयानंद सरस्वती के राष्ट्रवादी चिंतन की प्रासंगिकता	डॉ. शिल्पी श्रीवास्तव
सनातन संस्कृति में स्वामी दयानन्द का योगदान	श्रवण कुमार राईका
सत्यार्थ प्रकाश में वर्णित आचार अनाचार विवेचन	डॉ. श्रीप्रकाश राय
महर्षि दयानंद सरस्वती और राजस्थान में स्वराज्य चेतना	डॉ. स्मिता द्विवेदी
समानमूलक सामाजिक समरसता	डॉ. स्मिता शर्मा
संस्कृतव्याकरणशास्त्रे कालस्वरूपं लकाराश्च	श्रीमती सोनल
दर्शनशास्त्र में कर्मकाण्ड से संबंधित यज्ञ मीमांसा	डॉ. सुभाष विश्नोई
महर्षि दयानंद के वैदिक विचार	डॉ. शुचिता ला. दलाल
भारतीय पुनर्जागरण में महर्षि दयानन्द सरस्वती का योगदान	सुदर्शन कुमार
महिलाओं के उत्थान में महर्षि दयानन्द का योगदान	डॉ. सुमन कुमारी
महर्षि दयानंद सरस्वती का पुरुषार्थ चतुष्टय विषयक दृष्टिकोण	डॉ. सुमन रानी
	सुमेधा जैन

प्राचीन राजस्थान में यज्ञ –परम्परा (अभिलेखों के परिप्रेक्ष्य में)

श्रीमती रेखा देवी शर्मा
सह आचार्य संस्कृत,
राजकीय कन्या महाविद्यालय, गणगौरी बाजार, जयपुर (राजस्थान)

भारतीय जनमानस धर्म से अनुप्राणित होने के कारण भारतीय संस्कृति में यज्ञों का महत्व प्रारंभ से ही रहा है । प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धा एवं आस्था रही है । वैदिकीय धर्म प्रकृति में देवत्व का आरोपण करता रहा है यही कारण है कि प्रकृति के विविध उपादान यथा - पृथ्वी , जल, तेज, वायु ,आकाश (पंचमहाभूत) आदि की देव रूप में आराधना की जाती रही है । वैदिक पुरुष ने अपने जीवन में जिसको भी उपादेय देखा उसी के प्रति दृतज्ञता से नत हुआ और उसका मन ऋणी एवं दास हो गया । उसकी इस आस्तिक भावना के परिणामस्वरूप प्राकृतिक उपादानों के दातव्य भाव ने उसके मन में देव भाव की उत्पत्ति की और धीरे -धीरे दैव संस्कृति का विकास हुआ । फलस्वरूप वेदों में विविध सूक्तों यथा -पृथ्वी , इन्द्र, अग्नि, रुद्र, मरुत्, वरुण, उषस्, सविता, पर्जन्य आदि के द्वारा अपनी आस्था और आराधना को व्यक्तकिया

'यज्ञो वै श्रेष्ठतमम् कर्म' अर्थात् श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है । 'प्रजापति वैं यज्ञः ' और विष्णु वैं यज्ञः वाक्यों से सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृति में श्यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म और श्रेष्ठ कर्म को ही ईश्वर का प्रतीक माना जाता था । वस्तुतः स्वयं के हित का त्याग करते हुए परार्थ की भावना के साथ परोपकार एवं स्वकर्तव्यों का सम्पादन यज्ञ के ही अंतर्गत आ जाते हैं ।

वैदिक यज्ञ श्रौत और गृह्य भेद से दो प्रकार के हैं इनके भी अनेक भेदोपभेदों का उल्लेख मिलता है ।आर्यों के सरस्वती एवं दृषद्वती नदियों के निकट निवास के साथ ही राजस्थान में जहाँ बाह्य संस्कृतियों का संस्पर्श एवं समागम हुआ वहीं वैदिक चिन्तन एवं प्रक्रियाओं का विस्तार भी हुआ । देवाराधन एवं यज्ञों को लेकर मंत्रोच्चारण और क्रमशः हवन, स्तुति आदि का भी जीवन में समावेश हुआ । राजस्थान के निवासियों का जीवन वेदों में प्रतिपादित आस्तिक विचारों और धार्मिक चेतना से प्रभावित होने लगा । यज्ञों का सम्पादन, इन्द्र , वरुण, सूर्य, ब्रह्मा और सोम की आराधना का सूत्रपात यहीं से शुरू हुआ । यज्ञों को सम्पत्ति एवं आजीविका का आधार, बुद्धि का प्रकाशक एवं प्रभुत्व प्रदायक मानकर महत्व दिया जाने लगा । मनुष्य और देवताओं के मध्य यज्ञ योजक कर्म था। देवताओं को प्रसन्न करने हेतु यज्ञ के माध्यम से हविष् समर्पित किया जाता था एवं सोमयज्ञ में सोमरस के अर्पण का विधान था। दैनिक

यज्ञों में अग्निहोता एवं पंचमहायज्ञ महत्वपूर्ण थे । सोमयज्ञ एक प्रकार से अश्वमेध यज्ञ ही था जिसे सार्वभौमिक राजा द्वारा संपन्न किया जाता था । इस यज्ञ में विशिष्ट प्रकार के अश्व अंगों की आहुति दी जाती थी । यह अश्व विभिन्न दिशाओं में घूमने के उपरान्त यजमान के निकट लौट आता था । अग्निष्टोम, वाजपेय, पुरुषमेध आदि यज्ञों का प्रचलन एवं मान्यता समाज में थी । ई.पू. द्वितीय - प्रथम शताब्दी के नगरी (चित्तौड़) से प्राप्त घोसुण्डी शिलालेख से विदित होता है कि गाजायन वंशीय राजा सर्वतात् ने अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन किया था । नगरी से ही प्राप्त एक अन्य शिलालेख में वाजपेय यज्ञ किए जाने का उल्लेख है । बैराट से प्राप्त यूपों पर जो ई. पू. तीसरी शताब्दी के हैं पर प्राप्त स्वस्तिक चिह्न यज्ञ के बोधक हैं यौधेय मुद्राओं पर अंकित यूप चिह्न भी राजस्थान में यज्ञ परम्परा के ही बोधक हैं ।

दृत संवत् 282 के नान्दसा यूप लेख में मालव गण के नेता या श्री (?) सोम द्वारा '' एक षष्टिरात्र सत्र '' (इसमें 61 दिन चलने वाले) सम्पादित करने का उल्लेख है । बड़वा (कोटा) से प्राप्त लेखों से त्रिरात्र यज्ञ के प्रचलन का बोध होता है । संवत् 428 के विजयगढ़ बयाना (भरतपुर) लेख से विदित होता है कि यशोवर्धन के सत्पुत्र श्री विष्णुवर्धन के द्वारा अपने यश, धर्म, कल्याण, समृद्धि, कीर्ति, परिवार, वंश, भाग्य तथा भोग की वृद्धि हेतु पुण्डरीक यज्ञ सम्पन्न किया था । मेवाड़ के बापारावल, क्षेत्रसिंह, महाराणा कुम्भा और राजसिंह आदि वैदिक यज्ञों का सम्पादन करते थे । आज भी राजस्थान के निवासी यज्ञों में अपना विश्वास रखते हैं फलस्वरूप विविध यज्ञों के आयोजन यत्र -तत्र होते रहते हैं ।

ज्ञमलूवतकेः यज्ञ, अभिलेख, अश्वमेध, त्रिरात्र ।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

गीता परिचय अभियान

(रजि. नं. COOP/2022/JAIPUR/204558/28-11-2023)

के तत्वाधान में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी

श्रीमद्भगवद्गीता के सम्पूर्ण अध्यायों का विवेचन

दिनांक 24,25,26 दिसम्बर 2023

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/श्रीमती/डॉ/प्रो. श्रीमती रेखा देवी शर्मा,

राम एस.जे. कॉलेज, भरतपुर (राजस्थान) ने

गीता परिचय अभियान के तत्वाधान में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में पत्रवाचक / सहभागी के रूप में भाग लिया।

इनके शोध पत्र का शीर्षक अवतारवाद है।

हम इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

संतोष गुप्ता
मुख्य आचार्य
गीता परिचय अभियान

बी.एल. अग्रवाल
आयोजन सचिव
गीता परिचय अभियान

महावीर बंसल
महामंत्री
गीता परिचय अभियान

INTERNATIONAL CONFERENCE

on

Environmental Protection and Social Governance

EPSG-2023

27-28 January, 2023

Organized by Government College, Dudu & Government Girls College, Dudu, Jaipur, Rajasthan, India

In collaboration with

Indian Society of Gandhian Studies, India | Swami Vivekanand Mahila Mahavidhyalaya, Roopangarh, Ajmer

CERTIFICATE

This is to certify that Prof./Dr./Mr./Ms. Rekha Devi Sharma from M.J.J. Govt. College, Bharatpur has participated in the international conference on "EPSG-2023" as ~~Chair~~/~~Co-Chair~~/~~Keynote Speaker~~/~~Paper Author~~/~~Co-Author~~/ Delegate and has Presented a Paper on topic अभिज्ञान शाकुन्तलम् में पर्यावरण चिन्तन

His/Her Participation is highly appreciated.

Patron / Principal	Patron	Organizing Secretary	Convener
Dr. Sitaram Choudhary	Dr. B.L. Devenda	Mrs. Lata Kumari Chhachhia	Dr. Anubhuti Tiwari
Govt. College, Dudu, Jaipur	Secretary	Govt. College, Dudu	Govt. College, Dudu
(General Secretary, ISGS)	S.V.M.M., Roopangarh, Ajmer	Jaipur	Jaipur